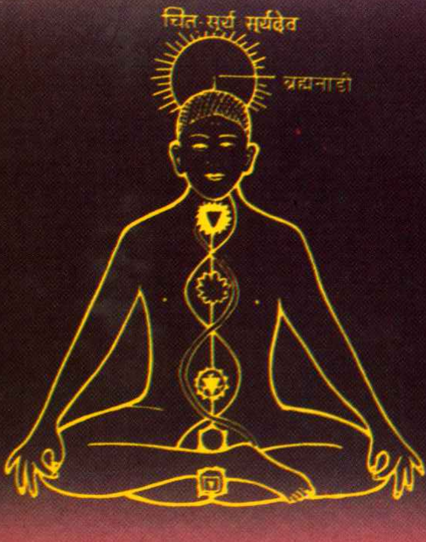
साम्बपञ्चाशिका

योगेश्वर श्रीकृष्णपुत्र श्रीसाम्ब विरचित
शैवाचार्य श्रीक्षेमराज रचित वृत्ति समेत
मूलपाठ, टिप्पणियां एवं हिन्दी व्याख्या



नीलकंठ गुरुटू

ग्रन्थ परिचय

साम्बपञ्चाशिका योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुग्रहपात्र पुत्र साम्बजी द्वारा विरचित अतीव अनुभूतिपरक और हृदय-स्पर्शी स्तोत्ररचना है। इसमें भगवान के आदेशानुसार, आत्मिक उद्धार की कामना से, पच्चास सुमधुर पद्यों में साम्बजी ने भगवान सूर्य देव (चित्-सूर्यदेव = स्वात्म महेश्वरदेव) की उपासना की है। भगवान् चित्-सूर्यदेव विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों रूपों में व्यापक परब्रह्म सत्ता की केवल अनुग्रहैकमूर्ति हैं। साम्बजी को अपने तन-मन में व्याप्त कलुषित वृत्तियों का शमन करने हेतु भगवान कृष्ण की आज्ञा से प्रायश्चित करना पड़ा। प्रस्तुत रचना उस प्रायश्चित की ही वैखरीमयी अभिव्यक्ति है। अतः इस स्तुतिरचना में चित् सूर्यदेव की पराभक्ति, श्रद्धा और उच्चकोटिक योगक्रम - तीनों के नीरक्षीरात्मक समन्वय की पावन त्रिवेणी के दर्शन होते हैं।

काश्मीरक शैवाचार्य क्षेमराज ने इस पर एक विस्तृत टीका लिखी जिससे इन पद्यों में अन्तर्हित काश्मीर शैवदर्शन और शैव-योग के अत्यन्त गहन तथ्य उजागर हुए।

प्राणचार और अपानचार दोनों का 'ग्रास' अर्थात् सारे प्राणियों के अन्तरतम में वर्तमान ब्रह्मनाड़ी में विश्रान्ति का अभ्यास करने वाले योगियों को अत्यन्त श्वेत वर्णवाली परमचित् - सूर्यदेव की मूर्ति का साक्षात्कार पराभक्ति के मार्ग पर चलते-चलते कैसे होता है, इसकी खोज के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ अवश्य पठनीय है।

काश्मीर शैवदर्शन और शैव-योग के साथ-साथ सभी शैव, शाक्त, वैष्णव व सभी सूर्योपासक समानरूप से इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे।

साम्बपञ्चाशिका

योगेश्वर वासुदेव श्रीकृष्णपुत्र श्रीसाम्ब विरचित,
महामाहेश्वर शैवाचार्य श्रीक्षेमराजविरचित वृत्तिसमेत और
संशोधित मूलपाठ, सम्पादन, टिप्पणियां एवं हिन्दी अनुवाद सहित

सम्पादक एवं व्याख्याकार
प्रो० नीलकंठ गुरुटू

परामर्श
पं० कन्हैयालाल स्वरूप

पेनमैन पब्लिशर्स
दिल्ली

ISBN : 81-85504-27-X

प्रथम संस्करण १९९९

मूल्य :

भारत में मुद्रित

प्रकाशक :
जवाहरलाल गुप्त
कृते पेनमैन पब्लिशर्स
७३०९/५ प्रेम नगर, शक्ति नगर, दिल्ली - ११०००७
अक्षर संयोजक :
श्रीजी कॉप्रिन्ट, १९/१३, शक्ति नगर, दिल्ली - ११०००७
मुद्रक :
सन्तोष आफसेट प्रेस, आनंद नगर, दिल्ली

SĀMBAPAÑCĀSHIKĀ OF SHRĪSĀMBA
By Gurtoo, N.K. (Prof.)

SĀMBAPAÑCĀŚIKĀ

OF

ŚRĪ SĀMBA, SON OF ŚRĪ KRIṢṆA

TEXT WITH SANSKRITA COMMENTARY OF
ŚAIVĀCĀRYA ŚRĪ KṢEMARĀJA
AND
REVISED TEXT, EDITED WITH NOTES AND
TRANSLATION IN HINDI

Editor & Vyākhyākāra
Prof. N.K. GURTOO

Advice
Pt. K.L. Swaroop

PENMAN PUBLISHERS
DELHI

ISBN : 81-85504-28-x

Edition 1999

Jacket designed by Lekhraj

PRINTED IN INDIA

Published by J. L. Gupta
for Penman Publishers
7309/5 Prem Nagar,
Shakti Nagar, Delhi-110007

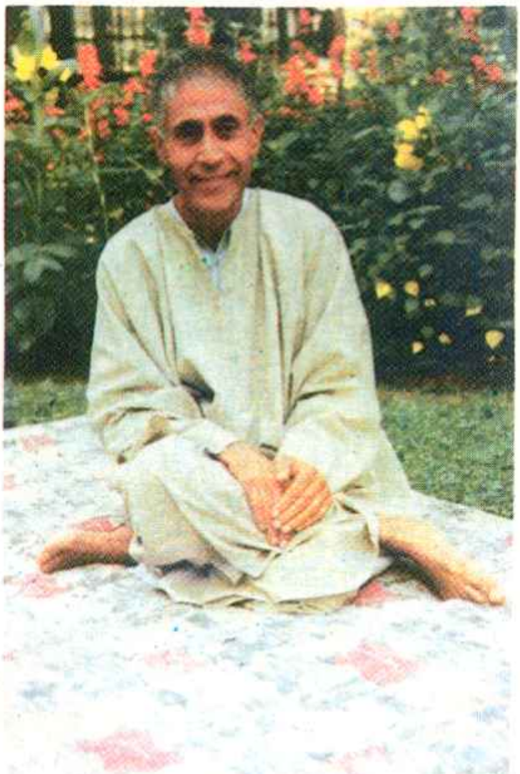
Lasertypesetting by
Shriji Comprint, 19/13, Shakti Nagar,
Delhi-110007

Printed at
Santosh Offset Press, Anand Nagar, Delhi.

SĀMBAPAÑCĀŚIKĀ
by Gurtoo, N.K.(Prof.)

Rs. 300/-

प्रस्तुत प्रयास
प्रातः स्मरणीय शिवलोकवासी सद्-गुरु
श्री ईश्वरस्वरूप (श्री लक्ष्मण जू) महाराज
की पवित्र स्मृति को समर्पित है।



श्री ईश्वरस्वरूप (श्री लक्ष्मण जू) महाराज

(
f
न
मे
प
कं
क
प्रा
ही
चि
ती

चि
सं
कि

पर
म
प्रा

पुरोवाक्

साम्बपञ्चाशिका भगवान वासुदेव के अनुग्रहपात्र आत्मज, जाम्बवती से उत्पन्न श्रीसाम्ब द्वारा विरचित अतीव अनुभूतिपरक एवं हृदयस्पर्शी स्तोत्ररचना है। इसमें उन्होंने, भगवान के ही आदेश का पालन करते हुए, आत्मिक उद्धार की कामना से, पच्चास मधुर पद्यों में भगवान सूर्यदेव (चित्-सूर्यदेव = स्वात्म महेश्वरदेव) की उपासना की है। भगवान चित्-सूर्यदेव विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों रूपों में व्यापक परब्रह्मसत्ता की केवल अनुग्रहैक मूर्ति है। उन्होंने यह उपासना भी स्वयं भगवान के ही आदेशानुसार मथुरा नगरी में उस समय के ख्याति प्राप्त 'षट्-सूर्य' नाम वाले तीर्थस्थान पर जाकर की हैं। प्राप्त पौराणिक सूचना के अनुसार तत्कालीन महान यदुवंश में मात्र साम्बजी ही ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं जिनपर पर्यन्ततः यथार्थ पारमेश्वर शक्तिपात की अमृतवर्षा हुई है। उस अत्यन्त स्पृहणीय अवस्था को प्राप्त करने से पहले अपने तन-मन में व्याप्त सारी कलुषित वृत्तियों का निःसंस्कार शमन करने के लिए उनको एक प्रकार से अपने पापों का प्रायश्चित करना पड़ा है। प्रस्तुत साम्बपञ्चाशिका उनके उस प्रायश्चित्त की ही वैखरीमयी अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि इस स्तुतिरचना में भगवान् चित्-देव (चित्-सूर्यदेव) की पराभक्ति, श्रद्धा और उच्चकोटिक योगक्रम इन तीनों के नीरक्षीरात्मक समन्वय की पावन त्रिवेणी के दर्शन होते हैं।

सारी रचना में कुल पद्यों की संख्या ५३ है। इनमें से ५० पद्यों में चित्-सूर्यदेव की उपासना की गई है और अन्तिम ३ पद्यों में रचनाकर ने संक्षेप में अपनी रचना का प्रयोजन और थोड़ा सा आत्मपरिचय प्रस्तुत किया है।

साम्बजी का चित्-सूर्यदेव वास्तव में सर्वातिशायिनी एवं सर्वव्यापक परब्रह्मसत्ता है। वह सत्ता प्रत्येक प्राणी की पाञ्चभौतिक काया के अन्दर मध्यनाड़ी में 'ओं' इस प्रकार के अविच्छिन्न एवं स्वयं उच्चरित रूप में प्रतिसमय 'शब्दायमान'-अर्थात् स्पन्दायमान रहती है। उस स्वयंसिद्ध स्पन्दना

की बहिर्मुखीन अनुगूँज ही परावाणी से लेकर वैखरीवाणी तक का शब्दब्रह्मगर्भित वाणीप्रपञ्च है। वही ब्रह्मसत्ता प्राणापन को समान बना कर उदानवह्निरूपी स्वरूप ज्योति में लय कर देती है। जिस प्रकार की योगप्रक्रिया, प्राणाभ्यास पद्धति एवं दिव्यकरणबन्ध जैसी शाम्भवी मुद्राओं, विभिन्न धारणाओं, अन्तः-बहिः द्वादशान्तों, ब्रह्मरन्ध्र, उन्मना-अवस्था और प्राणीय-संध्या युगल का विश्लेषणात्मक लेखा-जोखा नपेतुले पारिभाषिक शब्दों में प्रस्तुत किया है वह शैवागमों में वर्णित शैव योगक्रम के साथ मिलता-जुलता है। हालांकि यह कहना सरासर गलत है कि उनके समय में कोई भी योगप्रक्रिया 'शैव-योग' इस नाम से जानी जाती थी दूसरी ओर उन्होंने अपने विषय में शैव या वैष्णव होने का दावा कहीं पर भी प्रस्तुत नहीं किया है। ऐसी परिस्थिति में मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि उनमें ऐसी विशिष्ट योग-प्रक्रिया का उन्मेष कैसे हुआ था? इसको शान्त करने के परिप्रेक्ष्य में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि साक्षात् श्रीकृष्ण जैसे योगेश्वर गुरु की प्रेरणा और साम्बजी जैसे पात्र एवं संस्कारवान शिष्य के सद्भाव में कौन सी बात असम्भव हो सकती थी?

जहां तक कश्मीर के शैवक्षेत्रों का सम्बन्ध है इस कथन में कोई विमति नहीं कि वहां पर प्राचीन काल से ही सूर्य आराधना के साथ सम्बन्धित स्तोत्रों में से साम्बपञ्चाशिका स्तोत्र को ही विशेष महत्त्व की दृष्टि से देखा जाता रहा है। वहां के शैवक्षेत्रों से सम्बन्धित भक्तजन (पुरुष एवं महिलायें दोनों) नियमित रूप से इसके पद्यों का सस्वर पाठ प्रतिदिन प्रातःकाल करते आ रहे हैं और आज तक भी यह परम्परा अक्षुण्ण रुप में चल रही है। शैवाचार्य श्रीक्षेमराज के द्वारा ११वीं शती में इस स्तोत्र का चयन इस पर टीका लिखने के अभिप्राय से करना ही, कश्मीर में इसके विशेष महत्त्व को प्रमाणित करता है। आचार्यजी ने जहां कश्मीर के एक अतिप्राचीन आचार्य भट्टनारायण के स्तोत्रग्रन्थ स्तवचिन्तामणि और अपने परमेष्ठिगुरु प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञाकार उत्पलदेव की कृति शिवस्तोत्रावली पर वृत्तियां लिखी वहीं पर साम्बपञ्चाशिका पर भी वृत्ति लिखना इस तथ्य का संकेत देता है कि प्राचीनकाल से काश्मीर में इस स्तोत्र को उल्लिखित दो आचार्यों के द्वारा रचित स्तोत्रग्रन्थों के समकक्ष माना जाता था।

संक्षेप में, प्राणचार और अपानचार दोनों का 'ग्रास' अर्थात् सारे प्राणियों के अन्तरतम में वर्तमान ब्रह्मनाड़ी में विक्रान्ति का अभ्यास करने वाले योगियों को अत्यन्त श्वेत वर्णवाली परमचित्-सूर्यदेव की मूर्ति का साक्षात्कार पराभक्ति के मार्ग पर चलते-चलते कैसे होता है इसकी खोज के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ अवश्य पठनीय है।

यह ग्रन्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के योगतन्त्र विभाग के पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में भी निर्धारित है।

परम-श्रद्धेय, साक्षात् ईश्वरस्वरूप एवं करुणा के पारावार सद्गुरुओं की अनुकम्पा को कोटिशः प्रणाम हो जिनके प्रसादसंबल के बल से यह कृति सम्पूर्ण हो सकी है।

उन सारे हितैषियों को हार्दिक धन्यवाद प्रस्तुत किया जा रहा है जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कार्य में सहयोग दिया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशक श्री जवाहरलाल गुप्त, पेनमैन पब्लिशर्स, दिल्ली का आभार भी सहर्ष स्वीकार किया जा रहा है जिन्होंने इतर कार्यभार होने पर भी इस कृति को प्रकाशित करके भक्तजनों का परम उपकार किया है।

किं तन्नामोच्चरति वचनं यस्य नोच्चारकस्त्वं
किं तद्वाच्यं सकलवचसां विश्वमूर्ते यत्त्वम्।
तस्मादुक्तं यदपि तदपि त्वन्नुतौ भक्तियोगा-
दस्माभिस्तद्भवतु भगवत्प्रसादेन धन्यम्॥

नीलकंठ गुरूटू

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

योनाद्यन्तोऽप्यतनुरगुणोऽणोरणीयान्महीयान्
विश्वाकारः सगुण इति वा कल्पनाकल्पिताङ्गः।
नानाभूतप्रकृतिविकृतिर्दर्शयन्भाति यो वा
तस्मै तस्मै भवतु परमादित्य नित्यं नमस्ते॥

साम्बपञ्चाशिका

साम्बपञ्चाशिका भगवान वासुदेव के अनुग्रहपात्र आत्मज साम्बजी के द्वारा विरचित अतीव अनुभूतिपरक एवं हृदयस्पर्शी स्तोत्ररचना है। इसमें उन्होंने, भगवान के ही आदेश का पालन करते हुए, आत्मिक उद्धार की कामना से, पच्चास मधुर पद्यों में भगवान सूर्यदेव (चित्-सूर्यदेव-स्वात्म महेश्वरदेव) की उपासना की है। भगवान चित्-सूर्यदेव अर्थात् विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों रूपों में व्यापक परब्रह्मसत्ता जो केवल अनुग्रहैकमूर्ति हैं। उन्होंने यह उपासना भी स्वयं दयानिधान आनन्दकन्द भगवान के ही आदेशानुसार परमपावन एवं पापहारिणी मथुरानगरी में जाकर उस समय के ख्यापतिप्राप्त षट्-सूर्य नामवाले तीर्थस्थान पर जाकर की है। लीलापुरुष वासुदेव का प्रियपुत्र होने और तात्कालीन परमैश्वर्यसम्पन्न यदुवंशी राजकुमार होने पर भी किन कारणों से उनको यह उपासना करने का आदेश दिया गया था इसका ब्यौरा आगे उनके जीवनवृत्त में सविस्तार प्रस्तुत किया जा रहा है। यहां पर केवल निम्नलिखित एक दो बातों का संङ्केत देना ही पर्याप्त है—

प्राप्त पौराणिक सूचना के अनुसार तात्कालीन महान यदुवंश में मात्र साम्बजी ही ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं जिन पर पर्यन्ततः यथार्थ पारमेश्वर शक्तिपात की अमृतवर्षा हुई है। उस अत्यन्त स्पृहणीय अवस्था को प्राप्त

करने से पहले अपने तन-मन में व्याप्त सारी कलुषित वृत्तियों का निसंस्कार शमन करने के लिए उनको एक प्रकार से अपने पांपों का प्रायश्चित करना पड़ा है। प्रस्तुत साम्बपञ्चाशिका उनके उस प्रायश्चित की ही वैखरीमयी अभिव्यक्ति है यही कारण है कि इस स्तुतिरचना में भगवान चित्-देव (चित्-सूर्यदेव) की पराभक्ति, श्रद्धा और उच्चकोटिक योगक्रम इन तीनों के नीरक्षीरात्मक समन्वय की पावन त्रिवेणी के दर्शन होते हैं।

शैवमान्यता के अनुसार परमेश्वर की निजी शक्तिरूपिणी महामाया भगवती इतनी प्रबल है कि वह ३६वें शिवतत्त्व पर भी अपना प्रभाव जमाये बैठी है। ऐसी परिस्थिति में यदि साम्बजी के जीवन का पूर्वभाग भी उसके विषम प्रभाव से अछूता न रह सका हो तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं मानी जा सकती, क्योंकि कारणों के अनुगुण कार्यों की उत्पत्ति होना ही स्वाभाविक विधान है। यद्यपि उनको मातृपक्ष से भक्ति एवं श्रद्धा और पितृपक्ष से उच्चकोटिक योगक्रम के संस्कार उत्तराधिकार में मिले थे, तो भी वे, उनके प्रौढ युवा होने तक, तिरोधानात्मिका शक्ति के आवरण के नीचे दबे ही पडे रहे। भगवान श्रीकृष्ण का आत्मज होने पर भी निर्भीक पुराणकारों ने स्पष्ट शब्दों में यह लिखा है कि सदाचारिता की दृष्टि से उनके जीवन का पूर्वभाग निकृष्ट विषयासक्ति की कालिमा से कलङ्कित ही रहा है। साम्बजी ने स्वयं भी अपनी इस यौवनसुलभ चंचलता का सङ्केत अपने एक पद्य में स्पष्ट रूप में दिया है—

'सत्यासत्यस्खलित वचसां शौचलज्जोज्झिताना–
मज्ञानानामफलसफलप्रार्थनाकातराणाम्।
सर्वावस्थास्वखिलविषयाभ्यस्तकौतूहलानां
त्वं नस्त्राता भव पितृतया भोगलोलार्भकाणाम्' ॥

(सां० पं० पद्याङ्क ३९)

स्पष्ट ही उन्होंने अपनी उस अवस्था को विषयोपभोग की चंचलता के दलदल में धंसी हुई बचकानी अवस्था का नाम दिया है।

तात्कालीन सभ्य जनसमाज ही नहीं प्रत्युत नारदादि भक्तवरों और अन्य देवशक्तियों से भी उनकी वह पतनोन्मुखी आत्मिक अवस्था देखी न जा सकी। उन सबों की समवेत प्रेरणा से प्रेरित होकर मुनिवर नारद ने

भगवान के सामने उनके मानसपटल पर छाई हुई मोहमयी अख्याति के कुत्सित रूप को हठात् अनावृत कर डाला। शान्त पारमेश्वर स्वभाव में प्रबल क्षोभ उत्पन्न हुआ और भयंकर अभिशाप की वाणी सहसा मुखरित हो उठी। निमिषमात्र में साम्बजी का, अप्सराओं को भी लुभाने के प्रति सशक्त, सौन्दर्य से परिपूर्ण शरीर, ऊपर से नीचे तक, रक्तस्रावी कुष्ठ रोग से और घृणित पूतिगन्ध से विकृत मांस का लोथड़ा जैसा बन गया। भगवान के ही आदेशानुसार मात्र चित्-सूर्य देव की असाधारण आराधना, उनके शापमोचन और आत्मिक-उद्धार के उपाय के रूप में निश्चित की गई। उसी आराधना के शाब्दिक रूप का नाम साम्बपञ्चाशिका है।

सारी रचना में कुल पद्यों की संख्या ५३ है। इनमें से ५० पदों में चित्-सूर्यदेव की उपासना की गई है और अन्तिम ३ पद्यों में रचनाकार ने संक्षेप में अपनी रचना का प्रयोजन और थोड़ा सा आत्मपरिचय प्रस्तुत किया है। सारे पदों में से पहले मङ्गलपद्य की रचना शार्दूलविक्रीडित छन्द में, पद्याङ्क २ से पद्याङ्क ५२ तक मन्दाक्रान्ता छन्द में और अन्तिम ५३वें पद्य की रचना मालिनी छन्द में की गई है। सारी रचना में आदि से अन्त तक छन्दानुकूल ललित एवं माधुर्यपूर्ण शब्दों की मन्थरगति, भक्तिरस की मन्दाकिनी की प्रवहमाणता, गहरी आत्मसंवेदना, हृदयस्पर्शी भावों की अभिव्यञ्जना के लिए सक्षम मन्दाक्रान्ता जैसे छन्द के अनुकूल कोमल पदावली का स्वाभाविक उच्छलन और तदनुकूल भाव की अभिव्यञ्जना पाठक के हृदय को द्रवित करने वाली बन गई है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत किया जा रहा है—

'मन्दाक्रान्ते तमसि भवता नाथ दोषावसाने
नान्तर्लीना मम मतिरियं गाढनिद्रां जहाति।
तस्यादस्तङ्गमिततमसा पद्मिनीवात्मभासा
सौरीत्येषा दिनकर परं नीयतामाशु बोधम्॥'

(सां० पं० पद्य ३६)

इस बात के साथ किसी को कोई विमति नहीं कि साम्बजी ने इस स्तोत्र की रचना अपने को साहित्यिक पद्धतियों का अनुसरण करने वाले कवियों के साथ श्रेणीबद्ध करने के अभिप्राय से नहीं की है। अतः यद्यपि

उन्होंने किसी भी स्थान पर अपनी नैसर्गिक वाणी में जोर-जबर्दस्ती शब्दालङ्कारों या अर्थालङ्कारों को ठूँसने का प्रयत्न नहीं किया है तो भी सारे पद्यों में उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अनुप्रास आदि प्रसिद्ध अलङ्कारों का नैसर्गिक समावेश हो गया है जिससे उनमें काव्यसौन्दर्य की अनायाससिद्ध अभिवृद्धि हो गई है।

साम्बजी की उपासना-पद्धति

भगवान वासुदेव ने मूलतः साम्बजी को शापमुक्ति के लिए पूर्वांचल में जाकर उदीयमानं सूर्यदेव की आराधना करने का आदेश दिया था, परन्तु बाद में उनकी शापोपरान्त कायिक अवस्था को दृष्टिपथ में रखकर पूर्वांचल जैसे दुगम स्थान के बदले वैसी ही पवित्र एवं पापहारिणी मथुरानगरी में जाकर इस कार्य को पूरा करने का निर्देश दिया। साम्बजी ने भगवान के आदेश का अक्षरशः पालन करते हुए प्रातः सूर्योदय के समय चित्-सूर्यदेव के वाचक अव्यक्त प्रणव के आन्तरिक उन्मेष को वास्तविक उदीयमानं सूर्यमण्डल के रूप में प्रस्तुत करके, निम्नलिखित मङ्गलपद्य से अपनी स्तुति का श्रीगणेश किया है—

'शब्दार्थत्वविवर्तमान पर परमज्योतीरुचो गोपते–
रुद्गीथोऽभ्युदितः पुरोऽरुणतया यस्य त्रयीमण्डलम्।
भास्वद्वर्शापंदक्रमेरिततमः सप्त स्वराश्वैर्विय–
द्विद्यास्यन्दनमुन्नयन्निव नमस्तस्मैं परब्रह्मणे॥'

(सां० पं० पद्य १)

साम्बजी का चित्-सूर्यदेव वास्तव में सर्वातिशायिनी एवं सर्वव्यापक परब्रह्मसत्ता है। वह सत्ता प्रत्येक प्राणी की पाञ्चभौतिक काया के अन्दर मध्यनाडी में 'ओं' इस प्रकार के अविच्छिन्न एवं स्वयं उच्चरित रूप में प्रतिसमय 'शब्दायमान'– अर्थात् स्पन्दायमान रहती है। उस स्वयंसिद्ध स्पन्दना की बहिर्मुखीन अनुगूँज ही परावाणी से लेकर वैखरीवाणी तक का शब्दब्रह्मगर्भित वाणी प्रपञ्च है। वही ब्रह्मसत्ता प्राणापान को समान बना कर उदानवह्निरूपी स्वरूप ज्योति में लय कर देती है—

'ओमित्यन्तर्नदति नियतं यः प्रतिप्राणि शब्दो
वाणी यस्मात्प्रसरति परा शब्दतन्मात्रगर्भा।

प्रारनापानौ वहति च समौ यो मिथो ग्राससक्तौ
देहस्थं तं सपदि परमादित्यमाद्यं प्रपद्ये ॥'

(सां० पं० पद्य २, स्मरण रहे इस पद्य में 'शब्दः' शब्द से परविमर्शमयी सूक्ष्म स्पन्दना और 'शब्द तन्मात्र' से समूचे शब्दब्रह्म की मौलिक विभाग वर्जित महाप्रणवमयी अवस्था का अभिप्राय है।)

महाप्रणव के ऊपर वर्तमान बिन्दु, जो कि समूचे विश्वप्रपञ्च की मूलभूत संवेदनमयी अवस्था को द्योतित करता है और जिसको शैवशास्त्रों में परमोच्च 'विन्दु-कला– असीम पारमेश्वर बोध की कला' कहा जाता है, वास्तविक चित्-सूर्यदेव का सर्वव्यापी मण्डल है। सिद्ध योगेश्वर प्राणाभ्यास की प्रक्रिया से उसी सूर्यमण्डल का अवभेदन करके शाश्वतिक निर्वाण की भूमिका में प्रवेश पाते हैं– तात्पर्य यह कि परमोत्कृष्ट प्रकाशमण्डल के साथ एकाकार हो जाते हैं। अखण्ड बोध होने के कारण वही मण्डल वेदत्रयी का मूलाधार है। वही मण्डल आन्तरिक चिद्-भूमिका पर केवल योगेश्वरों के द्वारा आध्यात्मिक अनुभूति से गम्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में और बाहरी स्थूल विश्वभूमिका पर महत्तम रूप में युगपत् ही रममाण है—

'यत्रारूढं त्रिगुणवपुषि ब्रह्म तद्बिन्दुरूपं
योगीन्द्राणां यदपि परमं भाति निर्वाणमार्गः।
त्रय्याधारः प्रणव इति यन्मण्डलं चण्डरश्मे–
रन्तः सूक्ष्मं बहिरपि बृहन्मुक्तयेऽहं प्रपन्नः ॥'

(सां० पं० पद्य ७)

इसी प्रकार के क्रम का अनुसरण करते करते उन्होंने चित्-शक्ति के विभिन्न रहस्यों और विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय रूपविस्तारों की मार्मिक अभिव्यञ्जना प्रस्तुत की है।

यहां पर विशेषकर इस तथ्य का उद्घाटन करना आवश्यक है कि उन्होंने पद्याङ्क ८, १०, १४, १९, २२, २१, ३५ इत्यादि में जिस प्रकार की योग प्रक्रिया, प्राणाभ्यास पद्धति एवं दिव्यकरण बन्ध जैसी शाम्भव मुद्राओं, विभिन्न धारणाओं, अन्तः बहिः द्वादशान्तों, ब्रह्मरन्ध्र, उन्मना-अवस्था और प्राणीय-संध्यायुगल का विश्लेषणात्मक लेखा-जोखा नपेतुले पारिमाषिक शब्दों में प्रस्तुत किया है वह शैवागमों में वर्णित शैव योगक्रम के साथ

मिलता-जुलता है। हालांकि यह कहना सरासर गलत है कि उनके समय में कोई भी योगप्रक्रिया 'शैव-योग' इस नाम से जानी जाती थी। दूसरी ओर उन्होंने अपने विषय में शैव या वैष्णव होने का दावा कंही पर भी प्रस्तुत नहीं किया है। ऐसी परिस्थिति में मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि उनमें ऐसी विशिष्ट योग-प्रक्रिया का उन्मेष कैसे हुआ था? इसको शान्त करने के परिप्रेक्ष्य में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि साक्षात् श्रीकृष्ण जैसे योगेश्वर गुरु की प्रेरणा और साम्बजी जैसे पात्र एवं संस्कारवान शिष्य के सद्भाव में कौन सी बात असम्भव हो सकती थी?

उन्होंने आत्मिक अधोगति का मूल कारण बनी हुई अपनी यौवनसुलभ मानसिक चंचलता को छिपाने का प्रयत्न भी नहीं किया है, प्रत्युत स्पष्ट शब्दों में उसका उल्लेख करके अपने आराध्यदेव से क्षमायाचना की है—

'सत्यासत्यस्खलितवचसां शौचलज्जोज्झिताना-
मज्ञानानामफलसफलप्रार्थनाकातराणाम् ।
सर्वावस्थास्वखिलविषयाभ्यस्तकौतूहलानां
त्वं नस्त्राता भव पितृतया भोगलोलार्भकाणाम् ॥'

(सां० पं० पद्य ३९)

भगवान् चित्-सूर्यदेव के साथ सम्बन्धित आध्यात्मिक पक्ष को उभारने के साथ-साथ वे बाहरी स्थूल सूर्यदेव के साथ सम्बन्धित लोकोपकारक पक्ष को भी उभारना भूल नहीं गये हैं। बाहरी स्थूल सूर्यदेव ही प्रत्येक प्राणी को नीरोगता प्रदान करता है, धान्य, सस्यों, फलों एवं औषधियों को परिपक्व बना देता है, ग्रीष्मकाल में समूची जगती से रस का आहरण करके वर्षाकाल में उसी का शान्तिदायिनी वृष्टि के रूप में विसर्जन कर देता है अथवा प्रत्येक जड़-चेतन भूत समुदाय के लिए अपेक्षित प्रकाश एवं ऊष्मा प्रदान कर देता है— इन बातों का भी उन्होंने मधुर काव्यमय प्रस्तुतीकरण किया है। उदाहरणार्थ नीरोगता प्रदान करने के संदर्भ में उन्होंने कहा है—

'ये चारोग्यं दिशति भगवान्सेवितोऽप्येवमाहु
स्ते तत्त्वज्ञा जगति सुभगा भोग-योग-प्रधानाः ।

भुक्तेर्मुक्तेरपि च जगतां यच्च पूर्णं सुखानां
तस्यान्योर्कादमृतवपुषः को हि नामास्तु दाता॥'

(सां० पं० पद्य ४६)

कोई भी व्यक्ति भुक्ति मार्ग या मुक्तिमार्ग पर ही चलनेवाला क्यों न हो दोनों के लिए कायिक एवं मानसिक नीरोगता मौलिक आवश्यकता है। नीरोगता ही पूर्ण सुख मानी जाती है और भगवान सूर्यदेव के अतिरिक्त इस अनतिक्रमणीय आवश्यकता को पूरा करने वाली और कोई शक्ति नहीं है इत्यादि।

किसी भी साधारण या साधक मानव के आत्मिक-अभ्युत्थान के मार्ग में इन्द्रिय वर्ग में स्वाभाविक रूप में निहित रहने वाली शब्दादि विषयों का उपभोग करने की चंचलता निरन्तर बाधा खड़ी कर देती है। इसको दूर करना मानव के निजी पुरुषकार के बस की बात नहीं क्योंकि किसी भी पदार्थ के स्वभाव का अन्यथाकरण लोकभूमिका पर किसी भी उपाय से सम्भव नहीं हो सकता है। इन्द्रियप्रवृत्तियों का हठपूर्वक निरोध करने से बदले में अधिक क्षति होने की सम्भावना रहती है। इस सन्दर्भ में साम्बजी ने यथार्थवादिता से काम लिया है। उन्होंने अपने आराध्य से ही किसी ऐसे अदृश्य प्रसाद की याचना की है, जिससे इन्द्रियों में पाई जाने वाली गुरु चपलता का उपशम स्वयं ही हो जाये--

'हित्वा हित्वा गुरुचपलतामप्यनेकान्निजार्था-
न्यैरेकार्थीकृतमिव भवत्सेवनं मत्प्रियार्थम्।
तेषामिच्छाम्युपकृतिमहं स्वेन्द्रियाणां प्रियाणा-
मादौ तस्मान्मम दिनपते देहि तेभ्यः प्रसादम्॥'

(सां० पं० पद्य ४७)

साम्बजी साधना के मार्ग पर केवल अपने आत्मोद्धार के स्वार्थ को लेकर अग्रसर नहीं हुए हैं। यदि साधक स्वयं बन्धनमुक्त होने पर संसार का भी कल्याण करने की कामना न रखता हो तो वह साधक नहीं स्वार्थी है। इसी कारण से साम्बजी ने अपने इष्ट से यह प्रार्थना पहले ही करके रखी थी कि– हे भगवान् ! आपके अनुग्रह से मेरा आवागमन छूट तो

जायेगा परन्तु मैं आपसे एक और जन्म की याचना कर रहा हूँ ताकि मैं शेष संसार का भी उपकार कर सकूँ —

'सत्यं भूयो जननमरणे त्वत्प्रपन्नेषु न स्त-
स्तत्राप्येकं तव नुतिफलं जन्म याचे तदित्थम्।
त्रैलोक्येशः शम इव परः पुण्यकायोऽप्ययोनिः
संसाराब्धौ प्लव इव जगत्तारणाय स्थिरः स्याम्॥'

(सां० पं० पद्य ३४)

एक बात और साम्बजी ने अपने मधुर मधुर पद्यों को, अनुभूतिपरक एवं रहस्यगर्भित होने पर भी, उलटबासियों की तरह दुरूह नहीं बनने दिया है। उनकी इस लघु काव्यरचना में यह शैलीगत विशेषता पाई जाती है कि जहां अध्यात्मसम्बन्धी रहस्यों का विश्लेषण सरल एवं सरस काव्यरूप में प्रस्तुत किया गया है वहीं पर उनको बाजार में सस्ते दामों बिकाऊ सौदा भी नहीं बनने दिया है। प्रसिद्ध शैवदार्शनिक अभिनवगुप्ताचार्य भी अपने समय में आध्यात्मिक रहस्यों का विश्लेषण करते समय ऐसी ही शैली को अपनाये जाने के पक्ष में रहे हैं। उन्होंने तन्त्रसार में स्वयं इस प्रकार लिखा है :—

"न अतिरहस्यम् एकत्र ख्याप्यं, न सर्वथा गोप्यम्।"

(तं० सा० आ० ४)

यही कारण है कि साम्बजी ने अपनी विशिष्ट काव्यशैली को 'प्रकटगहन' यह नाम दिया है:—

'भक्तिश्रद्धाद्यखिलतरुणी वल्लभेनेदमुक्तं
श्रीसाम्बेन प्रकटगहनं स्तोत्रमध्यात्मगर्भम्॥'

(सां० पं० पद्य ५२)

कश्मीर में सूर्यपूजा की परम्परा

साधारणतया सूर्यदेव की आराधना की परम्परा केवल कश्मीर में ही नहीं प्रत्युत सारे भारतवर्ष में प्राचीन वैदिक-काल से ही अक्षुण्ण रूप में चलती आ रही है। विश्व की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद में अर्यमा, धाता, विवस्वान, पूषा इत्यादि वैदिक देवताओं के साथ आदित्य की भी उपासना

की गई है। आदित्य अर्थात् महर्षि कश्यप एवं उनकी धर्मपत्नी देवमाता अदिति के पुत्र भगवान सूर्यदेव। अदिति ने जन्मते ही इस पुत्र को आकाश में स्थापित किया था सूर्य के रूप में। उपनिषद्-काल में भी सूर्यपूजा का विशिष्ट महत्त्व रहा। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार वेदत्रयी का जीवनाधायक सार-सर्वस्व 'उद्गीथ' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट प्रणव है और वही भगवान सूर्यदेव का वास्तविक प्रकाशमय मण्डल है।

महाभारत-काल से तो सौर-आराधना की परम्परा ने एक विशिष्ट महत्त्व का स्थान प्राप्त कर लिया और सूर्यदेव एक स्वतन्त्र एवं प्रतिष्ठित देवता के रूप में पूजे जाने लगे। पुरातत्त्व सम्बन्धी साक्ष्यों से यह प्रमाणित हो चुका है कि ईसा की पहली शताब्दी से लेकर लगभग बारहवीं शताब्दी तक भारत देश में सूर्यपूजा की परम्परा का देशव्यापी बोल-बाला रहा। ग्यारहवीं शताब्दी में निर्मित कोणार्क मन्दिर का भग्नावशेष आज भी इस बात की साक्षी दे रहा है। सम्राट हर्षवर्धन का समय तो इस परम्परा का चरमोत्कर्ष ही माना जाता है। तात्कालीन संस्कृत गद्यलेखक बाणभट्ट की प्रसिद्ध गद्य-कृति हर्षचरित में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि सम्राट हर्षवर्धन के पिताश्री भगवान् सूर्यदेव के अनन्य भक्त थे और वे प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान सन्ध्या आदि नित्यकर्म करने के उपरान्त भक्तिपूर्वक आदित्यहृदय का पाठ नियमित रूप से करते थे।

बारहवीं शताब्दी के उपरान्त यद्यपि सूर्य-उपासना के प्रचलन में धीरे-धीरे ह्रास के लक्षण स्पष्ट होने लगे परन्तु ऐसी भी परिस्थिति सामने नहीं आई कि वह भारत-वसुन्धरा से एकदम लुप्त ही हो गई। देश के कई भागों में आजकल भी इसकी परम्परा उसी प्राचीन विश्वास एवं श्रद्धा के साथ अक्षुण्ण रूप में चल रही है।

बारहवीं शताब्दी कश्मीर के ख्यातिप्राप्त संस्कृत इतिहासकार कल्हण-पंडित की राजतरङ्गिणी के अध्ययन से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है कि देश के अन्य भागों की तरह यहां भी अति प्राचीनकाल से ही सूर्यपूजा का विधान भी साथ साथ चलता आ रहा था। कश्मीर में जहां मुख्य शैवधर्म के साथ साथ दूसरे वैष्णव धर्म, बौद्ध धर्म इत्यादि अथवा विभिन्न प्रकार के आचार भी पनप रहे थे वहां सूर्यपूजा की परम्परा भी स्वतन्त्र रूप में प्रचलित थी।

कल्हण-पंडित के कथनानुसार कश्मीर के एक ई० पू० काल के शासक राणादित्य, जिसको तुञ्जीन तृतीय भी कहते थे और जो लौकिक संवत् ४३९९ में वहां का शासक बना, ने किसी तात्कालीन 'सिंहरोत्सिका' नामक ग्राम में एक अति गौरवशाली सूर्यमन्दिर का निर्माण किया था:—

"ख्यातिं रणपुरस्वामिसंज्ञया सर्वतोगतम्।
स सिंहरोत्सिकाग्रामे मार्ताण्डं प्रत्यपादयत्"

(रा० त० क० ३, ४६२)

उस मार्ताण्ड मन्दिर का नाम रणपुरस्वामी रखा गया था। उस सुदूर पूर्वकाल में आधुनिक कश्मीर का कौन सा भाग सिंहरोत्सिका ग्राम कहलाता था और वह मन्दिर कहां बनाया गया था? दुर्भाग्यवश इस परिप्रेक्ष्य में अभी तक कोई निश्चित पुरातत्त्वसम्बन्धी प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है।

कल्हण—पंडित ने इसके उपरान्त दूसरे स्थान पर कश्मीर के एक और ई० पू० काल के प्रसिद्ध शासक ललितादित्य मुक्तापीड का उल्लेख किया है। तदनुसार ललितादित्य ३७७६ लौकिक संवत् में कश्मीर का शासक बना। उसने प्राचीन कश्मीर की बहुत ही वास्तुकलात्मक इमारतों के अतिरिक्त प्रसिद्ध मार्ताण्ड-वुड़ार (आधुनिक मटनग्राम का प्रसिद्ध करेवा) पर एक भव्य एवं विशाल सूर्य मन्दिर का निर्माण किया :—

"सोऽखण्डिताश्मप्राकारं प्रासादान्तर्व्यधत्त च।
मार्ताण्डस्याद्भुतं दाता द्राक्षास्फीतञ्च पत्तनम्॥'

(रा० त० क० ४, १९२)

इस आश्चर्यकारी मन्दिर ने न जाने कितने ऐतिहासिक एंव राजनैतिक आघात देखे और सहे परन्तु सौभाग्यवश इसका गरिमाशाली भग्नावशेष आज भी स्वाभिमान की मुद्रा में अपना मस्तक ऊँचा करके देश के विभिन्न भागों से ही नहीं, प्रत्युत विदेशों से भी आने वाले हजारों पर्यटकों के सामने अपनी अतीत गौरवगाथा को नीरव भाषा में प्रस्तुत कर देता है।

यों तो कश्मीर के समूचे मटनग्राम को ही शताब्दियों से पवित्र एवं विशिष्ट सूर्यतीर्थ कहे जाने का सौभाग्य प्राप्त है। वहां पर वर्तमान महान सूर्यकुण्ड प्राचीनकाल से ही देश के सुदूरवर्ती स्थानों से आने वाले लाखों तीर्थयात्रियों को अपनी ओर आकर्षित करता आ रहा है। कश्मीर के

मार्तण्ड-माहात्म्य में वर्णित पौराणिक गाथा इस कुण्ड का सम्बन्ध उस पवित्र तीर्थस्थल के साथ स्थापित करती है जहां महर्षि कश्यप की स्त्री अदिति ने अपने पुत्र मार्तण्ड (सूर्य देव) को जन्म दिया था। सन १९८९ तक, जबसे कश्मीर की ऋषिभूमि पर पाकिस्तानी आतंकवाद ने अपनी सर्वनाशक्रीडा का पैशाचिक नृत्य आरम्भ किया, देश के सारे भागों से प्रतिवर्ष, विशेषकर अधिमासों में, लाखों लोग यहां आकर पितरों का पिण्डदान करके उनका उद्धार करते रहे। मार्तण्ड-तीर्थ कश्मीर के अनन्तनाग कस्बे से केवल पांच किलोमीटर की दूरी पर, पहलगाम जाने वाले मार्ग पर अवस्थित है। अतः प्रतिवर्ष अमरनाथ की यात्रा करने वाले हजारों तीर्थयात्री भी लौटते समय इस पवित्र तीर्थ पर सूर्यदेव की अर्चना, स्नान, पिण्डदान इत्यादि करके अपना जन्म सफल करते थे।

इसके अतिरिक्त कुछ ही समय पूर्व तक कश्मीर में एक और सूर्यक्षेत्र अपनी महिमा के लिए प्रसिद्ध था। इसको कश्मीरी भाषा में 'क्वल खेत्र्' शायद (कुरुक्षेत्र का कश्मीरी रूपान्तर) कहते थे। यह तीर्थस्थल श्रीनगर से केवल १० किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में, जम्मू-कश्मीर राजमार्ग पर अवस्थित 'पांतह् छोख' नामक ग्राम के जरा बाई ओर ज्येवन (१२वीं शती कश्मीर के संस्कृत कवि बिल्हण के जयवन) ग्राम के निकट ही था। मार्तण्ड-क्षेत्र की तुलना में इसका महत्त्व परिमित ही समझा जाता था। सूर्यग्रहण के अवसरों पर, कारणवश, मटन न जा सकने वाले श्रद्धालु जन यहीं पर आकर सूर्यदेव का अर्चन, स्नान एवं पितरों का पिण्डदान इत्यादि करते थे। सन् १९४६ के पश्चात् धीरे-धीरे इस तीर्थ पर लोगों का तीर्थयात्रा के अभिप्राय से आना-जाना कम होता गया क्योंकि यह इलाका आजकल भारतीय सेना के अधिकार में है।

कश्मीर में साम्बपञ्चाशिका का विशिष्ट महत्त्व

पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना आवश्यक है कि संस्कृत में साम्बपञ्चाशिका के अतिरिक्त एक और सूर्यशतक भी अत्यन्त जनप्रिय रचना के रूप में मौजूद है। इसकी रचना संस्कृत के प्रसिद्ध गद्यलेखक बाणभट्ट के समसामयिक एवं किम्वदन्ती के अनुसार सम्बन्धी

मयूरकवि ने की है। मयूरकवि को भी एक स्वयंकृत दोष के फलस्वरूप कुष्ठरोग का भागी बनना पड़ा था और उसी भयावह रोग से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने सौ श्लोकों में भगवान सूर्य की आराधना की जिसका नाम सूर्यशतक या मयूर शतक पड़ गया। भारतीय सूर्य उपासना की दृष्टि एवं साहित्यिक दृष्टि से भी यह एक अतीव जनप्रिय और महत्त्वपूर्ण रचना है।

जहां पर कश्मीर के शैवक्षेत्रों का सम्बन्ध है इस कथन में कोई विमति नहीं कि वहां पर "प्राचीन काल से ही सूर्य आराधना के साथ सम्बन्धित स्तोत्रों में से साम्बपञ्चाशिका स्तोत्र को ही विशेष महत्त्व की दृष्टि से देखा जाता रहा है। वहां के शैवक्षेत्रों से सम्बन्धित भक्तजन (पुरुष एवं महिलायें दोनों) नियमित रूप से इसके पद्यों का सस्वर पाठ प्रतिदिन प्रातःकाल करते आ रहे हैं और आज तक भी यह परम्परा अक्षुण्ण रूप से चल रही है। शैवाचार्य श्रीक्षेमराज के द्वारा ११वीं शती में इस स्तोत्र का इस पर टीका लिखने के अभिप्राय से चयन करना ही, कश्मीर में इसके विशेष महत्त्व को प्रमाणित करता है। आचार्यजी ने जहां कश्मीर के एक अतिप्राचीन आचार्य भट्टनारायण के स्तोत्रग्रन्थ स्तवचिन्तामणि और अपने परमेष्ठिगुरु प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञाकार उत्पलदेव की कृति शिवस्तोत्रावली पर वृत्तियाँ लिखीं वहीं पर साम्बपञ्चाशिका पर भी वृत्ति लिखना ही इस तथ्य का संकेत देता है कि प्राचीन कश्मीर में इस स्तोत्र को उल्लिखित दो आचार्यों के द्वारा रचित स्तोत्र ग्रन्थों के समकक्ष माना जाता था। आज भी इस परिस्थिति में कोई अन्तर नहीं आया है। इसके कई कारण हैं जिनका संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है :

१. श्री साम्बजी और श्री मयूर दोनों की उपासना-पद्धति में दृष्टिकोण की भिन्नता

श्री मयूर के द्वारा विरचित सूर्यशतक का अध्ययन करने वाले पाठकों से यह बात छिपी नहीं कि उन्होंने भगवान सूर्य के लौकिक पक्ष को लेकर ही आराधना की है। इसके प्रतिकूल श्रीसाम्ब ने आध्यात्मिक पक्ष को अपना कर भगवान सूर्य की उपासना आन्तरिक चिन्मयपुरुष के रूप में की है। इधर से असली कश्मीरी जनसमाज में, जिनमें मुसलमान भी अपवाद नहीं हैं, प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ में अन्तर्निहित दैवी-सत्ता को ही ढूँढ़ना

एक जन्मजात प्रवृत्ति है। न जाने कितने प्राचीन अतीत से चले आते हुए शैवसंस्कारों से संस्कृत कश्मीरी पण्डित भक्त समाज के लिए लौकिक पक्ष पर आधारित सूर्यशतक की अपेक्षा अध्यात्मगर्भित साम्बपञ्चााशिका की ओर अधिक आकर्षित होना भी एक स्वाभाविक यथार्थ है। हालांकि सूर्यशतक के प्रति आदरभावना भी उनमें कम नहीं है।

२. उपासना पद्धति और योगक्रम

जैसा कि पहले ही संकेतरूप में समझाया गया है कि साम्बपञ्चशिका में वर्णित चित्-शक्ति का उपासनाक्रम पराभक्ति पर आधारित है। शैव शास्त्रों में निष्णात भक्तजन पराभक्ति के स्वरूप एवं साधनाक्रम में इसके विशेष महत्त्व से बखूबी परिचित हैं। पराभक्ति आराधक, आराध्य एवं आराधना इन तीनों के पूर्ण अभेदभाव की उच्चतम अवस्था मानी जाती है। साम्बपञ्चाशिका के प्रत्येक पद्य में इसी पराभक्तिरूपी रसमयता की मादकता कूट-कूट कर भरी हुई है। साथ ही इस रचना में वर्णित योगक्रम कश्मीर के शैवागमों में वर्णित शैव-योगक्रम के बिल्कुल अनुरूप है। अत: कश्मीर के शैव संस्थानों में इस रचना को महान् आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

३. कश्मीरी रुचि के अनुकूल शब्दावली एवं छन्द का चयन

श्रीमयूर ने सूर्यशतक में ओजोगुण के अनुरूप कर्कश शब्दावली, लम्बे समासों और अर्थगौरव को ही अधिक आश्रय दिया है। साथ ही भक्तिभाव के लिए अधिक प्रशस्य मन्दाक्रान्ता छन्द की पूर्ण उपेक्षा करके अन्य ओजोमयता के अनुरूप स्रग्धरा छन्द का प्रयोग किया है। स्पष्ट ही ऐसा करने में वे वर्ण्य-विषय के लिए अपेक्षित औचित्य का कुछ मात्रा तक उल्लंघन करके निजी पाण्डित्य प्रदर्शन का लोभ संवरण करने में सफल नहीं हुए हैं। समस्त विश्व के जीवनाधार आराध्यदेव के प्रति सर्वतोमुखी प्रह्वता और परिपूर्ण स्वात्मसमर्पण ही मात्र पराभक्ति का रूप है। पराभक्ति कालिदास के यक्ष का करुणापूर्ण प्रणय निवेदन है। इसमें आराधक जैसी कोई निजी भिन्न सत्ता ही नहीं है तो ओजस्विता का प्रदर्शन किसके लिए? प्रणय निवेदन में अत्यन्त मधुरिमा से भरपूर प्रसादगुणमयी ललित शब्दावली अपेक्षित होती है। स्थिति को अधिक स्पष्ट करने के लिए नीचे दो पद्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इनमें पहला श्रीमयूर का और दूसरा श्रीसाम्ब का

है। विज्ञ पाठकजन दोनों को पढ़कर स्वयं इस तथ्य का पर्यवेक्षण कर सकते हैं:—

सूर्यशतक, पद्य ६

'शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघन घृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्घा सिद्धसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम्॥'

साम्बपञ्चाशिका, पद्य ६

'न ब्रह्मण्डव्यवहितपथा नातिशीतोष्णरूपा
नो वा नक्तंदिवगममिता तापनीयापराह्णः।
वैकुण्ठीया तनुरिव रवे राजते मण्डलस्था
सा नः श्वेता भवतु परमादित्यमूर्तिः प्रसन्ना॥'

इसके अतिरिक्त सच्चे भक्त के करुणाक्रन्द में धीरसमीर की जैसी मन्थरगति में ठुमक ठुमक कर आगे बढ़ता हुआ मन्दाक्रान्ता छन्द चाहिये। कालिदास का मेघदूत इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है। जरा उसकी भी दो पक्तियां देख लीजिये:—

'मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगर्वः।' (मेघदूत)

अथवा करुणा के कवि भवभूति का एक पद्य देख लीजिये :—

लक्ष्मणः

'सोऽयं शैलः कनकशिखरो (ककुभसुरभिर्) माल्यवान्नाम यस्मि-
न्नीलः स्निग्धः श्रयति शिखरं नूतनस्तोयवाहः

रामः

वत्सैतस्माद्विरम विरमातः परं न क्षमोऽस्मि,
प्रत्यावृत्तः पुनरिव स मे जानकीविप्रयोगः॥ (उत्तररामचरित)

श्री साम्ब की एक पङ्क्ति देख लीजिये

'दिव्यं ज्योतिः सलिल पवनैः पूरयित्वा त्रिलोकीम्।' (इत्यादि)

साहित्यज्ञों का कथन है कि श्रीमयूर ने अपने सूर्यशतक में स्रग्धरा छन्द का इसलिये निरङ्कुश प्रयोग किया है कि उसके पूर्ववर्ती कवियों ने अपनी कविताओं में इस छन्द का प्रयोग लगभग नहीं के बराबर किया था। इससे मन में यह शंका भी स्वभाववश उत्पन्न हो सकती है कि क्या श्री मयूरकवि सूर्यशतक में अपने पूर्ववर्ती कवियों की कवित्त्व शक्ति को चुनौती दे रहे थे या अपने अभीष्ट देव की आराधना कर रहे थे?

अस्तु, यहां पर इन दोनों भक्तकवियों में से किसी एक को ऊँचा और दूसरे को नीचा दिखाने का कोई प्रश्न नहीं है। संस्कृत साहित्याकाश में इन दोनों भक्तप्रवर रचनाकारों की रचनायें सूर्यदेव के ही समान सदा देधीप्यमान हैं और आगामी समय के लिए भी वैसी ही रहेंगी। दोनों के काव्यसौन्दर्य के में बारे जितना भी गुणगान किया जाये कम है। यहां पर केवल इतना कहना पर्याप्त है कि प्राचीन काल से ही कश्मीर के भक्तजनों के दिलों में साम्बपञ्चाशिका के प्रति विशेष अनुराग रहा है और आज भी इसमें कोई अन्तर नहीं आया है।

साम्बपञ्चाशिका के उपलब्ध संस्करण

इस सूर्यस्तोत्र के आज तक तीन संस्करण प्रकाशित हुए हैं :

१. साम्बपञ्चाशिका— क्षेमराजकृत संस्कृत टीका सहित मूलमात्र, काव्यमाला-१३, पंण्डित दुर्गाप्रसाद एवं श्रीकाशीनाथ शर्मा द्वारा सम्पादित, मुम्बई १८८९ संस्करण।

२. साम्बपञ्चाशिका— केवल मूलश्लोक, कश्मीर के आधुनिक काल के ख्याति प्राप्त शैवाचार्य एवं सिद्ध, प्रातः स्मरणीय शिवलोकवासी सद्गुरु श्री ईश्वरस्वरूप महाराज जी के द्वारा विरचित भक्तजनोपयोगी हिन्दी अनुवाद सहित, ईश्वराश्रम से ही प्राप्य।

३. साम्बपञ्चाशिका— क्षेमराज (राजानक) कृत टीकासमेत, मूलमात्र स्व० म० म० गोपीनाथ कविराज द्वारा संपादित, योगतन्त्र ग्रन्थमाला क्रमाङ्क ३, १९७० संस्करण, तंत्रसंग्रह में संकलित।

श्रीसाम्ब का जीवन-वृत्त

श्रीसाम्ब की जीवनी से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री श्रीमद्भागवत पुराण, श्रीवराहपुराण एवं इतर पौराणिक कृतियों में बिखरी पड़ी है। उसका संकलन

करने के उपरान्त उनके जीवनवृत्त की रूपरेखा कुछ इस प्रकार बन जाती है :—

मोटे तौर पर साम्बजी का जीवन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है १. जन्म से लेकर प्रौढ़ अवस्था में अपने ही जन्मदाता भगवान वासुदेव के द्वारा अभिशप्त होने तक उनके जीवन का पूर्वभाग, और उपरान्त, मथुरानगरी में जाकर तपश्चरण, चित्-सूर्यदेव की उपासना और आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने तक उनके जीवन का उत्तर भाग कहा जा सकता है।

जन्म

श्रीसाम्ब लीलाविलासी भगवान वासुदेव और उनकी अन्यतम प्रधानमहिषी शुभलक्षणा जाम्बवती के सुपुत्र थे। यद्यपि श्रीमद्भागवत महापुराण में पग पग पर इस तथ्य की विवेचना की गई है कि भगवान वासुदेव वस्तुतः नाम-रूपादि से सर्वथा अतिगत, अनादिसिद्ध, त्रिकालाबाधित एवं अनन्त महाप्रकाशमय चित्-पुरुष हैं। भूः, भुवः और स्वः ये तीनों लोक अर्थात् आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समूचा विश्व, उनके लोकातीत चित्-पुरुषमय रूप का, अपनी ही स्वतन्त्र पारमेश्वरी लीला से अङ्गीकृत, विस्तारमात्र है। सारे कल्पित स्त्री-पुत्रादि आकार-प्रकार उस निराकार एवं निर्विकार ब्रह्मसत्ता से स्वरूपतः भिन्न नहीं हैं। तो भी लोकसामान्य दृष्टिकोण के अनुसार कहने-सुनने के लिए उस समय की आठ महिमामयी महिलाओं को उनकी आठ प्रधान पटरानियां बनने का सौभाग्य प्राप्त था—

'तासां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः।
अष्टौ महिष्यः . . . . ॥

(भा० पु० स्क० १० अ० ६१ प० ७)

उनके नाम थे— रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, सत्या, कालिन्दी (मद्रराज की पुत्री), लक्ष्मणा, मित्रविन्दा और भद्रा। इनमें से प्रत्येक की कोख से दस दस सन्तान उत्पन्न हुए। जाम्बवती के गर्भ से उत्पन्न दस पुत्ररत्नों के नाम थे— साम्ब, सुमित्र, पुरुजित, शतजित्, सहस्रजित्, विजय, चित्रकेतु, वसुमान, द्रविड़ और क्रतु :—

'साम्बः सुमित्रः पुरुजिच्छतजिच्च सहस्रजित्।
विजयश्चित्रकेतुश्च वसुमान्द्रविडः क्रतुः।
जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसम्मताः॥

(भा० पु० स्क० १० अ० ६९ प० ११-१२)

स्पष्ट ही श्री साम्ब सुमित्र आदि नव भाइयों के सहोदर एवं अग्रज भ्राता थे।

श्री कृष्ण एवं जाम्बवती का विवाह एक संयोग

श्रीसाम्ब की जन्मदात्री गरिमामयी जाम्बवती चिरञ्जीवी रामभक्त ऋक्षराज जाम्बवान की पुत्री थीं। उनके साथ भगवान वासुदेव का पाणिग्रहण होना मात्र एक आकस्मिक संयोग था। सत्यभामा का पिता सत्राजित् सूर्यदेव का अनन्य उपासक था। उसकी आराधना से प्रसन्न होकर सूर्यदेव ने उसको स्यमन्तक नामी एक ऐसा अनमोल मणि प्रदान किया था जिससे प्रतिदिन आठ भार सोना उत्पन्न होता था। इसके अतिरिक्त उसमें एक और विशेषता यह थी कि जिस स्थान पर पूजित होकर वह वर्तमान रहता था वहां दुर्भिक्ष, महामारी, ग्रहपीडा, सर्पभय, आधि, व्याधि इत्यादि दैवी विपत्तियों का प्रकोप नहीं होता था:—

'दिने दिने स्वर्णभारानष्टौ स सृजति प्रभो।
दुर्भिक्षमार्यरिष्टानि सर्पादिव्याधयोऽशुभाः।
न सन्ति मायिनस्तत्र यत्रास्तेऽभ्यर्चितो मणिः॥'

(भा० पु० स्क० १० अ० ५६ प० ११)

एक दिन संयोगवश सत्राजित का भाई प्रसेन उसको गले में डालकर वन में शिकार खेलने चला गया। वहां एक शेर ने अकस्मात् उस पर आक्रमण किया और उसको मारकर मणिसहित अपनी गुफा की ओर भाग निकला। तत्काल संयोगवश ऋक्षराज जाम्बवान कहीं से आकर घटनास्थल पर पहुंच गया। उसने बलपूर्वक शेर को पछाड़कर वह मणि हस्तगत किया और उसको गुफा में लेकर बच्चे को खेलने के लिए दिया।

'प्रसेनं सहयं हत्वा मणिमाच्छिद्य केसरी।
गिरिं विशञ्जाम्बवता निहतो मणिमिच्छता॥'

(भा० पु० स्क० १० अ० ५६ प० १४)

इधर से भाई के देर तक वापस न लौटने के कारण सत्राजित् बहुत दुःखी हुआ। उसने बिना कुछ सोचे समझे लोगों में यह अपवाद फैलाया कि वास्तव में श्रीकृष्ण ने ही मणि के लोभ से वन में अनुसरण करके मेरे भाई की हत्या की होगी। फलस्वरूप लोगों में इस विषय को लेकर आपसी काना-फूसी भी होने लगी:—

'प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः।
भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपञ्जनाः॥'

(भा० पु० स्क० १० अ० ५६ प० १६)

भगवान इस झूठे लोकापवाद के कलंक को मिटाने के अभिप्राय से कई अन्य गणमान्य नागरिकों को साथ लेकर स्वयं प्रसेन को ढूँढ़ने के लिए वन में चले गये:—

'भगवांस्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्तमात्मनि।
मार्ष्टुं प्रसेनपदवीमन्वपद्यत नागरैः॥'

(भा० पु० स्क० १० अ० ५६ प० १७)

इधर उधर खोजने पर उन्होंने एक स्थान पर प्रसेन का शेर के द्वारा नोचा गया मृत शरीर देखा और निश्चय किया कि वास्तव में उसको शेर ने मार दिया है। उपरान्त मणि का पता लगाने के लिए कुछ देर तक पहले शेर के, तत्पश्चात् किसी रीछ के पदचिह्नों का अनुसरण करके पर्यन्ततः ऋक्षराज जाम्बवान की गुफा पर पहुंचे। वहां पर साथियों को गुफा के बाहर प्रतीक्षा करते रहने का आदेश देकर स्वयं अकेले ही गुफा के अन्दर चले गये :—

'ऋक्षराजबिलं भीतमन्धेन तमसावृतम्।
एको विवेश भगवानवस्थाप्य बहिः प्रजाः॥'

(भा० पु० स्क० १० अ० ५६ प० १९)

गुफा में उन्होंने २८ दिन तक जाम्बवान के साथ द्वन्द्व-युद्ध करके उसको पूर्णतया स्वात्मसमर्पण करने के लिए विवश बना दिया :—

'आसीत्तदष्टाविंशाहमितरेतरमुष्टिभिः'— (इत्यादि)

(भा० पु० स्क० १० अ० ५६ प० २४-२५)

जाम्बवान अपनी उस दशा को देखकर अकस्मात् सचेत हो गया कि जिस व्यक्ति के साथ वह युद्ध कर रहा है वह और कोई नहीं, प्रत्युत, उसके अपने ही आराध्य श्रीराम श्रीकृष्ण के रूप में सामने खड़े हैं। सहसा वह भगवान के चरणारबिन्दों पर नतमस्तक हो गया। उनके चरण पकड़कर और भावना में सर्वस्वसमर्पण करके भक्ति से उनकी स्तुति करने लगा। भगवान ने प्रसन्न होकर अपना वरद करकमल उनके शरीर पर फेर दिया और अहैतुक अनुग्रह करके यह तथ्य समझा दिया। हे ऋक्षराज ! तुम तो जन्म-जन्मान्तरों से मेरे अनन्य भक्त हो। मेरा तुम से कोई वैर या विरोध नहीं है। मैं तो केवल अपने पर अविवेकी जनों के द्वारा लगाये गये मणिचोरी के कलङ्क को मिटाने के अभिप्राय से यहां आया हूँ :—

'मणिहेतोरिह प्राप्ता वयमृक्षपते बिलम्।
मिथ्याभिशापं प्रमृजन्नात्मनो मणिनामुना॥'

(भा० पु० स्क० १० अ० ५६ प० ३९)

भगवान के वचनामृत का पान करते ही ऋक्षराज ने उनकी विशेष अभ्यर्चना करके प्रफुल्ल हृदय से स्यमन्तक मणि एवं अपनी पुत्री जाम्बवती उनकी सेवा में समर्पित कर दिये:—

'इत्युक्तः स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवंती मुदा।
अर्हणार्थं स मणिना कृष्णायोपजहार ह॥'

(भा० पु० स्क० १० अ० ५६ प० ३२)

पैतृक संस्कारों के प्रभाव से जाम्बवती जन्म से ही भगवद्भक्ति में रममाण रहने वाली युवती थी। अपने पिता का निर्णय सुनते ही उसका अन्तर्हृदय आनन्द से भर गया। वह तुरन्त भगवान को स्वात्मसमर्पण करके उनकी अनुगामिनी बन गई। द्वारिका में वापस पहुचते ही भगवान ने उसके साथ विधिवत् पाणिग्रहण करके उंसको अन्यतम प्रधान पटरानी बनाने का गौरव प्रदान किया।

श्रीसाम्ब की शिक्षा-दीक्षा एवं विवाह

भगवान के अन्य पुत्रों के साथ ही श्रीसाम्ब का भी भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा इत्यादि तात्कालीन प्रचलित शास्त्रीय विधि-विधान के अनुसार

सुयोग्य गुरुओं के द्वारा सम्पन्न हुए। बचपन से ही उनके लिए सुख-समृद्धि एवं ऐश्वर्य की कोई कमी नहीं थी। तात्कालीन यदुकुलोचित स्वाभिमानिता भी उनमें कूट कूट कर भरी हुई थी। अतुल बाहुबल के साथ-साथ धनुर्विद्या एवं युद्ध कौशल में निष्णात होने के कारण उनकी गणना तात्कालीन महारथियों में की जाती थी। श्रीमद्भागवतपुराण के तृतीय स्कन्ध अध्याय १ के अनुसार महात्मा विदुर ने उद्धव से यदुवंशियों का क्षेम-कुशल पूछने के अवसर पर श्रीसाम्ब के बारे में इस रहस्य का उद्घाटन किया था कि—

'श्रीकृष्णतनय साम्ब अपने पिता के समान ही समस्त रथियों में अग्रगण्य है और वह, वास्तव में, पार्वतीनन्दन स्वामिकार्तिक ही अवतीर्ण होकर, जाम्बवती की कोख से जन्मा है'।

महात्मा विदुर के इस कथन से स्पष्ट होता है कि स्वामिकार्तिक का साक्षात् अवतार होने के कारण दुर्दान्त पराक्रमशालिता श्रीसाम्ब की जन्मजात विशेषता रही होगी।

युवावस्था में पदार्पण करते ही उनकी कायिक गठन एवं सर्वाङ्गसौन्दर्य में इतना निखार आया कि तात्कालीन ख्यातिप्राप्त रूपसी रमणियां भी उनकी रूपछटा से मन्त्रमुग्ध हो जाती थीं। उनका पाणिग्रहण कौरवाधिपति दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा के साथ हुआ था। उसको वे स्वयं तात्कालीन प्रचलित क्षात्रप्रथा के अनुसार बलपूर्वक अपहरण करके लाये थे:—

'दुर्योधनसुतां राजन् लक्ष्मणां समितिञ्जयः।
स्वयंवरस्थामहरत् साम्बो जाम्बवतीसुतः॥'

(भा० पु० स्क० १० अ० ६८ प० १)

उस समय में राजवंशियों में बहुपत्नीक होने की प्रथा आम थी। अधिक से अधिक सुन्दरी रमणियों का संग्रह करके रनिवासों को सुसज्जित बनाना राजपुत्रों के लिए गौरव की निशानी समझी जाती थी। वैसे वातावरण में श्रीसाम्ब के रनिवास में भी यदि लक्ष्मणा के अतिरिक्त अन्य बहुत सी स्त्रियों को स्थान मिला होगा तो कोई अचम्भे की बात नहीं। यद्यपि इस सन्दर्भ में कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, तो भी, साम्बपञ्चाशिका के अन्त में उनके अपने ही परिचय पद्य ५२ के प्रथम चरण की शब्दरचना

से स्पष्ट रूप में ऐसी ध्वनि निकलती है, चाहे टीकाकार क्षेमराज उसके साथ सहमत न भी रहे हों। चरण इस प्रकार है:—

'भक्तिश्रद्धाद्यखिलतरुणीवल्लभेनेदमुक्तम्।'

यहां पर भक्ति और श्रद्धा इन दो प्रेयसियों का विशेष रूप में और अन्य तरुणियों का सामान्य रूप में निर्देश करने से, शायद, उन्होंने स्वयं ही इस तथ्य का संकेत दिया है कि ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त उन्होंने भोग मार्ग को सर्वाङ्गीण तिलाञ्जलि देकर भक्ति और श्रद्धा इन दो प्रेयसियों के साथ नाता जोड दिया था, परन्तु उससे पहले वे सर्वसाधारण 'तरुणीवल्लभ' भी थे। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इस पद्य की रचना उन्होंने जीवन के उस मोड पर पहुंच कर की है जब कि भगवत्प्रसाद के फलस्वरूप उनमें ज्ञानोन्मेष हुआ था और उनका आन्तरिक संवेदन लोकसामान्य सङ्कोचों की सीमाओं को पार कर गया था।

इसके अतिरिक्त, जैसा कि अभी आगे चल कर स्पष्ट होगा, वराह पुराण के कथनानुसार तरुणी रूपसियों के प्रति अधिकाधिक आकृष्टि ही उनके लिए अभिशाप बन गई, यद्यपि भगवदनुग्रह से उनका वह अभिशाप अन्ततः वरदान में परिणत हुआ।

श्रीसाम्ब का शौर्य

समृद्धि, विभूति एवं सुखभोग से परिपूर्ण वातावरण में पले हुए होने पर भी श्रीसाम्ब अपने क्षात्रधर्म को भूलकर निकम्मे अथवा अकर्मण्य नहीं बने थे। श्रीमद्भागवतपुराण के अनुसार भगवान के अतिशूर पुत्रों में से अठारह ऐसे महारथी थे जिनके बल-पराक्रम की धाक देश के कोने-कोने में फैली हुई थी। श्रीसाम्ब भी उन चुने हुए पराक्रमशाली पुत्रों में से एक थे:—

'तेषामुद्दामवीर्याणामष्टादश महारथाः।
आसन्नुदारयशसस्तेषां नामानि वै शृणु।
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च दीप्तिमान्भानुरेव च।
साम्बो मधुः . . . . ।।' (इत्यादि)

(भा० पु० स्क० १० अ० ५६ प० ३३-३४)

श्रीसाम्ब की शौर्यगाथाओं के बहुधा उल्लेख हमें मिलते हैं। दो, तीन का संक्षेप में यहां उल्लेख करना प्रसङ्गानुकूल होगाः—

"एक बार शोणितपुर के शासक बली बाणासुर ने अपनी पुत्री उषा के प्रेमी अनिरुद्ध को बलपूर्वक नागपाश से बान्ध कर कारागार में डाल दिया। चारों ओर ढूँढ़ने पर भी चार महीनों तक यदुंवशियों को उसका अता-पता कहीं पर भी चल न सका। अन्ततः नारद के मुख से वास्तविक स्थिति मालूम होने पर यदु महारथियों ने बारह अक्षौहिणी सेना लेकर शोणितपुर पर धावा बोल दिया। उस युद्ध में श्रीसाम्ब ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। वे किसी साधारण योद्धा से नहीं, प्रत्युत स्वयं बाणासुर के अमित बलशाली एवं आसुरी मायामय युद्धकला में पटु पुत्र बाण के साथ भिड़ गये। दोनों ओर से विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग हुआ, परन्तु अन्ततः बाणासुर के पक्ष की हार हुई। उसको विवश होकर अनिरुद्ध को बन्धनमुक्त करके अपनी पुत्री उषा का विवाह उसके साथ करना पड़ा।"

"श्रीशुकदेव के कथनानुसार जाम्बवतीनन्दन श्रीसाम्ब अकेले ही बड़े-बड़े पराक्रमी वीरों को पराजित करने में सक्षम थे। दुर्योधन की बेटी लक्ष्मणा का, सारे राजपुत्रों के देखते देखते ही, स्वयंवर में जीतकर उठा लाना उन्हीं का सामर्थ्य था। अहंकारी कौरव हमेशा से यदुवंशियों को अपने टुकड़ों पर पलने वाले भिखारियों से अधिक नहीं समझने के अभ्यस्त थे। अतः वे उनके साथ कोई वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने तुरन्त मन्त्रणा करके कर्ण, भूरिश्रवा, यज्ञकेतु, दुर्योधन इत्यादि चोटी के महारथियों को भेजकर अकेले श्रीसाम्ब पर चारों ओर से धावा बोल दिया। साम्बजी ने ऐसी विकट परिस्थिति में भी अपना साहस नही खोया अपितु दुगुनी शक्ति से उन सैकड़ों वीरों पर धारासार शरवर्षण करके उनको किङ्कर्तव्यविमूढ़ बना दिया। यह बात अलग है कि अन्ततः मामला तूल पकड़ गया। दशा इस हद तक विस्फोटक बनी कि बलराम जी अपने हल-मूसल से समूचे हस्तिनापुर को उखाड़ कर गंगाजी में डुबो देने पर उतारू हो गये। उनके तेवर देखकर कौरव हड़बड़ा उठे और तुरन्त गिड़गिड़ाते हुए उनसे दया की भीख मांगने लगे। बलराम उनकी अनुनय

से शान्त हो गये और परिणामतः श्रीसाम्ब और लक्ष्मणा का शुभविवाह दुर्योधन की स्वीकृति से राजवंशोचित ठाट बाट के साथ सम्पन्न हुआ।"

"सौमनामी विमान के अधिपति और शिशुपाल के मित्र शाल्व के साथ प्रद्युम्न की भिडन्त होने के अवसर पर भी श्रीसाम्ब ने अपने अद्भुत पराक्रम का परिचय दिया।"

कहने का तात्पर्य यह कि श्रीमद्भागवत महापुराण इत्यादि ग्रन्थ श्रीसाम्ब की शौर्य गाथाओं से भी भरे पड़े हैं।

श्रीसाम्ब को माता-पिता से प्राप्त उत्तराधिकार

'शैव दृष्टिकोण के अनुसार विशुद्ध पराभक्ति और मुमुक्षु साधक के निजी आध्यात्मिक स्तर के अनुकूल आणव, शाक्त या शाम्भव प्रकार का शैवयोग दोनों पर्यन्ततः स्वरूपप्रत्यभिज्ञा में फलित होते हैं। सिद्धगुरुवर्यों के अहैतुक कृपा कटाक्ष से साधक के हृदय की सारी कुण्ठायें, शङ्कायें और मलत्रय स्वयं गल जाते हैं रवि किरणों की ऊष्मा से हिमानियों की तरह। फलतः साधक के निजी अन्तस् में चित्-शक्ति का आकस्मिक उन्मेष हो जाता है और वही तीव्रतम पारमेश्वर शक्तिपात कहलाता है।'

प्रस्तुत प्रसङ्ग में श्रीसाम्ब की जननी जाम्बवती प्रसिद्ध रामभक्त जाम्बवान् की दुहिता होने के नाते जन्म से ही भगवान वासुदेव की अनन्य भक्ति में तल्लीन रहने वाली महिला थी। परिणामस्वरूप उसकी कोख से जन्मे हुए श्रीसाम्ब के हृदय में अवश्य भक्ति एवं श्रद्धा के संस्कार जन्म से ही अङ्कित होना भी एक स्वाभाविक बात थी। दूसरी ओर भगवान वासुदेव के साक्षात् योगेश्वर होने में किसी संदेह का अवकाश ही नहीं है। श्रीगीता में भगवान ने स्वयं अपने मुखारबिन्द से जिस योगमार्ग का उपदेश दिया है वह बिल्कुल शैवागमों में वर्णित शाम्भवयोग है। अस्तु, फलतः यह कथन भी निराधार नहीं कि योगेश्वर भगवान का अंश होने के कारण साम्बजी के हृदय में उच्चकोटिक योग (शाम्भवयोग) के संस्कार भी स्वाभाविक रूप में अङ्कित थे। अतः इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि उनको भक्ति-श्रद्धा एवं योग के संस्कार अनायास ही पैतृक उत्तराधिकार के रूप में संप्राप्त थे। जीवन के उत्तरभाग में उनके वे जन्मसिद्ध संस्कार भगवत्प्रसाद

से सहसा अङ्कुरित एवं फलित हुए और करोड़ों यदुवंशियों में से केवल उनको ही अविनश्वर श्रेयस् की उपलब्धि हुई।

श्रीसाम्ब के जीवन के पूर्वभाग में अभिव्यक्त हुई निरङ्कुश आचरण की अभद्रता एवं अशिष्टता के प्रति वराहपुराण की तीखी प्रतिक्रिया :—

अत्यधिक सुख भोग एवं विलासिता के वातावरण में पलना किसी भी शिशु के लिए घातक होता है। यह तथ्य श्रीसाम्ब के विषय में भी अक्षरशः चरितार्थ हुआ। पूर्वकाल में वराह अवतार के रूप में भगवान ने स्वयं ही आगामी भविष्य में श्रीसाम्ब के जीवन के पूर्वभाग में प्रकट होनेवाली अनैतिकता, अभद्रता एवं सदाचारहीनता की भविष्यवाणी पहले ही करके रखी थी। उसी के अनुरूप, जैसा कि पौराणिक उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है, उनके जीवन के पूर्व-भाग में कायिक-अहंभाव, रूप-सौन्दर्य का उन्माद, बलवत्ता का नशा और चढ़ती जवानी का दर्प— ये सारे एकदम चरमसीमा पर पहुंचे। विशेष बात तो यह हुई कि राजवंशीय वैभव के उन्माद, वारुणी एवं वनिताओं के प्रति वैषयिक आसक्ति, अपने जन्मदाता भगवान वासुदेव के वास्तविक स्वरूप की विस्मृति और शिष्टजनों के प्रति अवमानना की भावनाओं ने उनके सद्विवेकनेत्रों सर पट्टी बांध रखी। अभद्रता का हाल यहां तक पहुंचा कि अपने को झूठी गर्भिणी स्त्री के स्वांग में ऋषिवर दुर्वासा के सामने प्रस्तुत करके अवहेलना के भाव से यह पूछना कि मैं कब और क्या प्रसव करूँगी? उनका अक्षम्य कुत्सित कर्म सिद्ध हुआ। उनकी यह यौवनसुलभ चपलता अन्ततोगत्वा यदुकुल की नाशलीला में प्रतिफलित हुई— यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है। इस परिप्रेक्ष्य में वराहपुराण खंड २; प्रकरण द्वारिकामाहात्म्य में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है :—

'तत्र जाम्बवती नाम्नी मम पत्नी भविष्यति।
रूपयौवनसम्पन्ना मम भोगसमन्विता॥
तस्याः पुत्रो महाभागो रूपयौवनदर्पितः।
साम्ब इत्यभिविख्यातो ममैव सततं प्रियः॥
तेनैव क्रीडमानेन कृत्वा गर्भमतथ्यतः।
पृष्टः स परमश्रेष्ठ ऋषिरेषा प्रसोष्यति॥

पुत्रकामा त्वियं बाला मुने तत्प्रब्रवीहि मे।
साम्बोऽयमिति च ज्ञात्वा स मुनिः कोपमूर्छितः ॥
वक्ष्यति तर्हि ते गर्भान्मुसलं कुलनाशनम्।
येन वृष्ण्यन्धकाः सर्वे गमिष्यन्ति यमक्षयम् ॥' (इत्यादि)

(व० पु० खं० २ प्रकरण द्वारिकामहिमा प० ११-१५)

इसके साथ ही अधिकाधिक तरुणी स्त्रियों का उनके रूप-सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होने का अपवाद भी तात्कालीन भद्रसमाज और देवसमाज में अत्यधिक तूल पकड़ गया। फलतः भगवान को उनका आत्मिक परिष्कार करने के हेतु उन्हें शाप देना पड़ा। खैर, सुबह का भूला अगर शाम को घर वापस लौटे तो भटका नहीं कहलाता है। भगवान का वह अभिशाप ही अन्त में उनके लिए वरदान सिद्ध हो गया और उनके सारे पाप-शाप गल गये। इस सन्दर्भ में वराहपुराण से निम्नलिखित जानकारी उपलब्ध हो जाती है :—

अनुग्रहैकमूर्ति भगवान सच्चिदानन्दकन्द की तिरोधान लीला भी भक्तजनों के लिए आत्मिक अभ्युत्थान में अवश्य फलित हो जाती है। यह एक अटल पारमेश्वर विधान है। श्रीसाम्ब के विषय में भी ऐसा ही हुआ। पुराण का कथन है :—

एक बार भगवान लीलापुरुष अपनी रानियों और परिवार के जनों के साथ द्वारिकापुरी में रममाण थे। अचानक मुनिपुङ्गव नारद स्वेच्छापूर्वक भ्रमण करते हुए श्रीचरणों में उपस्थित हो गये। भगवान ने स्वयं ही पाद्य, अर्घ्य इत्यादि से मुनिवर की अभ्यर्चना की और उनसे कुशल-क्षेम इत्यादि पूछा। मुनिवर ने बातों बातों में उनका ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि हे दयानिधान ! आपका प्रिय पुत्र साम्ब अब एक प्रौढ़वयस्क युवा बन चुका है। वह अति रमणीक गठन का व्यक्ति और दिव्य सौन्दर्य की साकार मूर्ति जैसा दिखाई दे रहा है। परन्तु भगवान् ! ऐसा देखने में आ रहा है कि अधिकाधिक सर्वाङ्गसुन्दरी रमणियां उनके दर्शनमात्र से मोहित हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप वह भी मानवोचित नैतिकता भूलकर इस वैषयिक दलदल में उत्तरोत्तर धंसा जा रहा है। उसकी रूपमोहिनी का राहु यदुवंशी अन्तःपुरों को ग्रस्त करता हुआ जैसा लगता है। इस अपवाद को

लेकर केवल मानवलोक में ही नही प्रत्युत देवलोक में भी उल्टी-सीधी टीका-टिप्पणियां आये दिन की चर्चा का विषय बनती जा रही हैं:—

'साम्बं दृष्ट्वा तु सर्वासां क्षुभ्यते हि मनः प्रभो।
एतत्तु ब्रह्मलोके च गीयते दैवतैः स्वयम् ॥'

(व० पु० खं० २ प्र० १७६ प० ६)

हे भगवन ! मैं आपसे यह प्रार्थना करने पर विवश हूँ कि आप अन्तःपुर के सारे तरुणीवर्ग और साम्ब को अनाशङ्कित रूप में यहां बुलाकर यथोचित आसनों पर बैठने का आदेश दे दीजिए ताकि मैं स्वयं अपनी दृष्टि से दोनों पक्षों में वर्तमान मानसिक क्षोभ की सत्यता या असत्यता को परिलक्षित करूँ :—

'आसनेषूपविष्टानां तेषां क्षोभञ्च तत्त्वतः।
लक्षयिष्याम्यहं सर्वं सत्यञ्चासत्यमेव च॥'

(वही ७)

यह सुनते ही भगवान ने मुनिवर के आदेश को तत्काल कार्यरूप में परिणत कर दिया और कुछ समय के उपरान्त सबों को वापस चले जाने का आदेश दे दिया।

भगवान के प्रति मुनिवर का आक्रोश

मुनिवर की तपोपूत दृष्टि के सामने कुछ भी ओझल न रह सका। उन सबों के अन्दर चलते हुए वैषयिक झंझावात के द्वारा आन्दोलित मानस-पारावार का विकराल रूप स्पष्ट हो गया और भगवान के प्रति मुनिवर का आक्रोश इन शब्दों में फूट पडा :—

'साम्बत्यागात्प्रमार्ष्टुं त्वमयशः कुलनाशकम्।
त्वमिहार्हस्यमेयात्मन्मया तु कथितं हितम्॥'

(वही ११)

हे अपरिमित आत्मप्रकाश से प्रकाशमान, आपको साम्ब का परित्याग करने से ही इस कुलनाशक अपयश का परिमार्जन करना चाहिये। यही मेरा कथन है और इसी में आपका हित है।

भगवान का अभिशाप उपनाम वरदान

मुनिवर के चुप होते ही श्रीसाम्ब के प्रति भगवान की अभिशापमयी वाणी गरज उठी:—

'विरूपस्त्वं भविष्यसि . . . . . . ।'

(वही १२)

(अरे साम्ब !) तू कुरूप बन जायेगा।

शाप की गर्जना के तत्काल ही साम्बजी का लावण्यपूर्ण शरीर सहसा कुष्ठ से आक्रान्त होकर कुरूप बन गया। उनकी सारी काया से दुर्गन्धपूर्ण रक्त की धारा टपकने लगी और पलकभर में वे कटे हुए पशुशरीर के समान दिखाई देने लगे।

अभी ऊपर कहा गया कि लीलामय भगवान वस्तुतः अनुग्रहमय, रागद्वेषादि द्वन्द्वों से परे एवं स्व-पर भेद से अतिगत हैं। उनके अभिशाप में भी वरदान का ही रहस्य निहित होता है। भगवान ने श्रीसाम्ब को शाप देने के तत्काल ही शाप से मुक्ति पाने के लिए पूर्वाचल में जाकर पूर्वाह्न में उदीयमान सूर्यदेव की, वेदों एवं उपनिषदों में वर्णित विधि के अनुसार आराधना करने का भी निर्देश दिया:—

'साम्ब साम्ब महाबाहो शृणु जाम्बवतीसुत।
पूर्वाचले तु पूर्वाह्ने उद्यन्त तु विभावसुम्॥
नमस्कुरु यथान्यायं वेदोपनिषदादिभिः।
त्वयोदितं रविः श्रुत्वा तुष्टिं यास्यति नान्यथा॥'

(वही १४-१५)

स्पष्ट ही श्रीसाम्ब की तात्कालिक अवस्था पूर्वाचल जैसे दुर्गम स्थान पर जाने के अनुकूल नहीं थी। अतः उन्होंने अति विनीतभाव से प्रभु से यह प्रार्थना की कि हे प्रभु, मैं इस समय एक घृणित मांसपिण्ड जैसा बन गया हूँ अतः पूर्वाचल जैसे दुर्गम स्थान पर पहुंचने में सक्षम नहीं हूँ। अतः मेरा विनीत अनुरोध यह है कि शास्त्रों के अनुसार परम पवित्र मथुरापुरी में वर्तमान षट्-सूर्य नामक तीर्थस्थल पर जाकर भगवान सूर्यदेव की उपासना करने से भी पूर्वाचल का जैसा ही अभीष्ट फल मिल सकता है, कृपया मुझे भी वहीं जाकर आदेश का पालन करने की अनुज्ञा दी जाये।

उनका अनुनय स्वीकृत हो गया। भगवान से वैसा ही नया आदेश पाकर वे उपासना करने की उत्सुकता से मथुरापुरी को चले गये:—

'ततः साम्बो महाबाहुः कृष्णाज्ञप्तो ययौ पुरीम्।
मथुरां मुक्तिफलदां रवेराराधनोत्सुकः'॥

(वही १८)

आत्मिक अभ्युत्थान

वहां पर उन्होंने मुनिवर नारद के द्वारा समझाई गई विधि के अनुसार प्रातः सूर्योदय की मंगलमय वेला पर अनन्य श्रद्धाभक्ति से पच्चास रहस्यगर्भित पद्यों में भगवान सूर्यदेव (चिन्मय परम पुरुष) की आराधना की। पौराणिक परम्परा के अनुसार भगवान चित्-सूर्यदेव, मध्याह्न की वेला पर, निजी योगशक्ति के द्वारा उनके सामने साकार रूप में आविर्भूत हो गये और उन्हें मनोनीत वर मांगने के लिए कहने लगे:—

'साम्ब पञ्चांशकैः श्लोकैर्वेदगुह्यपदाक्षरैः।
यत्स्तुतोऽहं त्वया वीर तेन तुष्टोऽस्मि ते सदा॥
वरं वृणीष्व भद्रं ते . . . . ॥'

(वही २०)

'हे साम्ब ! तुमने वेदोक्त रहस्यपूर्ण शब्दों एवं अक्षरों वाले पच्चास श्लोकों में मेरी जो स्तुति की है उससे मैं तुम पर अतीव प्रसन्न हुआ हूँ। अब तुम्हारा कल्याण हो और तुम कोई मनचाहा वर मांग लो।'

भगवान चित्सूर्यदेव के कृपाकटाक्ष से श्रीसाम्ब के हृदय में जन्मजात भक्ति, श्रद्धा और योग के संस्कार उद्बुद्ध होकर प्रतिफलित हो गये और उन्हें वह अवस्था प्राप्त हुई जिसके लिए भगवान ने अपने श्रीमुख से उद्घोषणा करके रखी है :—

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'।

टीकाकार क्षेमराज

कश्मीर शैवदर्शन का अनुशीलन करने वाले महानुभाव स्वच्छन्दतन्त्र, शिवसूत्र इत्यादि शैवागमों एवं दूसरे भी कुछेक ग्रन्थों पर पांडित्यपूर्ण टीकाओं के लेखक महामाहेश्वर क्षेमराज से भलीभान्ति परिचित हैं। अतः

इस विषय में सर्वसाधारण भक्तजनों की उत्सुकता शान्त करने के लिए ग्यारहवीं शती कश्मीर के इस प्रसिद्ध शैवपंडित एवं सिद्धहस्त व्याख्याकार की संक्षिप्त जानकारी नीचे की पंक्तियों में प्रस्तुत की जा रही है:—

क्षेमराज ग्यारहवीं शती कश्मीर के ख्यातिप्राप्त साहित्यज्ञ एवं शैवसिद्ध आचार्य अभिनवगुप्तपाद के प्रधान शिष्यों में अन्यतम हैं। आपने अपनी सारी मौलिक या व्याख्यात्मक कृतियों में इस बात की उद्घोषणा स्वयं करके रखी है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत कृति की पुष्पिका इस प्रकार है:—

'इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपाद—पद्मोपजीविनः श्री क्षेमराजप्रणीतविवृतिसमेता श्रीसाम्बपञ्चाशिका समाप्ता'।

आपके प्रत्यभिज्ञाहृदय नामवाले मौलिक ग्रन्थ की पुष्पिका इस प्रकार है :—

'कृतिस्तत्रभवान्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजाविनः श्रीमतो राजानकक्षेमराजाचार्यस्य। शुभमस्तु।'

दूसरी ओर मधुराज नामवाले समसामयिक लेखक के द्वारा विरचित गुरुनाथपरामर्श नामी लघु प्रशस्तिकाव्य के अधोलिखित चौथे पद्य में आपके अभिनवगुप्तपाद के प्रधान शिष्य होने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है :—

'आसीनः क्षेमराजप्रभृतिभिरखिलैः सेवितः शिष्यवर्गैः।
पादोपान्ते निषण्णैरवहितहृदयैरुक्तमुक्तं लिखद्भिः॥'

प्रस्तुत प्रसंग में इस बात का स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है कि महामहिम अभिनवगुप्त ने अपनी प्रसिद्ध कृति तंत्रालोक के ३७वें आह्निक में अपने सगोत्रियों का नामनिर्देश करते करते जिस क्षेम नामक व्यक्ति का उल्लेख किया है वह प्रस्तुत टीकाकार क्षेमराज से नितरां भिन्न है। वहां पर भगवान अभिनव ने इस प्रकार उल्लेख किया है:—

'अन्ये पितृव्यतनया शिवशक्तिशुभ्राः
क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपद्मगुप्ताः।'

(तं० आ० ३७—६४)

स्पष्ट ही इस पद्य में वर्णित क्षेम अभिनवगुप्त का शिष्य नहीं, प्रत्युत कोई चचेरा भाई रहा है। संस्कृत व्याकरण नियम के अनुसार द्वन्द्व समास में प्रयुक्त अन्तिम शब्द हरेक अग्रिम शब्द के साथ मिलाया जाता है। इस

दृष्टि से भी उद्धृत पद्यांश में क्षेम शब्द से किसी क्षेमगुप्त का अर्थ निकलता है क्षेमराज का नहीं।

क्षेमराज के द्वारा रचित व्याख्याओं के बारे में कश्मीर के शैवपण्डितों को सदा यह शिकायत रही है कि आपने अपने प्रकाण्ड पांडित्य का प्रदर्शन करने के लोभ में पड़कर व्याख्याओं में अनपेक्षित दुरूहता ठूँस दी है। आज के शैवपाठकों की धारणा भी इसका अपवाद नहीं है। इस सन्दर्भ में यह तथ्य अवश्य ध्यान में रखना पड़ता है कि आप केवल एक व्याख्याकार ही नही प्रत्युत स्वयं एक अनुभवी शैवसिद्ध भी थे। अत: बहुधा अध्यात्मपरक वाक्यों या पदों का विश्लेषण अपनी अनुभूति के आधार पर करते समय यदि कहीं कहीं पर आपकी भाषा में दुरूहता आ भी गई है तो वह क्षम्य है। इसके अतिरिक्त अठारहवीं शती कश्मीर के एक प्रसिद्ध शैवसिद्ध श्रीशिवोपाध्याय ने आपकी व्याख्याशैली की भूरि भूरि सराहना भी की है।

आपने अपने जन्मस्थान या वंश-परम्परा के सम्बन्ध में कहीं कुछ विस्तृत रूप में नहीं लिखा है। इस विषय के साथ सम्बन्धित दूसरी भी कोई संतोषजनक सामग्री उपलब्ध नहीं है। कश्मीर की एक लोकपरम्परा के अनुसार खिमर नामक एक ग्राम, जोकि श्रीनगर के निकट दाछीगाम घाटी में आजकल भी विद्यमान है, नामसाम्य (खिंमर-क्षेमराज) के आधार पर आपका निवासस्थान माना जाता है। दूसरी ओर आपने कश्मीर के ही एक प्राचीन आलंकारिक श्रीभट्टनारायण की कृति स्तवचिन्तामणि की टीका की रचना विजयेश्वर क्षेत्र (आधुनिक विज बिहारा) में की है। इस बात का उल्लेख आपने स्वयं उसी टीकाकृति की पुष्पिका में इन शब्दों में किया है :—

'तेनार्थिप्रणयाद्दिनैस्त्रिचतुरैर्यां क्षेमराजो व्यधात्।
क्षेत्रे श्रीविजयेश्वरस्य विमले सैषा शिवाधाराधनी॥

इसके आधार पर कई लोगों का यह भी मत है कि आप तात्कालीन प्रसिद्ध विजयेश्वरक्षेत्र के ही निवासी थे।

आपने बहुत से शैवागमों की व्याख्यायें लिखने के साथ साथ कई मौलिक ग्रन्थों की रचना भी की है। संक्षिप्त व्यौरा इस प्रकार है :—

(अ) मौलिक रचनाएं

परा-प्रावेशिका, प्रत्यभिज्ञाहृदय, स्पन्दसंदोह और भैरवानुकरणस्तोत्र।

(आ) आगमों पर लिखी गयीं वृहती व्याख्याएं

शिवसूत्रविमर्शिनी, स्वच्छन्दोद्योत, नेत्रतन्त्रोद्योत, विज्ञानभैरवोद्योत और स्पन्दनिर्णय।

(इ) स्तोत्रग्रन्थों पर लिखी गयीं टीकायें

शिवस्तोत्रावलिविमर्शिनी, स्तवचिन्तामणिटीका और साम्बपञ्चाशिका टीका।

आपकी इन अमूल्य रचनाओं में से विज्ञानभैरवोद्योत और भैरवानुकरणस्तोत्र इस समय उपलब्ध नहीं हैं।

नीलकंठ गुरूटू

ओम् नमश्चिद्भानवे

साम्बपञ्चाशिका
राजानक श्रीक्षेमराजकृतयाटीकया समेता

टीकाकार श्रीक्षेमराज का मंगलमय उपोद्घात

मूलग्रन्थ

पुष्णन् देवानमृतविसरैरिन्दुमास्राव्य सम्यग्-
भाभिः स्वाभी रसयति रसं यः परं नित्यमेव।
क्षीणं क्षीणं पुनरपि च तं पूरयत्येवमीदृग्-
दोलालीलोल्लसितहृदयं नौमि चिद्भानुमेकम्॥१॥

अनुवाद—(क) चित्सूर्य अर्थात् स्वयंसिद्ध चित्-शक्ति (स्वात्ममहेश्वर)की दृष्टि से जो[१] (चित्-सूर्य अपानप्रवाह के रूप में बाह्यद्वादशान्त से अन्तःद्वाद्वशान्त की ओर सरकता हुआ मध्यनाड़ी रूपी हृदयमंडल में) आन्तरिक चन्द्रमा को पिघला कर, (अनुवर्ती प्राणप्रवाह के रूप में बाहर की ओर सरकता हुआ) उस आन्तरिक चन्द्रमारूपी अमृतसागर से टपकाये हुए अमृत के झरने से 'देवताओं'[२] अर्थात् विभिन्न रूपों में कार्यनिरत पांच, ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और तीन अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) इन तेरह इन्द्रियशक्तियों को पुष्टि प्रदान करता हुआ, निजी सर्वोत्कृष्ट चित्-प्रकाश के किरणजाल की रसवत्ता का चर्वण प्रतिक्षण करवाता रहता है, बार बार उस रसमयता के क्षीण होते रहने की अवस्था में फिर उसकी पूर्ति करता रहता है और इस प्रकार (प्राणापान के ऊर्ध्वगमन एवं अधोगमन के) झूले की जैसी क्रीडा के द्वारा 'हृदय' अर्थात् मध्यनाडीरूपी शक्तिकेन्द्र को विकसित करता रहता है, उस एकले चित्-सूर्यदेव को मैं (श्रीक्षेमराज) प्रणाम करता हूँ अर्थात् आन्तरिक विमर्श के रूप में उसी में एकाकार हो जाता[३] हूँ।

(ख) बाहरी स्थूल सूर्य की दृष्टि से

जो भगवान सूर्य (हरेक कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से अमावस्या तक) परिपूर्णा चन्द्रमा की एक-एक कला के अमृतनिर्झर को टपका कर, इन्द्र इत्यादि देवताओं को पुष्टि प्रदान करता हुआ, समूची जगती को निजी किरणजाल की रसवता से निरन्तर सराबोर करता रहता है। (कृष्णपक्ष की पन्द्रह तिथियों तक प्रति तिथि एक-एक कला की घटौती के हिसाब से) सारे चन्द्रमण्डलरूपी रससागर के क्षीण हो जाने पर फिर (शुक्लपक्ष की पन्द्रह तिथियों में प्रतितिथि एक-एक कला की बडोत्तरी के हिसाब से पूर्णिमा के दिन) चन्द्रमण्डल को पूरा कर देता है और इस प्रकार (कृष्णपक्ष एवं शुक्ल पक्ष के आने और जाने की) झूले की क्रीडा के द्वारा प्रत्येक प्राणी के हृदय को उल्लासपूर्ण बना देता है, उस प्रकाश के पिण्ड को मैं प्रणाम करता हूँ।

टिप्पणी

'मङ्गलादीनि, मङ्गलमध्यानि, मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते'— इस प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार उस जमाने के चोटी के मौलिक ग्रन्थकार या उनके व्याख्याकार अपनी रचनाओं की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से अवश्य उनके आदि, मध्य और अन्त पर अपने मनोनीत इष्टदेव का स्मरण करते थे। आमतौर पर यह स्तुतिपाठ छन्दोबद्ध पद्यरचना के रूप में किया जाता था परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इसके अपवाद नहीं थे। किन्ही परिस्थितियों में मङ्गलाचरण करते समय एक पूरा पद्य लिखने के स्थान पर केवल एक माङ्गलिक शब्द लिखकर ही आन्तरिक विमर्शशक्ति के द्वारा ईप्सित देवता का आह्वान और उसके साथ आत्मिक एकाकारता सम्पन्न की जाती थी। प्रसिद्ध माघकवि का शिशुपालवध इसका ज्वलन्त उदाहरण है। वहां पर कवि ने रचना का आरम्भ करते समय– 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्' इत्यादि प्राथमिक पद्य में पहले 'श्री' शब्द का उल्लेख करने से ही मङ्गलाचरण किया है। अस्तु, इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध व्याख्याकार श्रीक्षेमराज ने भी तात्कालिक प्रचलित परम्परा का अनुसरण करते हुए श्रीसाम्बपञ्चाशिका जैसे अतिगहन स्तुतिग्रन्थ की व्याख्या आरम्भ करने से

पहले शाश्वतिक सत्तावान एवं अनादिनिधन भगवान चित्-सूर्य की वन्दना की है।

इस परिप्रेक्ष्य में यह बात स्मरणीय है कि स्तुतिपाठ का विषय बनाई जानेवाली देवता का विमर्श तीन रूपों में किया जाता है :

१. इष्टा देवता— शैव सन्दर्भ में वास्तविक देवता केवल परम शिव है, शक्ति घन शिव। शेष देवता, जैसे श्रीनारायण, गणेश, श्री सूर्यदेव इत्यादि, उसके अपनी ही स्वतन्त्र इच्छाशक्ति द्वारा परिगृहीत रूपान्तरमात्र हैं। अब यह किसी भी साधक की रुचि पर निर्भर करता है कि उसका स्वाभाविक हार्दिक लगाव अनादिपुरुष के किस रूपान्तर के साथ विशिष्ट रूप से संलग्न हो। फलत: भक्तजन को भगवान के लिए जिस किसी रूप के साथ सच्चा आत्मिक तादात्म्य हो वही उसकी इष्टा-देवता मानी जाती है।

२. समुचिता-देवता— किसी भी शास्त्रकार की रचना में पाये जाने वाले वस्तुविषय के अनुरूप अथवा उचित देवता को समुचिता-देवता कहते हैं। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध कवि भर्तृहरि ने अपने श्रृङ्गारशतक में वर्ण्य विषय के अनुरूप कामदेव की स्तुति, इन शब्दों में की है– 'तस्मै नमो भगवते मकरध्वजाय'।

३. समुचितेष्टा-देवता— जब कोई रचनाकार अपनी रचना में किसी अपने इष्टतम देवता की स्तुति करने के साथ आगे समूची रचना का वर्ण्य-विषय भी उसी देवता को बना देता है तब उसको समुचितेष्टा-देवता कहा जाता है। प्राचीन परिपाटी में समुचितेष्टा-देवता को ही सर्वोत्त्कृष्ट देवता माना जाता था। प्रस्तुत सन्दर्भ में भी मूल स्तुतिकार श्रीसाम्ब और व्याख्याकार श्रीक्षेमराज दोनों ने परमपुरुष भगवान चित्-सूर्य का माङ्गलिक स्तुतिपाठ करने के उपरान्त उसी को अपना वर्ण्य-विषय भी बनाया है अत: यहां पर चित्-सूर्यदेव समुचितेष्टा-देवता है।

शैव सन्दर्भ में परमशिव चित्ता और आनन्दता का नीरक्षीरात्मक संघट्ट, जिसको दूसरे शब्दों में 'यामल' भी कहते हैं, है। शास्त्रीय परिभाषा में इन दोनों को क्रमश: प्रकाश एवं विमर्श कहते हैं। शिव एक अविनश्वर एवं स्वयंसिद्ध प्रकाश है परन्तु बहिरङ्ग स्थूल सूर्य, चन्द्रमा अथवा रत्नादि का जैसा जड़ प्रकाश नहीं जिसको अपने सद्भाव या असद्भाव की कोई चेतना

नहीं है। शिव प्रकाश में विमर्शमयी क्रियात्मकता अथवा स्फार की शाश्वतिक चेतना भरी हुई है। यह स्फुरणामयी चेतना ही शिव को स्वतन्त्रकर्ता अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान एवं अनुग्रह इन पांच कृत्यों को सम्पन्न करने वाली परम सत्ता बना देती है। ये पांच पारमेश्वर कृत्य ही शिवत्व का लीलाविलास अथवा क्रीड़ा है। इस विश्वात्मक क्रीडा को करने के लिए सक्षम शक्तिन को ही वास्तविक देवता होने का सौभाग्य प्राप्त है।

देवता शब्द की व्युत्पत्ति दिव् धातु से हुई है। इस धातु के कई अर्थ है जैसे— क्रीडा, जीतने की इच्छा, व्यवहार इत्यादि। शैवशास्त्रियों ने इस मूलधातु के इन्ही अर्थों के आधार पर देवता शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार से किया है :—

i. क्रीडा करना— परमशिवसत्ता चित्-शक्ति होने के कारण स्वतन्त्रता एवं स्वेच्छा से अपने स्वरूप का बहिरंग विश्वरूप में विस्तार (सृष्टि) और अन्तरंग संवित्‌रूप में संकोच (संहार) करती रहती है। यही उसकी क्रीडा या लीला विलास है। यही शिवत्त्व का स्वभाव है। इसी को देवत्व कहते हैं।

ii. विजयी होने की इच्छा— प्रस्तुत सन्दर्भ में विजयी होने की इच्छा से सर्वोत्कृष्ट अनुत्तरपदवी पर कूटस्थ रूप में अवस्थित रहने का अभिप्राय है। परम् शिवमयी इच्छाशक्ति ही अनुत्तरपदवी पर अविचल रूप में अवस्थित रहनेवाली देवता है।

iii. व्यवहार करना— विश्व का सारा व्यवहार ज्ञान, स्मृति, संशय, निश्चय, तर्क, वितर्क इत्यादि रूपों में चलता रहता है। यह सारा कार्यकलाप मूलतः परमशिवमयी विमर्शशक्ति की ही स्वाभाविक स्पन्दना है क्योंकि यह स्पन्दना ही सर्वव्यापी चेतना बनकर अजड़ को जड़ से पृथक् कर देती है और संसार के सारे व्यवहार चलाती है। अतः यही प्रमुख देवता है।

iv. द्युतिमान होना— विश्व में दिखाई देने वाले सारे नीलरूपी एवं सुखरूपी अथवा जड़ एवं चेतनरूपी पदार्थ तभी हैं जबकि वे अवभासमान हैं। अवभासमान पदार्थों को भ्रान्ति का लेबल लगा कर झुठलाया तो नहीं जा सकता है। फलतः कोई असीम प्रकाशमानता ही भिन्न-भिन्न रूपों में

अवभासित होकर विश्व कहलाती है। वह मौलिक प्रकाशमानता स्वयं द्युतिमान एवं अविनश्वर दीप्ति है अतः वह देवता है।

v. स्तुति करना— स्तुतिकार और स्तुत्य देवता दोनों मूलतः एक ही चित्-सत्ता होने के कारण परमार्थतः दो अलग सत्तायें हो ही नहीं सकती। फलतः यह कहने में कोई अतिशयोक्ति या मिथ्याभास नहीं है कि वास्तव में स्तुत्य देवता स्तुतिकार के रूप में स्वयं अपनी ही स्तुति (स्वरूप-विमर्श) करनें में निरत रहती है। अतः जो आत्मिक रूप में एकाकार सत्ता (परमशिवमयी) है वही परम देवता है।

vi. गतिमान होना— स्वच्छन्द एवं स्वच्छ परमशिवमयी चित्-शक्ति देश, काल एवं आकारजनित इयत्ताओं को जन्म देकर विभिन्न प्रकार के विचित्र प्रमाता एवं प्रमेय पदार्थों का बहिरङ्ग अवभासन करती है परन्तु उन सबों में स्वयं अपने विशुद्ध रूप में ही निहित रहकर गतिमान अर्थात् स्पन्दायमान बनी रहती है।

इन अर्थों के आधार पर परमशिवमयी चित्-शक्ति ही वास्तविक देवता कही जा सकती है। इसी कारण से प्रस्तुत पद्य में 'देवता' शब्द से प्रत्येक भौतिक काया से सम्बन्धित इन्द्रियवर्ग में विभिन्न रूपों में काम करने वाली करणशक्ति का अभिप्राय लिया गया है।

बाहरी सूर्यदेव के सन्दर्भ में इस 'देवता' शब्द से प्रख्यात इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवताओं का अर्थ लिया जाता है। इन्द्रादि के देवता होने का मूल कारण यही है कि वे उसी देवतारूपिणी महान पारमेश्वरी शक्ति के रूपान्तरमात्र हैं और उसी की निर्बाध इच्छा के द्वारा प्रेरित होकर अपने अपने अधिकार की भूमि में सृष्टि-संहार आदि पांच कृत्य ठीक उसी प्रकार स्वतन्त्रता से कर सकते हैं जिस प्रकार वह स्वयं आब्रह्मस्तम्भपर्यन्त विश्व के परिप्रेक्ष्य में कर सकती है।

भगवान अभिनव ने 'देवत्व' के सन्दर्भ में अपना मन्तव्य निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है :—

'परा एव च संवित्— 'देवी' इत्युच्यते। इयता पश्यन्त्यादिसृष्टिक्रमेण बाह्यनीलादिपर्यन्तेन स्वविमर्शानन्दात्मना क्रीडनेन, सर्वोत्तीर्णत्वेन सर्वोत्कर्षावस्थितेर्भगवतो भैरवस्य व्यवहारकरणेन तथा स्थातुमिच्छया विजिगीषात्मना,

इयदनन्तज्ञानस्मृतिसंशयनिश्चयादिव्यवहारकणेन, सर्वत्र च भासमाने नीलादौ तन्नीलाद्यात्मभासनरूपेण द्योतनेन, सर्वैरेव तदीय प्रकाशावेशैस्तत्प्रवणैर् स्तूयमानतया, यथेच्छञ्च देशकालावच्छेदे सर्वात्मतागमनेन मुख्यतो भैरवनाथस्यैव देवत्वमिष्यते, तच्छक्तेरेव भगवत्या देवीरूपता . . . . एवं विध मुख्यपारमैश्वर्यमयदेवत्वांशांशिकानुग्रंहाद्विष्णुविरिञ्चादिषु देवता व्यवहारः।' (प० त्रिं० भाषा पृ० ९-१२)

इस मङ्गल पद्य में जिस प्रकार के प्राणाभ्यासक्रम का वर्णन किया गया है उसका स्पष्टीकरण स्तुतिकार श्रीसाम्ब ने स्वयं आगे चल कर श्लोकाङ्क १९, २० में किया है।

मूलग्रन्थ

एतदावेशवैवश्य प्रोन्मिषद्धिषणा वयम्।
विमृशामो मनाक्छ्रीमत्साम्बपञ्चाशिकास्तुतिम्॥

अनुवाद—अपने रोम रोम में इस चिद्भानु (परमहिमामयी चित्-देवी) का आवेश होने के फलस्वरूप हमारी प्रज्ञा परवशता के बन्धन से छूट गई है और इसमें अनोखा निखार आया है, अतः हम श्रीसाम्बपञ्चाशिकामयी स्तोत्र के रहस्य का थोड़ा सा विमर्श कर रहे हैं।

टिप्पणी

'आवेश' शब्द शैवशास्त्र का एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। इसका सीधा सम्बन्ध पारमेश्वर के तीव्रतम अनुग्रह का पात्र बने हुए सिद्धजनों की लोकोत्तर अनुभूति से जुड़ा हुआ है। तीव्रातितीव्र शक्तिपात के अधिकारी भक्तजनों पर कभी कभी भगवान शिव ऐसा अनुग्रह करते हैं कि वे केवल अन्तस् में ही नहीं, प्रत्युत अन्तः-बहिः शिवमय ही बन जाते हैं। उनकी उस अवस्था को शिवत्व का आवेश होना कहते हैं। इसी कारण से उल्लिखित भाषानुवाद में इस शब्द को कोई क्षति पहुंचाये बिना अपने यथावत् रूप में ही रहने दिया है। ऐसे आकस्मिक पारमेश्वर आवेश के विषय में भगवान उत्पलदेव ने भी एक बार कहा है :—

'न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्॥'

(शि० स्तो० पृ० २)

'शिवाभासः-शिवरूपस्वात्मप्रथा'— क्षेमराजविवृति'।

(वहीं पर)

२. यहां पर मूलग्रन्थ के 'वैवश्य' शब्द का अभिप्रायः परवशता नही, प्रत्युत परवशता का अपगम है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'वि' उपसर्ग विश्लेष और प्रश्लेष दोनों अर्थों को अभिव्यक्त करता है। अतः यहां पर श्रीक्षेमराज 'वैवश्य' शब्द से यही अभिप्राय अभिव्यक्त कर रहे हैं कि चित्शक्ति का आवेश होने के फलस्वरूप उनकी प्रतिभा मायीय परवशता से मुक्त हो गई है।

मूलग्रन्थ

सोऽयं परामृतरसो रसज्ञैरिह रस्यताम्।
आयुष्याज्यामृतस्पर्शः शतपद्या हि शान्तये॥

अनुवाद—मेरी शुभकामना यह है कि लोकोत्तर आनन्दमयता के रसिक जन 'शतपदी' अर्थात् सौ सौ चरणों से अन्धाधुन्ध आगे बढती हुई माया को शान्त करने के लिए इस (साम्बपञ्चाशिकारूपी) परम अमृतरस का आस्वाद लेते रहें। निश्चय से (किसी यज्ञादि में अभिमन्त्रित) आयुवर्धक घृतरूपी अमृत का स्पर्शमात्र ही 'शतपदी' अर्थात् कनखजूरे को शान्त करने के लिए पर्याप्त होता है।

१. टिप्पणी— लोकप्रसिद्धि यह है कि घृत का स्पर्श हो जाने से कनखजूरा गल जाता है।

२. ध्यानाकर्षण— यहां पर काव्यमाला १३ वाले साम्बपञ्चाशिका संस्करण में निम्नलिखित पादटिप्पणी लिखी हुई है। इससे यह तथ्य प्रमाणित होता है कि इस पञ्चाशिका की रचना भगवान् वासुदेव के आत्मज श्रीसाम्ब ने ही की है। पाठकों के हितकार के लिए इस टिप्पणी को यथावत् रूप में यहां उद्धृत किया जा रहा है:—

"इयं सूर्यस्तुतिर्भगवतो वासुदेवस्य पुत्रेण वृष्णिवंशभूषणेन श्रीसाम्बेन प्रणीतेति टीकाकारः प्रारम्भे समाप्तौ च वदति। वराहपुराणे चैकसप्तत्युत्तरशततमेऽध्याये—

"ततः साम्बो महाबाहुः कृष्णाज्ञप्तो ययौ पुरीम्।
मथुरां मुक्तिफलदां रवेराराधनोत्सुकः॥"

साम्ब ! पञ्चाशकैः श्लोकैर्वेदगुह्यपदाक्षरैः।
यत्स्तुतोऽहं त्वया वीर तेन तुष्ठोऽस्मि ते सदा।
इत्यादिश्लोकैः साम्बस्य पञ्चाशच्छ्लोकात्मकरवि
स्तुति निर्माणं प्रतीयते। स्तुतिस्तु तत्र नास्ति . . .।

अयं टीकाकारो राजानकक्षेमराजस्तु कश्मीरेषु ख्रिस्ताब्दीयैकादशशतकप्रारम्भ आसीत्, यतोऽयमात्मानं श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तशिष्यंत्वेन वर्णयति।

अनुवाद—प्रस्तुत सूर्यस्तुति की रचना भगवान वासुदेव के पुत्र एवं यादवकुल के अलंकारभूत श्रीसाम्ब ने की है, टीकाकार ने इस बात का उल्लेख (ग्रन्थ के) आरम्भ और समाप्ति दोनों स्थानों पर किया है।

वराहपुराण के १६९वें अध्याय में

"इसके उपरान्त बड़ी भुजाओं वाला साम्ब सूर्यदेव की उपासना करने की उत्कण्ठा से भगवान कृष्ण की आज्ञा से मुक्तिफल को देने वाली मथुरा नगरी को चला गया।"

"हे वीर साम्ब ! आपने जो वेदों के रहस्य अर्थों से गर्भित शब्दों एवं, अक्षरों से संरचित पच्चास श्लोकों के द्वारा मेरी स्तुति की है, उससे मैं (चित्-सूर्यदेव) आप पर हमेशा सन्तुष्ट हूँ।" इत्यादि पद्यों का उल्लेख मिलता है जिससे यह बात निश्चित हो जाती है कि प्रस्तुत श्लोकों वाली स्तुति की रचना साम्बजी ने की है, हालांकि यह स्तुति वहां (वराहपुराण में) नहीं मिलती है।

प्रस्तुत टीकाकार राजानक श्रीक्षेमराज कश्मीर प्रदेश में ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए हैं, क्योंकि उन्होंने अपने आप को आचार्य अभिनवगुप्त जी का शिष्य उद्घोषित किया है।"

टीकाकार का उपोद्घात समाप्त

श्रीसाम्बपञ्चाशिका

श्लोक १

उपक्रमणिका

समस्तागममहाम्नायरहस्यविन् महायोगिसहस्रसंप्रदायपूर्णः श्रीवासुदेवस्य भगवतः पुत्रः श्रीसाम्बः स्वात्मविवस्वत्स्तुतिं जगतोऽनुग्रहाय वक्तुम् उपक्रमतेः—

अनुवाद— श्रीसाम्ब, जोकि सारे आगमशास्त्रों (शैव आगमों) और महामहिमाशाली आम्नायों (वेद ग्रन्थों) में वर्णित रहस्यों में निष्णात, हजारों पहुंचे हुए योगिजनों के द्वारा स्वीकृत सम्प्रदायों के मर्मज्ञ और भगवान श्रीवासुदेव के सपुत्र थे, सारे जगत पर अनुग्रह करने की अभिलाषा से अपने आत्मस्वरूप चित्-सूर्य की स्तुति का गान आरम्भ कर रहे हैं:—

ग्रन्थकार का मङ्गलाचरण

मूलश्लोक

शब्दार्थत्वविवर्तमान परमज्योतीरुचो गोपते-
रुद्गीथोऽभ्युदितः पुरोरुणतया यस्य त्रयीमण्डलम्।
भास्वद्वर्णपदक्रमेरिततमः सप्तस्वराश्वैर्वियद्
विद्यास्यन्दनमुन्नयन्निव नमस्तस्मै परब्रह्मणे।।

अन्वय— शब्द— अर्थत्व - विवर्तमान - परम - ज्योति - रुचः यस्यगोपतेः, भास्वत्-वर्ण-पद-क्रम-ईरित-तमः त्रयी-मण्डलं विद्यास्यन्दनं, सप्त-स्वर-अश्वैः वियत् उन्नयन् इव, उद्गीथः पुरा अरुणतया अभि-उदितः, तस्मै परब्रह्मणे नमः (अस्तु)।

अनुवाद– (बहिरङ्ग विश्व में) शब्दों और (उनके संकेतित) अर्थों के रूप में (निरन्तर) प्रवर्तित होती हुई परम उत्कृष्ट ज्योति (चित्-प्रकाश) के द्वारा दीप्तिमान जिस (चारों) वाणियों के अधिपति भगवान चित्-सूर्य देव के, प्रकाशमान वर्णों और पदों के द्वारा (अज्ञानरूपी) अन्धकार को हटाने वाले और शुद्धविद्यारूपी रथ के समान वेदत्रयी के मण्डल को, सात स्वररूपी घोड़ों[१] के द्वारा ऊपर चिदाकाश की ओर मानो हाँकता हुआ, 'उद्गीथ'– ओंकाररूपी प्रणव (ब्रह्मा जी के द्वारा साक्षात् वेदऋचाओं का उच्चार होने से) पहले (सूर्य के सारथी) अरुण[२] की भान्ति उदित हुआ है, उस सर्वव्यापी परब्रह्म को नमस्कार हो।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– तस्मै परस्मै सर्वोत्कृष्टाय, विश्वपूरणादिकर्त्रे च। अत एव च अभाव-शान्त ब्रह्म-चित्रब्रह्मादि-सर्वब्रह्मक्रोडीकर्त्रे, ब्रह्मणो बृहते व्यापकाय, वृंहणीयाय च, विश्वकर्त्रे चिदात्मने नमः। देहादिप्रमातृताप्रशमनेन तदेव आविशामि-इत्यर्थः।

अनुवाद– 'तस्मै' शब्द का अभिप्राय सब से उत्कृष्ट और पराभूमिका पर अवस्थित और विश्व की प्रक्रिया (सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह) को पूरा करने वाले स्वतन्त्र कर्ता के प्रति अभिमुख होना है। इसी कारण से 'तस्मै परब्रह्मणे नमः' इन शब्दों से यह अर्थ निकलता है कि उस चिदात्मा को नमस्कार हो जो अभावब्रह्म[३], शान्तब्रह्म[४] अथवा चित्रब्रह्म[५] इत्यादि रूपों में कल्पित सारे ब्रह्मों को अपने स्वरूप में समाकर अवस्थित 'बृहत्' अर्थात् सर्वव्यापक और बृंहक अर्थात् पुष्टिदायक, और समूचे विश्व का (एक ही) कर्ता[६] है। नमस्कार करने का अर्थ यह है कि मैं (स्तुतिकर्ता) अपने में शरीर[७] इत्यादि सम्बन्धित प्रमातृभाव का पूरा शमन करके उस परब्रह्म (चिदात्मभाव) में ही समाविष्ट हो जाता हूँ।

मूलग्रन्थ– यस्य ब्रह्मणः सम्बन्धि, ऊर्ध्वम् अशेषविश्वाभेदात्मतया, उत्कृष्टतया गीयते विमृश्यत इति-उद्गीथः प्रथमोन्मेषात्म प्रणवो ध्वनिः।

अनुवाद– जिस परब्रह्म के साथ सम्बन्धित 'उद्गीथ' से उस प्रणव अर्थात् ओंकाररूपी नाद (विमर्शात्मक स्पन्दन) का अभिप्राय व्यक्त होता है

जोकि सर्वाङ्गीण शब्दब्रह्म के बहिर्मुखीन विकास का प्राथमिक उन्मेष (बहिर्मुखीन उच्छलन) माना जाता है। 'उद्गीथ' शब्द का ऐसा अर्थ लगाने के मूल में इसके दो प्रकार के विग्रह हैं जो इस प्रकार हैं:—

(क) ऊर्ध्वम् अशेष-विश्व-अभेदात्मतया गीयत इति उद्गीथ:

(ख) उत्कृष्टतया गीयत इति उद्गीथ:।

तात्पर्य यह कि उद्गीथ उस प्रणवमयी[८] अनाहत ध्वनि को कहते हैं जिसका विमर्श 'ऊर्ध्व' अर्थात् सारे विश्व के साथ अभेंदभाव में व्याप्त रहनेवाली सत्ता के रूप में किया जाता है, अथवा (२) जिसका विमर्श सारे वाङ्मय में उत्कृष्टता से किया जाता है। साधना के क्षेत्र में गान करने का अभिप्राय आंतरिक रूप में विमर्श करना होता है।

मूलग्रन्थ— देवतास्तुति-कर्मप्रधान साम-ऋक्-यजुर्वेदाख्या त्रय्येव शाखाप्रपञ्चक्रोडीकृतसमस्ताम्नायवाक्यैकवाक्यताव्याप्त्या मण्डलम्।

अनुवाद— 'त्रयी' शब्द तीन वेदों के समुच्चय अर्थात् परमात्मदेव की स्तुति की प्रधानता से युक्त सामवेद और ऋक्-वेद और (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञीय विधिविधानों की प्रधानता से युक्त यजुर्वेद का वाचक है। यह त्रयी अपनी शाखाओं के विस्तार को अपने में समाने के फलस्वरूप समूचे वैदिक आम्नाय में वर्णित वाक्यों में एकवाक्यता अर्थात् उद्गीथरूपी अखण्डवाक्य के द्वारा व्याप्त होने के कारण भगवान चित्सूर्यदेव का मण्डल कही जाती है।

मूलग्रन्थ— अतश्चैतत्सर्वासां विद्यानां मन्त्रशास्त्रविज्ञानानां स्यन्दनमास्पदं प्रसवकारणञ्च, कर्मभूतं वियत् पराकाशम् उन्नयन्नुल्लासयन् तन्मयत्वमापादयन्निव, पुरः प्रथमम्, अरुणतया अतिदीप्तत्वेन, उदितः स्वयमुन्मिषितः। वियन्मयस्याप्यस्य दीप्तस्य, उन्मेषावष्टम्भपुरःसरं तथा स्फुरणाद् उन्नयन्निवेत्युक्तम्।

अनुवाद— फलतः तात्पर्य यह निकलता है कि यह त्रयीमण्डल सारी विद्याओं अर्थात् मन्त्ररूप एवं शास्त्ररूप ज्ञानविज्ञान का स्यन्दन[९] अर्थात् स्थान अथवा बहिरङ्ग अभिव्यक्ति (प्रसूति) का मूल कारण है। (श्लोक में) यह शब्द कर्मवाचक है। (पदसङ्गति इस प्रकार है—) यह उद्गीथ (प्रणव) इस त्रयीरूपी विद्यास्यन्दन को ऊपर चिदाकाश की ओर उदित करता हुआ

मानो उसको (चिदाकाश के) साथ एकाकार बनाता हुआ जैसा पहले अर्थात् (ब्रह्मा जी के मुखकमल से) बाहर की ओर उच्छलित होने से पहले (सूर्यसारथी अरुण की भान्ति) 'अरुण' अर्थात् अत्यन्त ओजस्विता के रूप में स्वयं उन्मिषित (प्राथमिक नादरूपता में) उच्छलित हुआ है।(श्लोक में) 'उन्नयन्' इस क्रियापद के साथ 'इव' लगाने का कारण यह बात जतलाना है कि यद्यपि यह उद्गीथ स्वरूपतः चिदाकाशमय और ओजस्विता से परिपूर्ण (परमतत्त्व) है तो भी (उस सहसा उच्छलित होने की वेला पर) एकतानभाव में निजी उन्मेष अवस्था पर टिका रहकर 'उस प्रकार' अर्थात् त्रयीमण्डल का उदय करवाने वाले रूप में स्फुरायमान हो उठा है।

मूलग्रन्थ—एतच्च त्रयीमण्डंल भास्वद्भिः प्रोद्गीथारुणिम्ना स्फुरितैः, वर्णपद क्रमैरक्षरवाचकतदानुपूर्वीभिः, ईरितं ध्वस्तं तमोऽज्ञानं येन तादृक्— उच्चारणपदार्थवाक्यार्थप्रतिपत्तिषु परमचिदभेदविश्रान्तिदमित्यर्थः।

अनुवाद— यह (त्रयीमण्डल) भी ऐसा है कि इसने 'प्रकाशमान' अर्थात् उद्गीथ की लालिमा से (ओजस्विता से) स्फुरणा में लाये गये अक्षरों, वाचक पदों और उनकी क्रमबद्ध संरचनाओं के द्वारा सारे अज्ञानरूपी अन्धेरे का नाश कर डाला है। तात्पर्य यह कि अक्षरों का उच्चारण करने, शब्दों का अर्थ समझने और वाक्यों के अभिप्राय को हृदयङ्गम बनाने की वेलाओं पर यह (त्रयीमण्डल) समानरूप से परम चित्-शक्ति के साथ आत्मिक अभेद की आनन्दमयता में डुबो देता है।

मूलग्रन्थ — केन वियदुन्नयन्? सप्त ये स्वराः स्वयं राजमाना विश्वाक्षेपिणो वर्णाः पश्यन्त्यादिप्रवर्तनप्राणितकल्पाः, षड्जादिध्वनिविमर्शाः त एव सर्वत्र आशुसञ्चारित्वाद् अश्वास्तैः।

अनुवाद— प्रश्न यह है कि (यह उद्गीथ) किसके द्वारा (त्रयीमण्डल को) चिदाकाश की ओर उच्छलित करवाता है? समाधान यह है कि (१)— षड्ज इत्यादि (संगीतशास्त्र में प्रसिद्ध) सात प्रकार की ध्वनियों के विमर्शरूप (परावाणी में अवस्थित स्पन्दनारूप) अथवा समूची बहिरङ्ग विश्वमयता को स्वरूप में संजोये हुए वर्णों (अ से लेकर अः तक के स्वरों) के रूपवाले घोड़ों के द्वारा। सारे स्वर वर्णों को स्वयं ही (आन्तरिक विमर्शमयी स्पन्दनाओं के रूप में) सदा प्रकाशमान होने के कारण स्वर्[१०] यह नाम दिया गया

है— 'स्वराः स्वयं राजमानाः'। दूसरी ओर ये स्वर वर्ण ही (पराभाव से उतर कर) पश्यन्ती इत्यादि वाणियों को प्राण देते हैं। इन स्वरों को प्रस्तुत प्रसंग में (परावाणी में वैखरीवाणी तक) अत्यन्त तीव्रगति में संचार करने के कारण अश्वों का नाम दिया गया है। ऐसे ही अश्वों के द्वारा (उद्गीथ त्रयीमण्डल को उदित करा देता है)।

मूलग्रन्थ— यस्य ब्रह्मणः कीदृशस्यः? गोपतेः परादिवाक्प्रभो-र्मरीचिचक्रेश्वरस्य च। अत एव शब्दार्थत्वेन नानालौकिकेतरशब्द-तदर्थ-तत्सम्बन्धैर्विचित्रतया वर्तमानं, स्वातन्त्र्यादेतद्वैचित्र्याभासात्म यत्परं ज्योतिः शाक्तं वीर्यं तेन च रुग् दीप्तिर्यस्य।

अनुवाद— प्रश्न यह है कि (श्लोक में) 'यस्य' शब्द के द्वारा निर्दिष्ट परब्रह्म का रूप कैसा है? समाधान में यह स्पष्टीकरण देते हैं कि परब्रह्म वही है जोकि परा इत्यादि चारों वाणियों का अधिपति और सारी इन्द्रिय शक्तियों के चक्र का नियामक है। इसी हेतु इस परिप्रेक्ष्य में दो तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। एक यह कि (विश्वमय रूप में वह परब्रह्म) नाना प्रकार के शब्दों, उनके अर्थों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों की विचित्रताओं में वर्तमान रहनेवाला तत्त्व है, और दूसरा यह कि (विश्वोत्तीर्ण रूप में वह परब्रह्म) स्वतन्त्रता से इस प्रमेय विश्व की विचित्रताओं को आभासित करने वाली परम ज्योति अर्थात् निजी शक्तिमय वीर्य (पर-अहंभाव) से सदा दीप्तिमान है।

मूलग्रन्थ— बाह्यस्यापि सूर्यस्य :—

'ज्ञानशक्तिः परा ह्येषा तपत्यादित्यविग्रहा।' (स्व० तं० १०,४९९)

इत्याम्नायनीत्या परब्रह्मप्रतिबिम्बकल्पस्य प्रणवव्याप्तिकोऽरुणः पूर्वमुदितः। त्रयीव्याप्तिकं मण्डलम्, इतरविद्याव्याप्तिकं च स्यन्दनं कर्म। भास्वद्वर्णैः पदक्रमैर् देदीप्यमानचरणविन्यासैर् ईरिततमसो ये सप्तस्वरव्याप्तिका अश्वास्तैर्वियद् उत्क्षिपति।

अनुवाद— बाहरी सूर्यदेव के सन्दर्भ में भी :—'यह[११] तो परमेश्वर की ज्ञानशक्ति ही सूर्यदेव का शरीर धारण करके (संसार को) ऊष्मा दे रही है।' इस आम्नाय वाक्य में समझाई गई नीति के अनुसार यह कहना

युक्तियुक्त है कि वह (सूर्य) भी परब्रह्म का प्रतिबिम्ब जैसा है और (उसका प्रसिद्ध सारथी) अरुण, जिसमें ओंकार की व्यापकता स्वीकारी गई है, सब से पहले उदित होता है। उसके सन्दर्भ में भी तीन वेदों की व्यापकता से युक्त 'मण्डल' और वेदेतर विद्याओं की व्यापकता से युक्त (स्यन्दन' (रथ) दो कर्मवाचक पद हैं। वह भी सात स्वरों की व्यापकता से युक्त अपने सात घोडों के द्वारा, जोकि अपने भड़कीले सात रंगों और चमकीले खुरों की चाल से (रात के) अन्धेरे को तितर-बितर कर देते हैं, (अपने मण्डल और रथ को) ऊपर आकाश में उदित करा देता है।

मूलग्रन्थ— अथ च विचित्रवाच्यवाचकात्मजगद्वृत्तेश्चिच्चक्रेश्वरस्य उद्गीथः शक्त्यङ्कुरोन्मेषो दीप्तः। ब्रह्मविष्णु-रुद्र, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, ब्रह्म-मूल-मायाण्डादि त्रयीमण्डलम्। वियद् व्यापकम्। 'वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्वबोधना।' इत्याम्नायनिरुक्तोन्मनाख्या विद्यास्यन्दनम्। स्वरैर्विचित्रैर्ध्वनिभिर् उन्नयन्निव प्रथमम् उदितः। किं कृत्वा? भास्वतां वर्णानाम् अकारादिमात्राणं, पदानां बिन्द्वादिविश्रान्तीनां क्रमेण परिपाट्या ईरितं तमः समनान्तं पाशजालं येन।

अनुवाद— (शैव-दृष्टि से)[१२] दूसरे प्रकार से भी (श्लोक के) शब्दों की व्याख्या हो सकती है। (अन्तर्मुखीन ऊर्ध्वप्रसार की प्रक्रिया में) 'उद्गीथ' शब्द, विचित्र रूपों वाले वाच्य अर्थों और वाचक शब्दों से चलने वाले जगत्-व्यवहार के संचालक और पारमेश्वरी शक्तियों के चक्र के नियामक चिद्-देव के स्वरूप में से ही आभासमान होने वाले अति तेजस्वी शक्ति-अंकुर के पहले उन्मेष का वाचक है। 'त्रयीमण्डल' शब्द 'ब्रह्म, विष्णु, रुद्र,' 'जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति,' शक्ति अण्ड, माया अण्ड, प्रकृति अण्ड' इत्यादि रूपों वाले त्रिकों के वर्गों को ध्वनित करता है। 'वियत्' शब्द सर्वव्यापकता के भाव को अभिव्यक्त करता है। इसके अतिरिक्त :—

'(साधक के अंतस् में) अनादिता इत्यादि प्रकार के पारमेश्वर धर्मों की संवेदना उत्पन्न होने को ही परमेश्वर-भाव का बोध होना कहते हैं इत्यादि आगमवाक्यों में वर्णित उन्मनाभाव[१३] (तुर्यातीत अवस्था) को 'विद्यास्यन्दन' कहा जाता है। (फलतः अर्थ की सङ्गति इस प्रकार है कि शक्तितत्त्व का अभ्युत्थानरूपी उद्गीथ सर्वव्यापी त्रयीमण्डल को) 'स्वरों से' अर्थात् विचित्र

प्रकार की संरचनाओं वाले मन्त्रों की ध्वनियों (अन्त: विमर्शमय स्पन्दनाओं) के द्वारा ऊपर की ओर खींचता हुआ जैसे सबसे पहले उदय में आया हुआ है।

प्रश्न यह है क्या करने के उपरान्त (इस उद्‌गीथ ने ऊर्ध्वगति[१४] को पकड़ लिया है) ?

समाधान इस प्रकार है कि इसने पहले प्रकाशरूपी 'अकार इत्यादि मात्राओं और 'पद' अर्थात् बिन्दु[१५] इत्यादि प्रकार के विश्रान्ति के स्थानों पर धीरे-धीरे समनाभाव[१६] तक के सारे पाशों के जालरूपी अन्धकार को ध्वस्त करके रखा है।

टिप्पणियां

१. प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में जिस समय भगवान ब्रह्मा जी ने अपने हृदयमण्डल में अवस्थित परम पवित्र वैदिक वाङ्मय का वैखरीवाणी के द्वारा उच्चारण करना आरम्भ कर दिया तो उनके मुखकमल से पहले, समूचे शब्दब्रह्म को अन्तर्निहित रखनेवाला ओंकाररूपी प्रणव, सहसा उनके कण्ठप्रदेश का अवभेदन करके वैखरी रूप में उन्मिषित हुआ। साथ ही इस प्रणव का अव्यवहित अनुगामी 'अथ' शब्द भी अतितीव्रगति में उच्चरित हुआ। ये दोनों शब्द 'ओम् अथ' अत्यन्त माङ्गलिक पद समझे जाते हैं। इस सम्बन्ध में कहा गया है:—

'ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥'

२. पौराणिक विश्वास के अनुसार सूर्य के सारथी का नाम अरुण है। इसका यह नामकरण इसके अत्यन्त सुन्दर ललिमामय होने के कारण किया गया है। उषाकालीन आकाश में फैली हुई अवर्णनीय लालिमा इसी की प्रभा होती है। इसका दूसरा नाम अनूरु अर्थात् ऊरुओं से रहित भी है क्येंकि गाथा के अनुसार यह ऊरुओं से रहित ही जन्मा हुआ था।

३. अत्यन्त प्राचीन काल अथवा यूँ कहिये उपनिषद्‌काल् से ही भारतीय चिन्तनधारा, मूलभूत शाश्वतिक सत्ता के वास्तविक स्वरूप का विमर्शात्मक साक्षात्कार करने की दिशा में सक्रिय रही है। परब्रह्म के स्वरूप के संदर्भ में अति उत्कट आध्यात्मिक साधना में निरत मनीषियों

ने अपनी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के आधार पर भिन्न भिन्न परिकल्पनायें प्रस्तुत की हैं। प्राचीन वेदान्तियों ने अभाव को ही सर्वव्यापी परब्रह्मसत्ता स्वीकारा है। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् (३.१७.१) 'असदेवेदमग्र आसीत्' के अनुसार स्थूल जगत् की सृष्टि से पहले चारों ओर असत् ही असत् था। उस असत् से ही सत् की उत्पत्ति हुई और उसी में इसका लयीभाव भी होना है। अत: यह द्विमुखी असत् या अभाव ही वास्तविक सर्वव्यापी सत्ता होने के कारण परब्रह्म-सत्ता है। इनके इस मन्तव्य का नाम अभावब्रह्मवाद और परब्रह्म का अभावब्रह्म पड़ा।

४. भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक भगवान शंकराचार्य ने विशुद्ध प्रकाशपक्ष को लेकर परब्रह्म को केवल ज्ञानरूप ठहराया। जहां तक विमर्शमयता अथवा क्रियापक्ष का सम्बन्ध है, उनके मन्तव्यानुसार ज्ञानरूप परब्रह्म स्वरूपत: निष्क्रिय है। साथ ही उनके विचारानुसार अनादिकाल से ही चली आती हुई अविद्या से उपेहित होकर ही परब्रह्म ईश्वर बनकर कर्त्ता बन जाता है। विशुद्ध परब्रह्मरूप में, उसमें कोई कर्तृत्त्वमयी स्फुरणा न होने के कारण, वह शान्त अर्थात् निष्क्रिय है। शैव दार्शनिक इस विचार से सहमत नहीं हैं। इनके मन्तव्यानुसार प्रकाशरूपी चित्-सत्ता कभी भी विर्मशहीन अथवा निष्क्रिय (जड़प्राय) नहीं हो सकती है। अत: उन्होंने शंकर के परब्रह्म को शान्तब्रह्म का नाम दिया।

५. यहां पर टीकाकार क्षेमराज ने 'चित्रब्रह्म' शब्द के द्वारा प्राचीन श्रुत्यन्तविदों की एक शाखा की ब्रह्मविषयक मान्यता का उल्लेख किया है। उस मान्यता के अनुसार बहिरंग स्थूल रूप में दिखाई देने वाले तत्त्व, भुवन, भाव इत्यादि रूपों वाले विश्व-वैचित्र्य के प्रत्येक पदार्थ को, 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' इत्यादि औपनिषदिक वाक्यों के द्वारा, अपने अपने स्थान पर, एक-एक परिपूर्ण ब्रह्म स्वीकारा जाता था। उनके मन्तव्यानुसार समूचा जगद्वैचित्र्य ही व्यष्टिरूप में या समष्टिरूप में परब्रह्म का स्वरूप था और उसी का नाम चित्रब्रह्म रखा गया था।

तन्त्रालोक के व्याख्याकार जयरथ ने इस पद्य की व्याख्या में यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है :—

'सर्ववर्णाविभागस्वभावत्वादव्यक्तप्रायो योऽसावनाहतरूपो नादः स वर्णोत्पत्ति निमित्तत्वाद्वर्ण उच्यते, वर्णशब्दाभिधेयो भवेदित्यर्थः ॥'

तात्पर्य यह कि प्रणवरूपी अनाहतनाद (विमर्शमय नाद) समूचे 'अ' से 'क्ष' तक के मातृकामण्डल की मौलिक विभागरहित परविमर्शमयी अवस्था है। यह अव्यक्तप्राय है क्योंकि अभी तक यह अपने मौलिक स्पन्दनारूप में ही स्थिर है, पश्यन्ती इत्यादि वाणियों के द्वारा वैखरीरूप पर पहुंचा हुआ स्थूल ध्वनिरूप वर्ण नहीं बना है। इस अनाहत नाद को यद्यपि कोई विशेष नाम नहीं दिया जा सकता तथापि आगामी वर्णसमाम्नाय की उत्पत्ति का मूलकारण होने से 'वर्ण' शब्द से व्यवहृत होता है।

६. प्रत्यभिज्ञा, जिसको दूसरे शब्दों में पराद्वयवाद भी कहते हैं, के अनुसार परब्रह्म वही हो सकता है जो स्वरूपतः चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इनकी समन्विति हो। इसके अनुसार स्वतन्त्र ज्ञातृत्व और कर्तृत्व ही शाश्वतिक चैतन्य है और वही परब्रह्म है। ब्रह्म भी वह इसलिये है कि बृहत् (सर्वव्यापी) होने के साथ साथ यह बृंहक (स्वरूपभूत विश्वप्रसार को पुष्टि प्रदान करने वाला) भी है। वह विश्वोत्तीर्ण भी और विश्वमय भी है। पंञ्चकृत्य अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान, अनुग्रह ही परशिवात्मक स्वभाव है। माया भी तो उसकी निजी शक्ति है जिसका वह स्वतन्त्रता से उपयोग कर सकता है। स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है—

'सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ॥'

वह चित्-देव (चिद्ब्रह्म) स्वयं भी परमार्थसत् है और उसका निजी रूप विस्तार जगत् भी परमार्थसत् है। इनमें न कोई 'जगन्मिथ्या' जैसा मिथ्याभास है और न कहीं अविद्या इत्यादि से उपहित होने का घोटाला है। प्रस्तुत स्तुतिग्रन्थ में इसी परब्रह्म का 'चिद्-भानु, चित्-सूर्य' इत्यादि नामों से उल्लेख किया गया है।

७. पशुभाव में पड़ा हुआ जीव जब तक देह, प्राण, बुद्धि और शून्य इन चार प्रकार के प्रमातृभावों के फन्दे में जकड़ा रहता है तब तक उसको अपने मौलिक स्वरूपभूत पतिप्रमातृभाव की अनुभूति नहीं होने पाती है।

८. प्रणवमयी ध्वनि प्रत्येक प्राणी के अंतस् में स्वयं उच्चरित सार्वकालिक ध्वनि (स्फुरणा) है। स्वयं उच्चरित होने के कारण इसको अनाहत ध्वनि कहते हैं। यही ध्वनि समूचे शब्दब्रह्म का सूक्ष्म बीजरूप है जैसा कि काश्मीरिक जगद्धरभट्ट ने कहा है :—

ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम्।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः ॥

(स्तु० कु० १, ९)

तंत्रालोक में अभिनव का कथन है :—

'एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः ॥'

(त०आ० ६–२१६)

९. साधारणतया संस्कृत भाषा के 'स्यन्दन' शब्द से रथ का अर्थ लिया जाता है। परन्तु यहां पर श्रीक्षेमराज ने इस शब्द के दूसरे अर्थ को लेकर व्याख्या की है। इस अर्थ के अनुसार इस शब्द का अर्थ 'तीव्रगति में बहाव है अर्थात् विद्या आन्तरिक हृदयमंडल से विद्युद्गति में संचरित होकर वैखरीवाणी के द्वारा अभिव्यक्त हो जाती है।

१०. भगवान अभिनव ने श्रीपरात्रिंशिका में स्वरों की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है :—

'तदेवम् एताः कला एव ह्लादनामात्रचित्तवृत्त्यनुभावकाः स्वरा-इत्युक्ताः। १—स्वरयन्ति-शब्दयन्ति, सूचयन्ति चित्तम्, २. स्वं च स्वरूपम्- आत्मानं रान्ति एवं परप्रमातरि सङ् क्रामयन्तो ददति, ३. स्वंचात्मीयं कादियोनिरूपं, रान्ति बहिः प्रकाशयन्तो ददति इति स्वराः।

एत एव हि चित्तवृत्तिसूचका, नादात्मकाः . . . .
स्वरकाक्वादिरूपतां अश्नुवानाः प्रकाशयन्ति- इत्यर्थधर्मा उदात्तादय उपदिष्टाः, तेषामेव चित्तवृत्त्यनुभावकषड्जादिस्वरूपत्वात्'

इन उल्लिखित पक्तियों का अभिप्राय समझने के लिए कृपया श्रीपरात्रिंशिका भाषानुवाद (नीलकंठ गुरुटू) पृष्ठाङ्क ३२१-३२२ का अध्ययन करें।

इसके अतिरिक्त सङ्गीतशास्त्र में सात स्वर् माने जाते हैं। उनके नाम हैं– षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इन्हीं सात स्वरमयी स्पन्दनाओं में समूचा सङ्गीतवाङ्मय भरा हुआ है जिसकी वैखरीमयी अभिव्यक्ति सारे मानवों अथवा विशेष परिस्थितियों में कई मानवेतर प्राणियों को भी देह आदि की अभिमानिता से पल भर में मुक्त करा लेती है। प्राचीन मनीषियों ने कई मानवेतर प्राणियों की बोलियों में भी इन स्वरों की अनुगूंज का अनुभव किया है। उदाहरणार्थ:—

'षड्जं रौति मयूरस्तु गावों नन्दन्ति चर्षभम्।
आजाविकौ तु गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम्॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम्।
अश्वस्तु धैवत इति निषादं रौति कुञ्जरः॥

११. यह पद्यांश स्वच्छन्दतन्त्र से उद्धृत है। प्राचीन तान्त्रिक परम्परा के अनुसार आकाश में दिखाई देनेवाला चन्द्रमा पारमेश्वरी क्रियाशक्ति और सूर्य पारमेश्वरी ज्ञानशक्ति के प्ररूप हैं। वहां पर वर्णित तन्त्रवाक्य इस प्रकार हैं:—

'ज्ञानशक्तिः प्रभोरेषा तपत्यादित्यविग्रहा॥' तथा—
'तपते चन्द्ररूपेण क्रियाशक्तिः परस्य सा॥'

(स्व० तं० प० १०, ४९९ और ५०२)

१२. इस व्याख्या में श्रीक्षेमराजाचार्य ने शाम्भव उपाय के दृष्टिकोण से श्लोक के शब्दों की टीका प्रस्तुत की है। इसमें उन्होंने पर्याप्त स्पष्टवादिता से काम न लेकर मात्र साङ्केतिक विश्लेषण पद्धति से काम लिया है। कारण स्पष्ट है कि शाम्भव उपाय तीव्रतम अवधान के धनिक और शक्तिपात के अधिकारी साधकों को छोड़कर सर्वसाधारण विषय नहीं है। इस उपाय का स्पष्टीकरण भगवान आशुतोष ने 'उद्यमो भैरवः' (शि० सू १, ५) इस शिवसूत्र में स्वयं ही प्रस्तुत करके रखा है। उच्चाधिकारी सुप्रबुद्ध साधक के अन्तस् में सर्वातिशायी शिवचैतन्य का आकस्मिक अभ्युदय ही इस उपाय का मूल है। भगवान उत्पलदेव ने अधोलिखित पद्य में इस भाव को अभिव्यक्त किया है :—

'न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्॥'

(शि० स्तो० १, १)

इस संदर्भ में पहले निम्नलिखित पारिभाषिक शब्दों के गुरुक्रमागत अभिप्रायों को दृष्टिपथ में रखना आवश्यक है :—

उद्यम/उन्मेष

साधारण भाषिक प्रयोग में इन शब्दों से क्रमशः अत्यधिक प्रयत्नशीलता और आंखें खोलने के अभिप्राय लिये जाते हैं जिनका प्रस्तुत प्रसंङ्ग के साथ दूर का भी वास्ता नहीं है। वास्तव में 'उद्यम' शब्द उत् + यम इस विग्रह के अनुसार 'ऊपर' अर्थात् समनाभाव तक व्याप्त आत्मविस्तार को भी पीछे छोड कर शिव चैतन्य की ओर, आकस्मिक उछाल को अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार 'उन्मेष' शब्द भी ठीक इसी अभिप्राय को ध्वनित करता है। शिव के आकस्मिक अनुग्रह से ही साधक के अन्तस् में सहज रूप में ऐसी विद्या का उदय हो जाता है, उसका अपना प्रयत्न या पुरुषकार कोई माने नहीं रखता। हाँ तीव्रातितीव्र अन्तः प्रतिबोध की आवश्यकता तो है। मालिनी में भगवान का कथन है:—

'अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः॥'

तात्पर्य यह कि किसी भी प्रकार के जप, तप, योगाभ्यास इत्यादि के चिन्ताजाल से उन्मुक्त भक्तजन के अन्तस् में किसी सिद्धगुरु की कृपा से उपजे हुए अन्तः प्रतिबोध के द्वारा जो पशुचैतन्य के विशुद्ध शिवचैतन्य में आकस्मिक तन्मयीभाव की अवस्था का उदय (उद्यम/उन्मेष) हो जाता है उसी का नाम शाम्भव उपाय है। प्रस्तुत स्थल पर टीकाकार के द्वारा लिखित 'शक्त्यङ्कुरोन्मेषो' शब्दों का यही अर्थ है। क्षेमराज ने 'उद्यमो भैरवः' के सूत्र की टीका में यह स्पष्टीकरण दिया है कि बहिरङ्ग जगत् के विचित्र रूपों में प्रसरणशील संवित्-शक्ति की जो आकस्मिक उछाल अर्थात् परप्रतिभा में सर्वाङ्गीण एकाकारतारूपी उद्यम (उन्मेष) है वह सारी बहिर्मुखीन शक्तियों की अन्तर्मुखीन समरसता की निर्विकल्पमयी एवं विश्वगर्भित परिपूर्णता की

अवस्था है, वही अन्तस् में परभैरवभाव की अभिव्यक्ति का कारण होने से स्वतः भैरवमयी ही है। इस भाव की अनुभूति लाखों में किसी विरले भक्तजन को ही हो सकती है। यह अवस्था ही उद्यम/उन्मेष की अवस्था है। भगवान अभिनव ने 'गुरुणा' प्रतिबोधतः' इन शब्दों का अर्थ अत्यन्त गहरा स्वरूपज्ञान भी लिखा है। तन्त्रालोक में द्रष्टव्य है।

१३. मानवपशु के मस्तिष्क की पराकाष्ठा से अतिगत विशुद्ध शिव विमर्श की अवस्था, जिसमें केवल पारमेश्वरी इच्छाशक्ति की सर्वतोमुखी प्रधानता होती है, उन्मना-अवस्था कहलाती है। इस अवस्था में आणव, मायीय एवं कार्म तीनों प्रकार के मलों का पूर्ण परिशोधन एवं पशुचैतन्य का शिवचैतन्य में लयीभाव हुआ होता है। इसमें निराकार एवं साकार (युगपत् विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय) चिदानन्दघन शिवात्मभाव का प्रकाश स्फुरायमाण होता है।

१४. प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'ऊर्ध्वगति' का अर्थ ऊपर की ओर गमन करना नहीं है। जीवात्मभाव से निकलकर शिवात्मभाव (विश्वात्मभाव) में एकाकार होना ही ऊर्ध्वगति कहलाती है।

१५. शैवसन्दर्भ में 'बिन्दु' शब्द का वास्तविक रूप 'विन्दु' है। स्थान साम्य की दृष्टि से व्याकरण प्रक्रिया में भी 'ब' और 'व' में स्वरूपतः कोई अन्तर नहीं है। 'विन्दु' शब्द विद् धातु से व्युत्पन्न है अतः इससे समूची ज्ञानमयता की मौलिक विभागहीन अवस्था द्योतित होती है। क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदय के २०वें सूत्र की व्याख्या में निम्नलिखित जानकारी प्रस्तुत की है:—

'अत एव . . . यद्विश्वं प्रसृतं . . . तद् अकारहकाराभ्यामेव स्म्पुटीकारयुक्त्या प्रत्याहारन्यायेन अन्तः-स्वीकृतं सत्, अविभागवेदनात्मक-बिन्दुरूपतया स्फुरितम्, अनुत्तर एव विश्राम्यति — इति शब्दराशिस्वरूप एवायमकृतको विमर्शः'

तात्पर्य यह कि अनुत्तरकला अर्थात् 'अकार' से लेकर शक्ति के बहिरङ्ग विश्वरूप में प्रसार की चरमकला 'हकार' तक जो अनुत्तरीय विमर्श में विश्वरूपता की परिकल्पना (बिम्बरूप) पूरी हुई है उसको भगवान अनुत्तर निजविमर्श रूपता में 'अहं' इस प्रत्याहाररूपी वर्णयुग्म में स्वीकारता है। 'अहं' इस के ऊपर लगाई गई बिन्दी इस तथ्य का संकेत देती है कि वह

सारी विश्वमयता अविभागमयी अन्तःसंवेदना, जिसका रूप बिन्दु है, के रूप में स्वभाव से ही अनुत्तरीय विमर्श के रूप में स्फुरायमाण होती हुई अनुत्तर पर ही आधारित है और उसी में विश्रान्त भी हो जाती है। फलतः 'बिन्दु' शब्द समूची शब्दराशि की मौलिक अविभागमयी अवस्था के द्योतक स्वाभाविक पारमेश्वरविमर्श का ही सूचक है। बिन्दु में समूची विश्वकल्पना मयूर के अंडरस के न्याय से अव्याकृत रूप में अवस्थित है। अतः वास्तव में प्रसरणशील अनुत्तरभाव अथवा अनुत्तरशक्ति की प्राथमिक घनीभाव के अभिमुख होने की अवस्था ही बिन्दु है। अनुत्तरशक्ति उर्ध्वगति में नाद-बिन्दु इत्यादि उत्तरोत्तर विश्वान्ति की भूमिकाओं को लांघकर पर्यन्ततः अनुत्तरभाव में ही लीन हो जाती है।

१६. उल्लिखित उन्मनाभाव ही जब बहिः प्रसार की ओर अभिमुख होकर विश्वमयता के उत्तरोत्तर स्थूलभाव को स्वीकारता है तो समनाभाव कहलाता है। इस अवस्था में वह प्रत्येक बहिरङ्ग प्रमेय पदार्थ के 'मनन' अर्थात् मानसिक चिन्तन का रूप धारण कर लेता है। अतः समनाभाव की अवस्था कहलाता है। इसमें पशुचैतन्य की प्रधानता और शिवचैतन्य की पूर्ण विस्मृति स्थान लेती है। तुरीयाभाव का साक्षात्कार अथवा यूँ कहिये आत्मव्याप्ति की अनुभूति होने तक मन से पिण्ड नहीं छूटता है और पाशजाल का परिपूर्ण उच्छेद सम्भव नहीं हो सकता। उन्मनाभाव अथवा तुर्यातीत दशा में प्रवेश पाने पर ही समनात्व का उच्छेद और उन्मनात्व का विकास (उद्यम/उन्मेष) संभव हो सकता है।

फलतः शाम्भव योगक्रम पर आधारित इस व्याख्या भाग के अनुसार प्रस्तुत मङ्गल पद्य का अर्थ इस प्रकार है :—

"अनगिनत वाच्यों और वाचकों के रूपों में चलती हुई विश्वप्रक्रिया के संचालक एवं सारी पारमेश्वरी शक्तियों के अधिपति परब्रह्मस्वरूप भगवान चित्-सूर्यदेव को प्रणाम हो, जिसका निजी शक्ति के आकस्मिक उन्मेष के रूप वाला उद्गीथ (सूर्य के सारथी अरुण की लालिमा के समान) अपने चित्-प्रकाशपुञ्ज से चमकता हुआ, अपने साथ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इत्यादि रूपों वाले त्रयीमण्डल को मन्त्रध्वनिरूपी घोड़ों के द्वारा ऊपर चिदाकाश की ओर खींचता हुआ जैसा, अपने अत्यन्त दीप्तिमान वर्णों एवं पदों के द्वारा सारे समनाभाव तक फैले हुए पाशरूपी अन्धकार को चीर कर, चिद्विमर्शरूपी मुक्त आकाश में सब से पहले उदित हुआ है।

श्लोक २

उपक्रमणिका— एवं सामान्यव्याप्त्या परमार्कं स्तुत्वा देहस्थमध्यनाडीव्याप्त्या स्तौति

अनुवाद— इस प्रकार 'सामान्यव्याप्तिः' अर्थात् अन्तः और बहिः दोनों स्तरों पर एक ही प्रकार की निराकार चित्-शक्ति की व्यापकता के दृष्टिकोण से परम सूर्यदेव (चित्सूर्य) की स्तुति करने के उपरान्त अब (अगले श्लोक में) पाञ्चभौतिक कायाओं में वर्तमान मध्यनाडी (सुषुम्ना नाडी) में इसकी व्यापकता के दृष्टिकोण से स्तुति करते हैं :—

मूलश्लोक

ओमित्यन्तर्नदति नियतं यः प्रतिप्राणि शब्दो
वाणी यस्मात्प्रसरति परा शब्दतन्मात्रगर्भा।
प्राणापानौ वहति च समौ योमिथो ग्राससक्तौ
देहस्थं तं सपदि परमादित्यमाद्यं प्रपद्ये॥

अन्वय— यः प्रतिप्राणि अन्तर् 'ओम्' इति शब्दः नियतं नदति, यस्मात् शब्द-तन्मात्रगर्भा परा वाणी प्रसरति, यः मिथः ग्राससक्तौ प्राणापानौ च समौ वहति, तं देहस्थम् आद्यं परमादित्यं सपदि प्रपद्ये।

अनुवाद— जो हरेक प्राणी के 'अन्तस्' अर्थात् मध्यनाडी के आंतरिक अवकाश में निरन्तर रूप में 'ओम्' इस शब्द का उच्चारण (अन्तःविमर्श) करता रहता है, जिससे सारे शब्दब्रह्म को अविभाग रूप में धारण करने वाली 'परा' अर्थात् दूसरी अर्थात् पश्यन्ती-वाणी प्रसार में आती है, जो एक दूसरे का ग्रास करने पर तत्पर प्राण और अपान दोनों को समानप्राण के रूप में धारण करता है, (मैं) उस अपनी काया में ही ठहरे हुए शाश्वतिक परमसूर्यदेव (चित्-सूर्य) की शरण में जा रहा हूँ।

टिप्पणी

इस श्लोक में 'परा' शब्द से परावाणी का अभिप्राय नही है, बल्कि इससे 'परा=दूसरी' अर्थात् परावाणी की अनुगामिनी दूसरी पश्यन्ती-वाणी का अभिप्राय लिया जाता है। ओंकाररूपिणी प्रणवमात्रा को भी संविन्मयी स्पन्दना के रूप में अपने में धारण करने वाली परा-वाणी तो नित्य अनपायिनी चित्-शक्ति ही है अतः उसके सन्दर्भ में अनुगामिता जैसी कल्पनाओं का कोई अवकाश नहीं है।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— तं परमादित्यं परब्रह्मस्वरूपम् एव देहस्थितं मध्यनाडीगतप्राणब्रह्मनिविष्टम् आद्यं विश्वचित्रभित्तिभूतं सपदि प्रपद्ये अभिसन्ध्यवधानेन समाविशामि।

अनुवाद— (मैं) उस अनिर्वचनीय परम सूर्यदेव (चित्-सूर्य) जो कि— स्वरूप से परब्रह्म अर्थात् सर्वव्यापी एवं पुष्टिदायक सत्ता है, (मेरी) इस काया में ही ठहरा हुआ अर्थात् मध्यनाडी[१] (ब्रह्मनाडी सुषुम्ना) के अवकाश में वर्तमान प्राणब्रह्म-अतिप्रचण्ड उदानरूपी[२] प्राणब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित है, (समूचे जगत का) आदि अर्थात् विश्वरूपी[३] चित्र का आधार बना हुआ है, को अविलम्ब प्रणाम कर रहा हूँ। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण आत्मभाव से लवलीन होने के लिए तीव्रतम[४] एकाग्रता से उसी स्वरूप में समाविष्ठ हो जाता हूँ।

किस चित्-सूर्य को प्रणाम कर रहा हूँ? इस अभिप्राय से आगे कहते हैं :—

मूलग्रन्थ—य ओमिति शब्दः क्रोडीकृताशेषशब्दनात्मनादरूपो महाप्रणवः प्रतिप्राणि सर्वभूतेषु नियतम् अविच्छिन्नप्रवाहेण अन्तर्नदति परावागात्मस्वरूपं विमृशन् स्थितः।

यस्माच्च शब्दतन्मात्रगर्भा आसूत्रितक्रमा आदिक्षान्त-शब्द-सामान्यमात्रा अविभागज्योतिर्मयी परा-द्वितीया वाणी पश्यन्ती प्रसरत्युन्मिषति। यश्च मिथो ग्राससक्तौ अन्योन्यकवलनपरौ समौ समानभूमिकारूढौ प्राणापानौ वहति— उदानवह्नयात्मनिजमहाज्योतिर्मयौ करोति।

अनुवाद— जो (चित्-सूर्य) प्रत्येक जीवधारी के हृदय में, 'ओं' इस प्रकार की शब्दना[५] (अन्तःविमर्शमयी स्पन्दना), जो कि सारे शब्दब्रह्म को निजस्वरूप में समा कर धारण करनेवाला नादरूपी महान प्रणव है, के रूप में विच्छेदरहित धारावाहिता में 'गूँजता हुआ' अर्थात् अपने मौलिक परावाणीमय स्वरूप का विमर्श करता हुआ अवस्थित है।

जिससे 'परा[६]-द्वितीया' अर्थात् परा की अनुगामिनी पश्यन्ती[७]-वाणी, जोकि (विशेष रूपों में विकसित स्थूल) शब्दब्रह्म की मौलिक विभागहीन तन्मात्र अवस्था को अपने गर्भ में धारण करने वाली, आगामी क्रमात्मकता

का सूत्रपात करने वाली, 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के स्थूल वर्ण समाम्नाय की मौलिक सामान्य (विशेषताओं से हीन) अवस्था और विभागहीन प्रकाशमयता के रूप वाली है, विकसित हो जाती है; और—

जो, (पुरीतती नाडी में प्रविष्ठ होने की वेला पर) एक दूसरे का भक्षण (अभ्युत्थान एवं संचार का उपशम) करने पर उतारू प्राण एवं अपान दोनों को समान भूमिका पर अधिरूढ़ करके, उससे भी आगे की ओर प्रेरित करता है अर्थात् (मूलाधार के द्वारा से मध्यनाडी में प्रवेश करवा कर) उदान की आग के नाम से प्रसिद्ध अपने महान ज्योतिः पुन्ज का रूप देता है।

टिप्पणियां

१. शैवयोग के सन्दर्भ में सुषुम्ना-नाडी को मध्यनाडी ब्रह्मनाडी कहते हैं। यह नाडी मेरुदण्ड के भीतर से, नीचे मूलाधार से लेकर ऊपर ब्रह्मरन्ध्र तक काया के ठीक बीचों बीच अवस्थित है। इसको मध्य-धाम भी कहा जाता है। मूलतः शैव परिप्रेक्ष्य में विश्वोत्तीर्ण भूमिका पर वर्तमान सर्वव्यापिनी संवित्-शक्ति (चित्-शक्ति) को ही मध्य कहा जाता है क्योंकि प्रत्येक भावरूपी अथवा अभावरूपी पदार्थ के अन्तरतम (मध्य) में उसी शक्ति की व्यापकता रहती है। उसकी आधारिता के बिना किसी भी तथाकथित जड़ और चेतन पदार्थ को सत्ता नहीं प्राप्त होती है। सर्वातिशायी शिव का भी 'मध्य' अर्थात् हृदय होने के कारण वह सब पदार्थों का 'मध्य' हृदय है:—

'सर्वान्तरत्वेन वर्तमानत्वात्, तद्भित्तिलग्नतां विना च कस्यचिदपि स्वरूपानुपपत्तेः संविदेव भगवती मध्यम्'।

(प्र० हृ० पृ० ७६)

जीवभाव की अवस्था में वही मध्य कही जाने वाली भगवती संवित्, क्रम से प्राणना, बुद्धि, शरीर इत्यादि रूपों वाली, उत्तरोत्तर स्थूलताओं को, स्वीकारती हुई काया में वर्तमान असंख्य नाडियों के रूपों में प्रसृत हुई है परन्तु उनमें भी मुख्य रूप में ब्रह्मरन्ध्र से लेकर नीचे मूलाधार तक प्रधान मध्यनाडी के रूप में ठीक उसी प्रकार वर्तमान रहती है जिस प्रकार पलाश के पत्ते के ठीक मध्य में ऊपर से नीचे तक एक प्रधान नाडी अवस्थित होती है। मध्यनाडी के बाहर बाई ओर इडा और दाईं ओर पिंगला नाम की दो प्राणवाहिनी नाडियां हैं जिनका सम्बन्ध नथुनों से जुडा रहता है

और जिनके बीच में से प्राणापान का संचार होता रहता है। मध्यनाडी प्राणशक्तिरूपी ब्रह्म अर्थात् उदान एवं व्यान नामक सर्वव्यापी प्राणशक्ति का आश्रय है—

'प्राणाशक्ति ब्रह्माश्रय मध्यम नाडीरूपतया प्राधान्येन स्थिता'

(प्र० हृ० पृष्ठ ७७)

यद्यपि योगिजनों को छोड़ साधारण जीवों के लिए इसका प्रवेशद्वार बन्द ही रहता है तो भी उनकी कायाओं को पुष्टि का वितरण अलक्ष्य रूप में इसी से होता रहता है। इसके अतिरिक्त सारी मानसिक वृत्तियों का मौलिक उदय (बहिर्मुखीन) और पार्यन्तिक विश्रान्ति इसी के द्वारा सम्पन्न होती है। योगिजनों के लिए भी मुक्ति का द्वार इसी नाडी में से ही खुलता है :—

'तत एव सर्ववृत्तीनाम् उदयात्, तत्रैव च विश्रामात्। एवं भूतापि एषा पशूनां निमीलितस्वरूपैव स्थिता। यदा तु उक्तयुक्तिक्रमेण सर्वान्तरतमत्वे मध्यभूता संविद्भगवती विकसति तदा तद्विकासात् 'चिदानन्दस्य' . . . . प्राप्तिर्भवति'।

(प्र० हृ० पृ० ७७)

२. प्राणाशक्ति के पांच रूप और उनकी उपयोगिता

भगवान उत्पलदेव ने श्री ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इनका स्वरूप निर्णय इस प्रकार करके रखा है :—

(क) प्राणा, अपान, समान :—

प्राणापानमयः प्राणः प्रत्येकं सुप्तजाग्रतोः।
तच्छेदात्मा समानाख्यः सौषुप्ते विषुवत्स्विव॥

(ई० प्र० ३, २, १९)

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि जाग्रत् और स्वप्न इन दो अवस्थाओं में प्रत्येक प्राणी की जीवन स्थिति (हृदय से बाह्यद्वादशान्त की ओर संचार करने वाली) प्राणवृत्ति = प्रश्वास, और (बाह्यद्वादशान्त से हृदय = अन्तर्द्वादशान्त की ओर संचार करने वाली) अपानवृत्ति = श्वास पर आधारित रहती है। सुषुप्ति की अवस्था में कुछ समय के लिए प्राणापान के निलम्भन के स्वरूप

वाले समान नामी प्राणवृत्ति का प्राधान्य रहता है। तात्पर्य यह कि सुषुप्तिकाल में अपानवृत्ति पुरीतती, जोकि योगिजनों के परिप्रेक्ष्य में मूलाधार में प्रवेश करने का मार्ग होती है, के द्वार से अकस्मात् अन्दर प्रविष्ठ होकर कुछ (अति-अल्प) समय के लिए हृदय में ही रुक जाती है। दूसरी ओर प्राणवृत्ति का अभ्युत्थान नहीं होता है। इस प्रकार की प्राणापान की अति अल्पकालीन विश्रान्ति की अवस्था ही समानप्राण की अवस्था अथवा वास्तविक सुषुप्ति कहलाती है। इसका रूप कुछ वैसा ही होता है जैसा कि स्थूलरूप में विषुवत् काल का होता है जिसमें न दिन और न रात्रि होती है। इनकी (प्राण, अपान, समान की) व्याप्ति सकल और प्रलयाकल अवस्था तक होती है।

प्राणशक्ति के इन तीन रूपों से केवल सांसारिक जीवन व्यवहार चलता रहता है। प्राणाभ्यास तथा मुक्ति के सन्दर्भ में इनका कोई उपयोग नहीं है। साथ ही ये तीन रूप जीव को सांसारिक बन्धनों में अथवा पशुभाव में टिकाये रखते हैं। प्राणाशक्ति के उदान एवं व्यान ये ही दो रूप जीव को बन्धन से मुक्त कर देते हैं। इनका निर्णय इस प्रकार किया गया है :—

उदान, व्यान :

> **मध्योर्ध्वगाम्युदानाख्यस्तुर्यगो हुतभुङ्मयः।**
> **विज्ञानाकलमन्त्रेशो व्यानो विश्वात्मकः परः।**

(ई० प्र० ३, २, २०)

जब परमेश्वर के तीव्र अनुग्रह का पात्र बने हुए किसी योगिजन के प्राणापान मूलाधार का अवभेदन करके मध्यनाडी में प्रवेश पाते हैं तब वे दोनों सहसा और स्वयं तुल्यबल होने के कारण बहिर्मुखीन स्वरूप खोकर अन्तर्मुखीन उदान में परिवर्तित हो जाते हैं। उदान प्राणाशक्ति का वह रूप है जो सीधी गति में 'ऊर्ध्वगामी' अर्थात् मूलाधार से ऊपर सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र तक की गति पकड़ लेता है। यह गति आरोह में ब्रह्मरन्ध्र तक और अवरोह में मूलाधार तक होती है। उदानशक्ति से तुरीया दशा का विकास होता है। तुरीया वह चेतना है जिसमें पूर्ववर्तिनी जाग्रत्, स्वप्न और

सुषुप्ति अवस्थाओं की खण्डित चेतना सारी अवस्थाओं में व्याप्त रहने वाली अखण्ड चेतना बन जाती है। इस अनुभूति से सम्बन्धित पूरी जानकारी शिवसूत्र (१, ७) के अध्ययन से प्राप्त हो सकती है। मध्यनाडी स्वभावत: अत्यन्त दीप्तिमान वह्निनाडी है अत: उसमें संचार करने वाले उदान का स्वरूप भी वह्निमय ही होता है। उदानमयी अवस्था की व्यापकता विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर एवं मन्त्रमहेश्वर प्रमाताओं तक होती है।

उदानदशा अर्थात् तुरीयाभाव की परिपक्वता हो जाने की ही अवस्था को व्यान अर्थात् समष्टि भाव से प्राणशक्ति की विश्वात्मिका व्यापकता और व्यष्टिभाव से योगिजन की सारी काया के अन्त: बहि: अणु अणु में व्यापकता का उदय हो जाता है। वही तुर्यातीत अवस्था अर्थात् सर्वातीत शिवमयी अवस्था कहलाती है।

यहां पर सर्वसाधारण पाठकों के अभिप्राय से अति संक्षिप्त रूप में प्राणशक्ति का स्वरूप-निर्धारण प्रस्तुत किया गया है। विशेष जानकारी के लिए तन्त्रालोक, शिवसूत्र, स्वच्छन्द इत्यादि आगम ग्रन्थों का गहन अनुशीलन करना आवश्यक है।

३. भक्तिभाव की रसमयता में न तो दार्शनिकों की बौद्धिक कसरत और न वाद-प्रतिवादों का कोई झंझट अवशिष्ट रह जाता है। बहिरंग विश्वचित्र और अन्तरंग चिन्मयता क्या ये दो अलग अलग सत्तायें हैं? भक्तजन के लिए इन झमेलों में पड़ने का समय और प्रवृत्ति दोनों कहाँ हैं? अत: इस परिप्रेक्ष्य में भक्तजन की श्रद्धा यह है कि—

स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्विश्वमामृशसि रूपमामृशन्।
यत्स्वयं निजरसेन धूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम्॥

(शि० स्तो० १३, १५)

कहने का तात्पर्य यह कि चित्-प्रकाश (विमर्शघन प्रकाश) निजी मौलिक विश्वोत्तीर्ण अवस्था में इतना तरल (सूक्ष्म) और निर्मल है कि उसकी भासमानता किसी प्रकार के ऐन्द्रियबोध से ग्राह्य नहीं है। अत: मूलत: वह आलोकमय होने पर भी भासमानता से विहीन तत्त्व है। यह रही उसकी अन्तर्मुखीन निराभासमयी अवस्था।

बहिर्मुखीन उन्मुखता में जब वही चिन्मय तत्त्व भासमान हो जाता है वही विश्व चित्र है। अस्पन्द की स्पन्दायमानता अथवा अचल की चल अथवा अक्षुब्ध की क्षुब्ध अवस्था है। अतः मूलतः न कोई आधार है और न कोई आधेय। न कोई भित्ति है और न कोई भित्ति पर उल्लिखित चित्र। केवल इतनी बात है कि एक ही चित्-तत्त्व की तरल और सघन अवस्थायें क्रमशः भित्ति (आधार) और विश्वचित्र (आधेय) उपचारतः कही जाती हैं।

चिद्-देव स्वभावतः और शाश्वतिक रूप में स्वरूप विमर्शनशील तत्त्व है। उसका स्वरूप विमर्शन (बहिरंग रूप अर्थात् अपने ही निराकार रूप का साकारता में उल्लेख करना ही) विश्व का उल्लेख है।

चिद्-देव चिन्मयता के रस का असीम सागर है। इस रससागर में स्वभाव से और सर्वदा बहुरंगी बहुदेशिक, बहुकालिक हिलकोरें स्पन्दायमान होती हैं— ऊर्मिरिषा विबोधाब्धेर्न संविदनया बिना। उन ज्ञान-क्रियामयी हिलकोरों का निरन्तर स्पन्दन ही नील सुखादि के रूपवाला प्रमेय वर्ग है। यही तो अचल तत्त्व का किञ्चिच्चलन अर्थात् पारमेश्वर विमर्शात्मक उच्छलन है।

फलतः चिद्-देव स्वयं ही विश्वचित्र है साकारता में, और स्वयं ही उसका आधार है निराकारता में। द्विविधा तो किसी भी स्तर पर नहीं है। निराकार भित्ति पर साकार विश्वचित्र का उल्लेख करना एक लोकोत्तर कला है और चिद्-देव ही मात्र उसका अनोखा कलाकार है। इसमें पारमेश्वरी इच्छाशक्ति के अतिरिक्त और किसी स्थूल उपकरण-संभार की कोई आवश्यकता नहीं। यह तो अभित्ति अर्थात् 'अ-कला = परमशिवकला' रूपी आधार पर आधारित शिवप्रकाशमय विश्वचित्र है। भट्टनारायण ने भी कभी कहा है :—

निरुपादानसंभारम् अभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥

(स्तवचिन्तामणि ७)

शूली अर्थात पारमेश्वरी इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया रूपी त्रिशूल की विभागहीन समन्विति के रूपवाला = परमशिव (चिद्-देव) अ-कला स्वयं भित्ति और स्वयं चित्र है।

४. यहां पर मूलग्रन्थ में टीकाकार ने अभिसन्धि और अवदान इन दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। उनके बारे में विचारणीय यह बात है कि अभिसन्धि लक्ष्य है अवदान उस लक्ष्यप्राप्ति का उपाय। अभिसन्धि शब्द दृढ़तम इच्छाशक्ति (सिद्धयोगी का संकल्प) को द्योतित करता है। अवदान शब्द मन में धारावाहिता में उठने वाले भौतिक संकल्प-विकल्पों के बवन्डरों से रहित लक्ष्यबद्ध एकाग्रता का वाचक है। सिद्धजनों की मानसिक एकाग्रता विलक्षण प्रकार की होती है। ध्यान की वेला में उनकी विमर्शमय आंखों को गद्दीधारों के पीठ और नगरश्रेष्ठियों की तिजोरियां कभी नहीं दिखाई देती हैं। ऐसी एकाग्रता से उनके अतंस् में ऐसी परिपक्व इच्छाशक्ति का सहज विकास हो जाता है कि ध्यानमयी या ध्यानेतर अवस्थाओं में समानरूप से अपने आराध्य के साथ तन्मयीभाव स्वभाव ही बन जाता है। उसी को उन्मना अवस्था दूसरे शब्दों में शिवचैतन्य की उदित अवस्था कहते हैं। इसी अवस्था को प्रणाम के तत्काल चित्-स्वरूप में समाविष्ठ हो जाना कहते हैं। भगवान उत्पलदेव का कथन इस सम्बन्ध में स्मरणीय है :—

'ध्यातमात्रमुपतिष्ठत एव त्वद्वपुर्वरद भक्तिधनानाम्।
अप्यचिन्त्यमखिलाद्भुतचिन्ताकर्तृतां प्रति च ते विजयन्ते॥

(शि० स्तो० २०, १९)

५. शैव सन्दर्भ में शब्द, शब्दन, शब्दना इनसे विमर्शमयी स्पन्दना का अर्थ लिया जाता है— शब्दनञ्च विमर्शः। अब जो 'शब्द' शब्द से मुख से निकलने वाले व्यक्त ध्वनिरूप शब्द का अभिप्राय लिया जाता है वह भी वास्तव में आन्तरिक विमर्श का बाहरी स्थूलातिस्थूल एवं कानों से सुनाई देने वाला व्यक्त ध्वनिरूप होता है। परामूलक, पश्यन्ती-मध्यमाओं को पार करता हुआ, विमर्श ही जब वैखरी पर पहुंच जाता है तो मुख के विभिन्न स्थानों के आघात-प्रतिघात से व्यक्त ध्वनिरूप धारण कर लेता है।

६. शास्त्रों के अनुसार परावाणी स्वतः चित्-शक्ति ही है। ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा ग्रन्थ में इसका स्वरूपनिर्धारण इन शब्दों में किया गया है :—

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक्स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः॥

(ई० प्र० १, ५, २३)

विश्व में जो कुछ भी वाच्यरूप या वाचकरूप में वर्तमान है वह सारा पारमेश्वर-संवित् (चित्-शक्ति) के लोकोत्तर अन्तर स्वरूप-विमर्श का बाहरी व्यक्त स्थूल रूप है। स्वरूप विमर्श चिति शक्ति का अकाट्य स्वभाव है। जगत्-रूप में प्रसरणशील स्वरूप के विस्तार का विमर्श करना ही अलौकिक आनन्दमयता की चर्वणा (आस्वादन) है। यह चर्वणा 'अहम्' रूपिणी है। तात्पर्य यह कि चिति 'अहम्' रूप में निजी स्वरूप विस्तार की चर्वणा का रस लेती रहती है। चिति शक्ति की इस क्रियात्मकता को शास्त्रीय शब्दों में प्रत्यवमर्श कहते हैं। अब सूत्र की सङ्गति इस प्रकार है :—

प्रत्यवमर्शरूपिणी चिति-शक्ति ही परा-वाणी है। यह निजी रसमयता से ही सदा उदीयमान है। यही परमेश्वर की प्रमुख स्वातन्त्र्य शक्ति है। यही उसका पारमेश्वर ऐश्वर्य है।

इसको पूर्ण अर्थात् विश्वभरित होने के कारण परा और प्रत्यवमर्श रूप में विश्व का अभिलाप करने के कारण वाक् कहा जाता है— पूर्णत्त्वात् परा, वक्ति विश्वम् अभिलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक्, अत एव सा स्वरसेन चिद्रूपतया स्वात्मविश्रान्तिवपुषा उदिता सदानस्तमिता नित्या 'अहम्' इत्येव।

(ई० प्र० वि० पृ० २५३—५४)

भगवान अभिनव के मतानुसार पञ्चकृत्यकारी भगवान की अनुग्रहशक्ति ही परावाक् है। परमेश्वर इसी शक्ति के द्वारा सदा ओतप्रोत होने के कारण वास्तव में अनुग्रहमय ही है :—

'परमेश्वरः पञ्चकृत्यमयः सततमनुग्रहमय्या परारूपया शक्त्या आक्रान्तो वस्तुत अनुग्रहैकात्मैव, न हि शक्तिः शिवाद् भेदम् आमर्शयेत्'।

(प० त्रिं० वि० पृ० ४)

क्षेमराज के अनुसार चित्-प्रकाश के साथ एकाकार, शाश्वतिक रूप में उदीयमान महामन्त्र अर्थात् विश्वगर्भित पूर्ण 'अहम्' के स्वरूपवाली परावाक् है। इसके गर्भ में अ-कला से लेकर क्ष-कला तक की अनन्त शक्तियों का

चक्र सदा समाया रहता है। यही तो पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी स्तरों पर अवरोह करके विश्वजनीन प्रमातृभाव का आभासन करती है:—

'चित्प्रकाशादव्यतिरिक्ता नित्योदितमहामन्त्ररूपा येयं परा वाक्शक्ति-रादिक्षान्तरूपाशेषचक्रगर्भिणी, सा तावत् पश्यन्ती मध्यमादिक्रमेण ग्राहकभूमिकां भासयति'।

(प्र० हृ० पृ० ६६)

संक्षेप में परावाणी लोकोत्तर ज्योति का अनन्त पारावार है जिसमें सारा अर्थात् आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त वाचकों और वाच्यों का प्रपञ्च पारस्परिक भेदभाव को भूलकर विशुद्ध संविन्मय ही होता है। इस सर्वसामरस्य की भूमिका में सब कुछ अर्थात् शिवत्व और उसका बाहरी प्रसार किसी अनिर्वचनीय नीरक्षीरमय समरसभाव में निलीन होकर अवस्थित रहता है। यह नित्य वर्तमानकालीन अनुभव की अवस्था है।

७. पश्यन्तीवाणी के विषय में यहां पर टीकाकार ने स्वयं ही अपेक्षित विश्लेषण करके रखा है। केवल पाठकों की जानकारी के लिए कुछेक तथ्यों की ओर संकेत करना आवश्यक है। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियां प्रसार के स्तर मौलिक परावाणी-स्तर से भिन्न या अतिरिक्त नहीं हैं। जगत् की माता परा भगवती स्वेच्छा से ही जिस प्रकार विश्व के अनन्त रूपों मे प्रसृत होती है उसी प्रकार वाणीप्रपञ्च के द्वार से भी स्वयं ही पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन उत्तरोत्तर स्थूल स्तरों पर अवरोह करके व्यक्त ध्वनिरूपों को धारण कर लेती है। परन्तु ऐसा करने के अवसर पर अपने मूलभूत परारूप से च्युत न होकर उस पर अविचल भाव से टिकी रहती है। फलतः इन वाणी के चार स्तरों को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है :—

१. परा— वाच्च तथा वाचक दोनों का पूर्ण अभेद, क्रमात्मकता की अनाभासमानता सूक्ष्मदशा।

२. पश्यन्ती— वाच्य और वाचक के भेदभाव और क्रमात्मकता का, अभेदभाव के गर्भ में ही सूत्रपात। स्थूलता की ओर अभिमुखता की दशा।

३. मध्यमा— मानसपटल के एक ही अधिकरण पर आधारित वाच्य एवं वाचक का भेदभाव और क्रम का आभास।

४. **वैखरी**— वाच्य एवं वाचक दोनों में पूर्ण अलगाव और वह भी दो अलग आधारों पर आधारित। व्यक्त ध्वनिरूपता। वाचक मुख में और वाच्य कहीं शरीर से बाहर।

इस विषय का पूरा विश्लेषण प० त्रिं० भा० पृष्ठाङ्क ४ से २७ तक अंकित है। इसके अतिरिक्त आगे श्लोक ४ में भी इसका स्पष्टीकरण स्तोत्रकार ने स्वयं प्रस्तुत किया है।

श्लोक ३

उपक्रमणिका—एवं महाव्याप्त्या सूक्ष्म-व्याप्त्या चानवच्छिन्नं, मध्यधामस्थं च चिदर्कं नुत्वा प्रपञ्च व्याप्त्यापि स्तौति :—

अनुवाद—इस प्रकार (पहले श्लोक में) व्यापकता (पर ब्रह्म अर्थात् बृहत् और बृंहक सत्ता) के दृष्टिकोण से और सूक्ष्म व्यापकता (उद्गीथ अर्थात् असीम शब्दब्रह्म के सूक्ष्म रूप प्रणवमयी सत्ता) के दृष्टिकोण से इयत्ताओं से रहित चित्-सूर्य की, और :—

(दूसरे श्लोक में) अपनी ही काया में वर्तमान मध्यनाडी में प्राणब्रह्म के रूप में अविस्थत चित्सूर्य की वन्दना करने के उपरान्त, अब अगले पद्य में, 'प्रपञ्चव्याप्ति' अर्थात् स्थूल काया के साथ सम्बन्धित इन्द्रियवर्ग में वर्तमान शक्ति प्रपञ्च की व्यापकता के दृष्टिकोण से भी उसकी वन्दना कर रहे हैं :—

मूलश्लोक

यस्त्वक्चक्षुश्रवणरसनाघ्राणपाण्यङ्घ्रिवाणी
पायूपस्थस्थितिरपिमनोबुद्ध्यहङ्कार मूर्तिः।
तिष्ठत्यन्तर्बहिरपि जगद्भासयन् द्वादशात्मा
मार्तण्डं तं सकलकरणाधारमेकं प्रपद्ये॥

अन्वय—यो बहिस् त्वक्, चक्षुः, श्रवण, रसना, घ्राण, पाणि, अङ्घ्रि, वाणी, पायु, उपस्थ स्थितिर् अपि अन्तः मनः, बुद्धि अहङ्कार मूर्तिः द्वादशात्मा जगद् भसयन् तिष्ठति, तं सकल-करण-आधारम् एकं मार्तण्डं प्रपद्ये।

अनुवाद—जो, काया के बाहर चमडा, आंखें, कान, रसना (जीभ आस्वाद लेते समय), नाक, हाथ, पैर, वाणी (जीभ बातें करने के समय), पायु और उपस्थ इन इन्द्रियों के रूप में वर्तमान रहते हुए भी (काया के) भीतर मन, बुद्धि और अहङ्कार इन तीन अन्तःकरणों के रूप में स्थित रहकर बारह रूपों में सारे जगत को प्रकाशित करता हुआ अवस्थित है, (मैं) उस सारे इन्द्रिय-वर्ग के एक ही आधार भगवान मार्तण्ड (चित्-सूर्य) को प्रणाम करता हूँ।

(सङ्केत—चित्सूर्य के १२ रूप आगे क्षेमराज की व्याख्या में स्पष्ट किये गये है)

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ—मृतानां वेद्यैकरूपतया शवप्रायाणाम्, अण्डानां देहप्राणादिपिण्डानाम्, अयमनुप्राणको मार्तण्डश्चिद्भानुस् तमेकमद्वितीमपि, प्रपञ्चव्याप्त्या सकलानां प्रमातृणां, सकलानि करणानि च त्रयोदश करणानि च, तेषाम् आधारं अनुप्राणकम् अविभिन्नमाश्रयं, प्रपद्ये।

अनुवाद—'मार्तण्ड' शब्द 'मृतानाम् अण्डानाम् अयम्' इस विग्रह के आधार पर 'मृत' अर्थात् केवल प्रमेयरूपी होने के कारण शवों के समान लगने वाले शरीर सम्बन्धी अथवा प्राणसम्बन्धी पिण्डों (इकाइयों) में जीवन फूँकने वाले चित्-शक्तिरूपी सूर्य के अभिप्राय को अभिव्यक्त करता है। यद्यपि उसका कोई प्रतियोगी नहीं है, तो भी वह एकला ही सारे सकलप्रमाताओं के सारे अर्थात् तेरह प्रकार की इन्द्रियों का आधारभूत जीवनतत्त्व, अथवा ऐसा आश्रय जोकि उनसे पृथक नहीं दीख रहा है, है। (मैं) उसको प्रणाम करता हूँ।

मूलग्रन्थ—यस् त्वगाद्यहङ्कारान्तस्वीकृतत्रयोदशेन्द्रियमूर्तिः। अतश्च अन्तरहंकारात्मा वेदन ग्राहकरूपः, बहिश्च अध्यवसायादिव्यापार-बुद्ध्यादिकरण-द्वादशात्मा, ग्राह्यरूपं जगद् भासयंस् तिष्ठति-इति स्थूलदृशार्थः।

अनुवाद—मोटे तौर पर तात्पर्यार्थ यह है कि वह चित्सूर्य जिसने स्वयं ही त्वचा से लेकर अहंकार तक की तेरह[१] इन्द्रियों का रूप धरा

है। इस कारण से यह कहना उचित है कि वह स्वयं (काया के) भीतर अहङ्कार की आत्मा वाले 'वेदन' अर्थात् संवेदनरूपी मन/बुद्धि के प्रमातृभाव में अवस्थित रहकर (शरीर के) बाहर भी निश्चय ज्ञान को उपजाने अथवा दूसरे व्यापारों को करने वाली ज्ञानेन्दियों और कर्मेन्द्रियों की संख्या को मिलाकर कुल बारह रूपों के द्वारा, प्रमेय जगत् को प्रकाशित करता हुआ अवस्थित है।

मूलग्रन्थ— रहस्यदृशा तु गृहीतसर्वेन्द्रियमूर्तिरपि यः सृष्टयादिमरीचिचक्रचित्रसञ्चारचातुर्याद् द्वादशात्मा एक एव चिदर्कोऽन्तर्बहिश्च जगत् कालानलादि-व्योमकलान्तं विश्वं भासयंस् तुर्यधामात्मनिजभासा चक्रमयत्वमापादयन् सर्वकरणान्याधारतया निजौजोज्वलनज्वलितान्याश्रित्य स्थितस् तं प्रकर्षेण प्रपद्ये-निजव्युत्थानं (ने) साक्षात्कुर्वन् स्थितोऽस्मि इत्यर्थः।

अनुवाद—रहस्यार्थ की दृष्टि से तात्पर्य इस प्रकार है—जो चित्सूर्य सारी (बहिर्मुखीन स्थूल) इन्द्रियों के आकार को स्वीकारते हुए भी, (आन्तरिक योगक्रम के अनुसार सृष्टि इत्यादि (अवभासन के चार[२] सोपानों के रूपवाले) शक्तिचक्र को विचित्र रूपों में संचालित करने की निपुणता से बारह[३] रूप धरने पर भी वास्तव में एकला ही, आंतरिक एवं बाहरी, कालाग्निरुद्र[४] भुवन से लेकर व्योमकला तक फैले हुए विश्व को (बहर्मुखीन रूप में) प्रकाशित करता हुआ, (युगपत ही अन्तर्मुखीन रूप में) तुरीयाधाम के रूप वालेनिजी शक्तिचक्र के साथ एकाकार बनाता हुआ अपने ओजः पुञ्जरूपी अग्नि की लपटों में जलाई जाती हुई सारी करणशक्तियों (इन्द्रिय शक्तियों) का आधार बनकर अवस्थित है, उसको (मैं) साङ्गोपांग प्रणाम करता हूँ। (प्रणाम करने का) तात्पर्य यह कि मैं अपनी व्युत्थानदशा में भी उसका यथावत् साक्षात्कार करता हुआ अवस्थित हूँ।

टिप्पणियां

१. पांच ज्ञानेन्द्रिय—त्वचा, आंख, कान, जिह्वा (स्वाद लेती हुई) और नासिका।

पांच ज्ञानेन्द्रिय—जिह्वा (बात करती हुई) (वाक्), हाथ, पैर, पायु और उपस्थ।

तीन अन्तःकरण (भीतरी इन्द्रियां)—अहङ्कार, मन बुद्धि।

कुल संख्या—तेरह।

यूँ तो शिष्यों को समझाने के लिए शास्त्रों में मन और बुद्धि को दो अलग इन्द्रियां मानकर व्याख्या की गई है। परन्तु गहरी मीमांसा करने वाले आचार्यों की राय में मन और बुद्धि को दो अलग इन्द्रियां मानने में कल्पनागौरव का दोष है क्योंकि दोनों का रूप मात्र संवेदन है। अतः इन्द्रियों की वास्तविक संख्या बारह है। प्रस्तुत स्थल पर भी क्षेमराज ने 'वेदनग्राहकरूपः' इस पद में 'वेदन' के द्वारा इन दोनों का एक साथ ही उल्लेख किया है।

२. शैवसन्दर्भ में 'सृष्टि' शब्द से प्रमेय पदार्थों के अवभासन का अर्थ लिया जाता है। संवित् में सारे पदार्थ संवितरूप में ही रहते हैं। यह एक शाश्वतिक नियम है। संवित् ही स्वतन्त्र होने के कारण अपनी इच्छा शक्ति से उनको संवितरूप से निकाल कर बाहरी घट पट आदि भौतिक रूपों में प्रकाशित करने की क्षमता रखती है क्योंकि जड़ स्वयं प्रकाशहीन होने के कारण स्वेच्छा से न तो अपना और न किसी दूसरे का ही प्रकाशन कर सकता है। भगवान उत्पलदेव का कथन है—. . . जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया'। (ई० प्र० १, १, ३) अथवा—'एवमात्मन्यसत्कल्पा प्रकाशस्यैव सन्त्यमी। जडाः. . .'(ई० प्र० वि पृ० ६०) इस प्रकाशित करने की क्रियात्मकता को ही 'अवभासन' कहते हैं। सृष्टि अथवा अवभासन शब्दों का यह बाहरी विश्वमयता के प्रकाशन (जो प्रकाशन इन्द्रियसरणियों के द्वारा बाहर की ओर प्रवहमान चेतनाशक्ति के द्वारा सम्पन्न हो जाता है) के परिप्रेक्ष्य में लिया जाता है।

दूसरी ओर यदि इन्ही दो शब्दों का तात्पर्य आध्यात्मिक सन्दर्भ में लिया जाये तो अन्तर्मुखीन स्वरूपचेतना के अवभासन का बोध हो जाता हैं। इससे आन्तरिक अनुसन्धान के द्वारा बहिर्मुखीन इन्द्रियशक्तियों की धारा को मोडकर अन्तःस्वरूपचेतना में लयीकरण का तात्पर्य लिया जाता है। अस्तु, इस अवभासन प्रक्रिया के चार सोपान हैं—अवभासन की इच्छा, प्रमेय का अवभासन, अवभासित प्रमेय का कुछ समय के लिए 'अहम्' रूप में चर्वण और पर्यन्ततः अन्तःचेतना में संहरण। शास्त्रीय शब्दों में इन चार

सोपानों को क्रमशः—उद्योग, अवभासन, चर्वण और विलापन कहते हैं। साथ ही इन चार प्रकार की शक्तियों को पारिभाषिक रूप में सृष्ट्यादिमरीचिचक्र कहते हैं।

३. चित्शक्ति का बहिरंग अवभासन प्रमातृभाव, प्रमेयभाव और प्रमाणभाव इन तीन रूपों में होता है। अन्तः अनुसन्धान के द्वारा इन तीनों को, गुरुक्रम में पाई हुई योगिक युक्ति के द्वारा, अन्तः अवभासन के इन्हीं चार सोपानों को पार करवा कर स्वरूपचेतना में लयीकरण ही पार्यन्तिक प्रयोजन है। फलतः प्रमातृभाव इत्यादि तीन उद्योग आदि चार अवस्थायें गुणा करने पर बारह बन जाती हैं जो कि चित्सूर्य की बारह कलायें अर्थात् द्वादशात्मकता कही जाती हैं। यह सारा प्रपञ्च चित्शक्ति का ही विस्तार है और मूलतः उसका स्वरूप मात्र एक है। स्वरूप, जिसको यहां चित्सूर्य की संज्ञा दी गई है, एक ही शाश्वतिक तत्त्व है। 'एवंविद्यामेव पूर्णकृशात्मक दोलालीलां निर्विशमाना, सोमसूर्यकलाजालग्रसनवमनचतुरा. . . अवसाने च बिन्दुं दधती 'अहम्' इत्येवैषा भगवती सृष्टिः।'

(प० त्रिं पृष्ठ ३२६)

इसके अतिरिक्त तन्त्रालोक इत्यादि आगमग्रन्थों में वर्णित बारह काली देवियों का निरूपण भी इस सम्बन्ध में अनुसन्धान करने का आवश्यक विषय है।

४. शैव आगमों के अनुसार 'परमशिवसत्ता', जो कि प्रकाश एवं विमर्श अथवा शिवभाव और शक्तिभाव का विभागहीन संघट्ट है, एक ही चैतन्यसत्ता विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वरूप में व्यापक है। यह छत्तीस तत्त्वों के रूपवाले बहिरङ्ग विश्व का अन्तर्मुखीन आधार है। बहिरङ्ग विश्व इसी का रूपविस्तार है। अवरोहक्रम में परमशिव का अवरोह, शिव-तत्त्व से लेकर अन्तिम पृथिवी-तत्त्व तक के छत्तीस तत्त्व, ही बहिरङ्ग विश्व कहलाता है। प्राचीन विचारकों ने इस विश्व को विभिन्न स्तरों के आधार पर पांच हिस्सों में बांट कर रखा है, और प्रत्येक हिस्से का नाम कला है। हर एक कला के साथ सम्बन्धित तत्त्वों और भुवनों को अलग अलग करके रखा है। विभाजन इस प्रकार है —

अन्वय–या सा मित्रावरुणसदनात् प्राणसङ्गात् प्रसूतान् त्रिषष्टिं वर्णान् प्रकटकरणैः अत्र उच्चरन्ती (स्थिता अस्ति) तां प्रथमम् उदितां पश्यन्ती (तामेव) बुद्धिसंस्थां मध्यमां, च (तामेव) वक्त्रे करणविशदां वैखरी वाचं प्रपद्ये।

अनुवाद–जो वह (परावाणी ही) सूर्य और वरुण के पवित्र स्थान (मध्यधाम) से प्राणशक्ति के सङ्ग से उत्पन्न हुए तिरसठ वर्णों का (स्पन्दनारूपी वर्णों का), आन्तरिक प्रकाशमय इन्द्रियों और बाहरी स्थूल इन्द्रियों के द्वारा निरन्तर विमर्श के रूप में और स्थूल ध्वनियों के रूप में उच्चार करती हुई अवस्थित है, (मैं) उस, पहली बार (बहिर्मुख रूप में) उदित होने पर पश्यन्ती नामवाली, अनन्तर बुद्धि (मानसिक चिन्तन) के स्तर पर पहुंचने पर मध्यमा नामवाली और अनन्तर मुख में स्थूल उच्चारण स्थानों के द्वारा व्यक्त ध्वनिरूप में बोली जाने पर वैखरी नामवाली परावाणी* को प्रणाम करता हूँ।

टिप्पणी

[१]इस तथ्य का संक्षिप्त स्पष्टीकरण पहले श्लोकाङ्क २ की सातवीं टिप्पणी में प्रस्तुत किया गया है कि वास्तव में वाणी एक ही है और उसका नाम परावाणी है। वह स्वयं स्वेच्छा से निरन्तर चलते हुए बहिर्मुखीन प्रसार की क्रमात्मकता को स्वीकारने पर, भिन्न भिन्न स्तरों से सम्बन्धित क्रियात्मकता को सम्पन्न करती हुई, तदनुसार नामों को धारण करती है। अतः जो कुछ भी हम मुख से बोलते हैं वह मूलतः चित्-शक्ति की ही स्पन्दना विद्युद्वेग से इन वाणी के स्तरों को पार करती हुई और उत्तरोत्तर स्थूल बनती हुई पर्यन्ततः वैखरी के रूप में अभिव्यक्त होती है।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ–"अविभागात्तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी॥"

इत्यादिनां लक्षितां, प्रथममादौ, उदितामुन्मिषितां तां स्वरूपज्योतीरूपां पश्यन्त्याख्यां, तदनु तामेव बुद्धिसंस्थां बुद्ध्यभ्यासं प्राप्ताम् —

"केवलं बुद्ध्युपादानात्क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते॥"

इत्यादिलक्षिताम्। मध्ये भवत्वान्मध्यमां, मध्येऽन्तःकरणे वर्तमानाम्।

अनुवाद– (पश्यन्ती वाणी का लक्षण :—)

"वाणीप्रपञ्च के उस स्तर का नाम 'पश्यन्ती' है जो (शब्द और अर्थ इन दोनों की) अलगाव से रहित अवस्था होने के कारण क्रमात्मकता (शब्द के पश्चात् अर्थ इस प्रकार की क्रमात्मकता) को पूर्णतया अपने में समेटे हुए है। यह 'अंतस्' अर्थात् (शैवों के कथानुसार) मध्यधाम में विशुद्ध स्वरूप ज्योति (आत्मप्रकाश) के रूप वाली सूक्ष्म और अविनश्वर वाणी (विमर्शमयी[१] स्पन्दना) है।"

इत्यादि प्रकार के वाक्यों के द्वारा वर्णित और (बहिर्मुखीन प्रसार की प्रक्रिया में) सबसे पहले विकास में आई हुई उस स्वरूप ज्योति के ही रूपवाली पश्यन्ती नामी वाणी को,

इसके अनन्तर बुद्धि के क्षेत्र में अवस्थित अर्थात् मानसिक चिन्तन के अभ्यास (वैचारिक स्तर) पर पहुंची हुई मध्यमा नामवाली उस पश्यन्ती को ही, जोकि :—

"(वह पश्यन्ती ही) 'प्राणवृत्ति' अर्थात् श्वास-प्रश्वास के अन्तः-बहिः संचाररूपी व्यवहार की निर्भरता का अतिक्रमण करके केवल बुद्धि (मानसिक चिन्तन) के उपकरण को अपनाने के कारण क्रमात्मकता (शब्द-अर्थ-ऐसे क्रम) का अनुसरण करती हुई मध्यमा-'वाणी के रूप में व्यवहार करने लगती है।"

इत्यादि वाक्यों के द्वारा वर्णन की गई है, मैं प्रणाम करता हूँ। इसको मध्यमा की संज्ञा दो कारणों से दी गई है। एक यह कि यह वाणी पश्यन्ती की विभागहीन अवस्था और वैखरी के पूर्ण विभाग की अवस्था की बीचवाली कड़ी है। दूसरा यह कि इस वाणी का कार्यक्षेत्र (पश्यन्ती के मध्यधाम, और वैखरी के शरीर, को छोड) अन्तःकरणों तक सीमित है।

मूलग्रन्थ–तदनु वक्त्रे वदने, करणेषु जिह्वामूल जिह्वामध्यमापदेषु, विशदां निर्मलाम् :–

"स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥"

इत्यादिना लक्षिताम्। विखरे शरीरे, भवत्वात्तदाख्यां वाचं प्रपन्नोऽस्मि।

अनुवाद— इसके अनन्तर

"वैखरी-वाणी, उसका प्रयोग करने वाले प्राणियों में, 'प्राणवृत्ति' अर्थात् केवल अंदर से बाहर की ओर संचार करने[२] वाले प्राणवायु पर निर्भर करती है। कारण यह कि (मुख में) भिन्न भिन्न उच्चारण स्थानों में प्राणवायु फैल जाने से ही यह (स्पष्ट ध्वनि वाले) वर्णों का रूप धारण कर लेती है।"

इत्यादि शब्दों में वर्णित और मुख के अंदर जिह्वामूल, जिह्वामध्य इत्यादि उच्चारण के अवयवों पर 'विशद' अर्थात्— स्पष्ट (और सर्वश्रव्य) ध्वनिरूप धारण करने वाली वैखरी-वाणी अर्थात् वैखरी के रूप में पश्यन्ती-वाणी को ही प्रणाम कर रहा हूँ। वैखरी को यह संज्ञा प्रदान किये जाने का कारण यह है कि इसका विकास 'विखर' अर्थात् स्थूल शरीर के ही स्तर पर होता है[३]।

मूलग्रन्थ— कां ताम् ? इत्याह—या सा मित्रावरुणसदनाद् अग्नीषोम-मयात्मनः परावाक्प्रधानान्मध्यधाम्नः, अकारांदीस्त्रिषष्टिं वर्णान्, उच्चरन्ती आसूत्रितक्रमतया, भेदाभेदाभ्यां, भेदेन च विमृशन्ती (वर्तते) ।

अनुवाद— जो वह (पश्यन्ती वाणी) 'सूर्य और वरुण[४] के घर से' अर्थात् (पारिभाषिक रूप में) 'अग्नीषोममय'[५] अर्थात् प्रकाश-विमर्शमय, और परावाणी (पराशक्ति) की प्रधानता से व्याप्त मध्यधाम से लेकर, अकार इत्यादि तिरसठ वर्णों का 'उच्चार करती हुई' अर्थात् क्रमशः (पश्यन्ती के स्तर पर) उनकी आगामी क्रमात्मकता का (सूक्ष्म) आसूत्रण करने के रूप में, (मध्यमा के स्तर पर) अभेदपरिवलित भेद रूप में और (वैखरी के स्तर पर) परिपूर्ण भेद के रूप में विमर्श करती हुई (वर्तमान है)।

मूलग्रन्थ— केन उच्चरन्ती? प्रकटैर् अन्तर्मुखीभावेन अभिन्न-स्फुट-प्रकाशैकध्यम् आप्तैः करणैः सर्वेन्द्रियैः।

अनुवाद— किस से उच्चार करती हुई? इस शङ्का का समाधान करते हुए बतलाते हैं। 'प्रकट इन्द्रियों से'— तात्पर्य यह कि उच्चारणप्रक्रिया से सम्बन्धित सारे अवयवों से जो अर्न्तमुख हो जाने के द्वारा, विभागों से रहित और स्पष्टरूप में दीप्तिमान, प्रकाश के साथ एकाकार बन गये हैं।

मूलग्रन्थ—कीदृशान् वर्णान्?

प्राणसङ्गात् प्रसूतानुद्भूतान्। तंत्र चिच्ज्योतिषि गुणीभूतसूक्ष्मप्राणसङ्गात् पश्यन्त्यां, गुणीभूत चित्सूक्ष्मप्राणसङ्गान्मध्यमायां, स्थूलप्राणसङ्गाद्वैखर्यां वर्णा जायन्ते।

अनुवाद— कैसे अक्षरों को (उच्चारती हुई)? इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं—

(जो वर्ण) प्राणशक्ति की सहकारिता से 'प्रसूत' अर्थात् बहिरङ्ग रूप में उन्मिषित हुए हैं। इसका तात्पर्य यह कि वहां चित्शक्ति के ज्योतिर्मय वलय (पराभाव) के गर्भ में ही:—

(क) पश्यन्ती-वाणी के क्षेत्र में (चिद्-भावद् की ही प्रधानता के कारण) गौण बनी हुई सूक्ष्म प्राणना-शक्ति की सहाकारिता से,

(ख) मध्यमा-वाणी के क्षेत्र में चिद्-भाव के गौण बन जाने के कारण प्रधानरूप में कार्यनिरत सूक्ष्म प्राणना-शक्ति की सहकारिता से, और—

(ग) वैखरी-वाणी के क्षेत्र में स्थूल प्राणसञ्चार की सहकारिता से अक्षर उत्पन्न हो जाते हैं।

मूलग्रन्थ— ते च त्रिषष्टिः, तद्यथा:—

अ-इ-उ-ऋ— वर्णाश्चत्वारो ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-भेदाद् द्वादश। लृकारस्य दीर्घो नास्ति इति ह्रस्व-प्लुत-भेदाद् द्विविधः। सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्तीति दीर्घ-प्लुत-भेदादष्टविधाः। एवं स्वरा द्वाविंशतिः। कादयो मान्ता पञ्चविंशतिः स्पर्शाः। अन्तस्थाश्चत्वारः। कुं-खुं-गुं-धुं इति यमाश्चत्वारः। अनुस्वारविसर्ग-जिह्वामूलीय-उपध्यमानीया— अं, अः, ᳵक, ᳶप, इति चत्वारः।

अनुवाद— उन अक्षरों की संख्या तिरसठ है। ब्यौरा इस प्रकार है:—

अ, इ, उ, ऋ इन चार मूलस्वर वर्णों में से प्रत्येक के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन तीन भेद होने के कारण इनकी कुल संख्या बारह। लृ इस मूलस्वर वर्ण का दीर्घ नहीं है अतः ह्रस्व और प्लुत भेदों से इसकी कुल संख्या दो। सन्ध्यक्षरों ए, ऐ, ओ और औ के ह्रस्व रूप नहीं हैं अतः हरेक के दीर्घ एवं प्लुत ये दो दो रूप होने के कारण इनकी कुल संख्या आठ। इस प्रकार संकलन करने पर स्वरवर्णों की कुल संख्या बाईस है। क से लेकर म तक के स्पर्शवर्णों की कुल संख्या पच्चीस। अन्तस्थों की कुल संख्या चार। ऊष्माक्षरों की कुल संख्या चार। कुं-खुं-गुं-घुं इन यमाक्षरों

की कुल संख्या चार। अनुस्वार विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय = अं, अः, ≍क, ≍प ये चार वर्ण (ध्वनियां)।

मूलग्रन्थ— यथोक्तम् :—

"स्वरा द्वाविंशतिश्चैव स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयः शादयश्चाष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ≍ क ≍ प इति पराश्रयौ।
त एते गदिता वर्णास्त्रिषष्टिरिह सूरिभिः॥ इति।

अनुवाद— जैसा कि इस बारे में कहा गया है:—स्वर, बाईस, स्पर्श पच्चीस, य इत्यादि और श इत्यादि आठ, यमाक्षर चार कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त अनुस्वार = अं, विसर्ग = अः और दूसरों अर्थात् क और प पर निर्भर ≍ जिह्वामूलीय और ≍उपध्मानीय इस प्रकार विद्वानों ने इस वर्णसमाम्नाय में कुल वर्णों की संख्या तिरसठ[६] बताई है।

मूलग्रन्थ— मित्रः सूर्योऽन्तरशेषद्वैतप्लोषकारित्वादग्निः। वरुणो ह्लादाम्यायकारित्वात् सोमः।

अनुवाद— (मूल श्लोक में उल्लिखित 'मित्रावरुण' शब्दों में से) 'मित्र' शब्द सूर्य का वाचक है। वह अग्निरूप है क्योंकि वह अन्तर्हृदय में सारी द्वैतभावनाओं को जला डालता है। 'वरुण' शब्द 'सोम' अर्थात् चन्द्रमा का वाचक है क्योंकि वह आन्तरिक आह्लाद और पुष्टि प्रदान कर देता है।

मूलग्रन्थ— 'वर्णानन्तः प्रकट करणैः प्राणासङ्गात् प्रसूते'— इति पाठान्तरे वा परावाक् शक्तिर्मित्रावरुणसदनाद् उच्चरन्ती प्रमाण-प्रमेयात्मक, सूर्य-चन्द्राश्रयेणात्माकाशाद् ऊर्ध्वं सरन्ती सर्वोत्तीर्णं निजं धाम प्रमातृरूपं स्रवन्ती अस्ति। सैव अन्तः-प्रकटैर् अन्तरेव स्फुटैरिन्द्रियैः कृत्वा त्रिषष्टिं वर्णान् प्राणसङ्गाद्धेतोः प्रसूते जनयति-इत्यन्वयः

इन्द्रियाणां रूपाद्युपलब्ध्यानुमेयत्वाद् बहिः स्फुटत्वाभावेन अन्तः-प्रकटीभावः। एतदभिधेयपक्षे उच्चारणप्रसूत्योः क्रमेण अनुवाद्यविधेयभावः।

अनुवाद— अथवा यहां पर श्लोक के दूसरे चरण का :—

'वर्णानन्तः प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात् प्रसूते'।

यह पाठान्तर भी प्रचलित है। उसके अनुसार (पद्य के पहले दो चरणों का) अन्वयार्थ इस प्रकार लगाया जा सकता है:—

जो परावाणीरूपिणी शक्ति मध्यधाम से उच्चार करती हुई अर्थात् प्रमाणरूपी सूर्य और प्रमेयरूपी चन्द्रमा का आश्रय लेकर आत्मव्याप्ति से भी बहुत ऊपर सरण करती हुई, अपने सर्वातीत धाम अर्थात् सर्वोत्तीर्ण प्रमातृभाव (चित्-प्रमातृभाव) की धारा बहाती रहती है, वही केवल अन्तर्लीन इन्द्रियशक्तियों के द्वारा, सूक्ष्म प्राणनाशक्ति की सहकारिता के कारण से तिरसठ वर्णों को जन्म देती है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'प्रकट इन्द्रियों के द्वारा इस कथन का अभिप्राय यह है कि 'इन्द्रिय' अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के इन्द्रिबोध को उपजाने वाली इन्द्रिय-शक्तियां बहिरङ्ग रूप में कभी स्पष्ट होती नहीं हैं। हां केवल रूप इत्यादि पांच विषयों की उपलब्धि होने से उनके अस्तित्त्व की अटकल लगाई जा सकती है। अत: उनकी स्पष्ट वर्तमानता आन्तरिक रूप में ही सदा होती है।

(श्लोक में प्रयुक्त) उच्चारण और प्रसूति इन दोनों का आपस में अनुवाद्य-विधेय-भाव सम्बन्ध है। (तात्पर्य यह कि पहले प्रयुक्त 'उच्चार' शब्द में जो अभिप्राय निहित है, अनुगामी 'प्रसूते' शब्द दूसरे प्रकार से उसी का स्पष्टीकरण कर रहा है[७]।)

टिप्पणियां

१. पराभाव पर वाणी का रूप सर्वातीत संवित्, पश्यन्ती पर अभेदमय विमर्श, मध्यमा पर भेदाभेदमय विमर्श और वैखरी पर स्थूल ध्वनिरूप पूर्ण भेदमय विमर्श होता है।

२. संसार में कई मानवेतर प्राणी भी उनकी अपनी अपनी कायिक अवस्था के अनुकूल वैखरीवाणी का उपयोग करते हैं, परन्तु कई ऐसे भी प्राणी हैं जो किसी भी अवस्था में उसका प्रयोग नहीं करते हैं। कई छोटे छोटे कृमि-कीटाणु इसका उदाहरण हैं।

३. इस सन्दर्भ में प० त्रिं० पृष्ठाङ्क ७ और ८ पर लिखी गई २, ३ और १ टिप्पणियां पढ़ें।

४. तान्त्रिक सन्दर्भ में 'वरुण' शब्द चन्द्रमा का वाचक है। अत: 'मित्रा-वरुण' शब्दों से सूर्य-चन्द्र का बोध होता है। वरुण शब्द जल का वाचक है। सोम भी तरल एवं अमृतमय होने के कारण वरुण कहलाता है। यहां तक तो ठीक है परन्तु प्रस्तुत शैवयोग के सन्दर्भ में मित्रावरुण, सूर्यचन्द्र इनका या इन जैसे और भी सैंकड़ों शब्दों का प्रयोग साङ्केतिक

रूप में किया गया है। फलत: शाम्भव उपाय, शाक्त उपाय और आणव उपाय के दृष्टि कोणों से इस शब्दयुग (मित्रावरुण) के साङ्केतिक अर्थ इस प्रकार हैं :—

१. शाम्भव उपाय = प्रकाश और विमर्श।

२. शाक्त उपाय = ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति।

३. आणव उपाय = प्राणशक्ति और अपानशक्ति।

इन तीनों के अभ्युत्थान और विश्रान्ति का स्थान मध्यनाडी है अत: 'मित्रावरुणसदन' शब्द से कूटरूप में इसी नाडी का अर्थ लिया जाता है।

५. 'अग्नीषोम' यह शब्दयुग्म भी 'मित्रावरुण' इस शब्दयुग्म का कूट पर्याय है। टीकाकार ने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है कि सूर्य ही अग्नि अर्थात् दाहक-शक्ति है क्योंकि यह मन में विद्यमान क्षोभजनक द्वैतभावनाओं को जला डालता है। वरुण ही 'सोम' अर्थात् शीतलता एवं पुष्टि प्रदान करने वाली शक्ति है। इस शब्द में व्याकरण नियम के अनुसार 'स' को 'ष' बन गया है।

६. निम्नलिखित तालिका से तिरसठ वर्णों का स्पष्टीकरण हो सकता है :—

स्वर वर्ण

ह्रस्व	दीर्घ	प्लुत	
अ	आ	आ ३	
इ	ई	ई ३	
उ	ऊ	ऊ ३	
ऋ	ॠ	ॠ ३	
ऌ	×	ऌ ३	
×	ए	ए ३	
×	ऐ	ऐ ३	
×	ओ	ओ ३	
×	औ	औ ३	कुल संख्या = २२

स्पर्श वर्ण—	क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न

	प	फ	ब	भ	म	कुल संख्या = २५
अन्तस्थ वर्ण	य	र	ल	व		कुल संख्या = ४
ऊष्म वर्ण	श	ष	स	ह		कुल संख्या = ४
यम अक्षर (वर्ण)	कुं	खुं	गुं	घुं		कुल संख्या = ४
अनुस्वार वर्ण				अं		कुल संख्या = १
विसर्ग वर्ण				अः		कुल संख्या = १
जिह्वामूलीय वर्ण		ᳵ		क		कुल संख्या = १
उपध्मानीय वर्ण		ᳶ		प		कुल संख्या = १
			कुल			वर्ण संख्या = ६३

इनमें से यम, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आजकल प्रचलित नहीं हैं।

भगवान अभिनव के अनुसार वर्णों की कुल संख्या ६४ है। उनके द्वारा बताये गए वर्णसमाम्नाय में स्वरों के प्लुत भेदों को स्थान नहीं दिया गया है– यमाक्षरों का रूप दूसरा और संख्या ५ है, लघुप्रयत्नतर और संयुक्ताक्षर दूसरे प्रकार की ध्वनियों को स्थान दिया गया है। प० त्रिं० भा० पृष्ठाङ्क ३०८ देखें।

पश्यन्ती-वाणी के विषय में यहां पर इस तथ्य का स्पष्टीकरण आवश्यक है कि शैव आचार्यों के मन्तव्यानुसार यह वाणी पार्यन्तिक परमशिव भूमिका (प्रमेयता के नगण्य लेशमात्र से भी अनुपरक्त पतिप्रमातृभाव अथवा विशुद्ध परमेश्वर बोध की भूमिका न होकर सदाशिवभाव की ही भूमिका है। भगवान उत्पलदेव का कथन है:—

'किन्त्वान्तरदशोद्रेकात्सादाख्यं तत्त्वमादितः'। (ई० पू० ३,१, २)

'निमेषोऽन्तः सदाशिवः'। (वही ३-१-३)

संक्षेप में इन दो कारिकाभागों का तात्पर्य यह है कि जिस दशा में आन्तरिक बोध की अर्थात् पर-अहंभाव की प्रधानरूप में और उसी के गर्भ में बहिरंग इदं भाव की अत्यंन्त अस्फुटरूप में अर्थात् अस्फुटता की ही स्फुटता की ओर अभिमुखता के रूप में स्फुरणा हो वह सदाशिवदशा कहलाती है। इसको दूसरे रूप में 'सद्' भी कहते हैं क्योंकि इस स्तर पर बहिरङ्ग विश्वमयता के सद्भाव की चेतना पहली बार उजागर होती है। फलतः सदाशिवदशा विशुद्ध ज्ञानमयी अवस्था नहीं है क्योंकि इसमें इदंभाव

का सूत्रपात हो रहा है। पश्यन्ती दशा में भी यद्यपि वाचक एवं वाच्य दोनों अविभक्त रूप में ही वर्तमान होते हैं परन्तु उस अविभाग में ही उनके विभाग का अस्फुट सूत्रपात भी होता रहता है जोकि आगे मध्यमा पर स्फुट रूप धारण कर लेता है। अतः पश्यन्ती वास्तव में सदाशिवभाव की अवस्था है।

वैयाकरण दार्शनिक इस पश्यन्ती को स्फोट अर्थात् शब्द ब्रह्म का वह मूल सूक्ष्मरूप मानते हैं जिसके विस्फोट से ही सारा असीम शब्दब्रह्म बहिरंग रूप में विस्तार में आता है। वैयाकरणों की दृष्टि में यह स्फोटरूपी शब्दब्रह्म ही पार्यन्तिक तत्त्व अथवा एक शाश्वतिक स्पन्दन है जिससे हरेक वस्तु का प्रादुर्भाव हो जाता है।

शैव विचारकों ने पश्यन्ती से भी ऊपर एक ओर सर्वातीत, शाश्वत एवं शक्तिरूपिणी परावाणी को खोज निकाला है और वैयाकरण लोग उससे पूर्णतया अनभिज्ञ है। इस सन्दर्भ में श्रीसोमानन्द की शिवदृष्टि और प० त्रिं० भा० पृष्ठ १९९-२०३ तक देख लेना आवश्यक है।

श्लोक ५

उपक्रमणिका— एवं वाक्प्रसरान्तं भगवन्तं स्तुत्वा मध्यधामसाफल्यम् अर्थयते :—

इस प्रकार वाणियों के रूप में प्रसार करने की अन्तिम सीमा (वैखरी-वाणी) तक 'भगवान' अर्थात् चित्-सूर्य की स्तुति करने के उपरान्त (अब अगले पद्य में) मध्यधाम की सफलता अर्थात् तुरीया के स्पष्ट साक्षात्कार की प्रार्थना कर रहे हैं:—

मूलश्लोक

ऊर्ध्वाधःस्थान्यतनुभुवनान्यन्तरा संनिविष्टा
नानानाडीप्रसवगहना सर्वभूतान्तरस्था।
प्राणापानग्रसननिरतैः प्राप्यते ब्रह्मनाडी
सा नः श्वेता भवतु परमादित्यमूर्तिः प्रसन्ना॥

अन्वय— प्राण-अपान-ग्रसन-निरतैः (या) ऊर्ध्व-अधः-स्थानि अतनु-भुवनानि अन्तरा संनिविष्ठा, नाना-नाडी-प्रसव-गहना, सर्व-भूत-अन्तरस्था ब्रह्म-नाडी प्राप्यते, सा श्वेता परम-आदित्य-मूर्तिः नः प्रसन्ना भवतु।

अनुवाद— प्राणचार और अपानचार दोनों का 'ग्रास' अर्थात् मध्यनाडी में विश्रान्ति का अभ्यास करने वाले योगियों को (अपनी काया में ही) ऊपर और नीचे की ओर ठहरे हुए असंख्य भुवनों के मध्य में अवस्थित, नाना प्रकार की नाडियों के जाल को फैलाने से गहन बनी हुई और सारे प्राणियों के अन्तरतम में वर्तमान, जिस ब्रह्मनाडी का साक्षात्कार होता है, वही श्वेत वर्णवाली परम चित्-सूर्य देव की मूर्ति हम सब पर प्रसन्न हो जाये।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— परमादित्यस्य चिद्-भानोर्, ब्रह्मनाडीरूपा या सा इति दिव्या मूर्तिः समुच्छ्रिताकृतिर् नोऽस्माकं प्रसन्ना प्रशस्ता प्रशमित प्राणादिकालुष्या, अत एव श्वेता-चिदानन्दघनतया स्फुरन्ती, अस्तु।

अनुवाद— लोकोत्तर प्रकाशमानता से युक्त भगवान चित्-सूर्य की जो ब्रह्मनाडी, के रूपवाली दिव्य मूर्ति है वह हम सब पर प्रसन्न हो जाये। प्रस्तुत प्रसङ्ग में प्रसन्न होने का अभिप्राय उसके प्रशस्त (मलों से रहित स्वच्छ) होने का है। तात्पर्य यह कि प्राणचार[२] और अपानचार[३] दोनों की कालिख अर्थात् क्षोभ का शमन करने के फलस्वरूप 'श्वेत' अर्थात् चिदानन्दघनता की अवस्था में स्फुरायमाण बनी रहे।

मूलग्रन्थ— कीदृशी सा?

या ऊर्ध्वम् अधश्च स्थितानि अतनूनि अनल्पानि अनाश्रितादि-कालाग्न्यन्त-भुवनेश-भुवनानि देहे बहिश्च अन्तरा मध्ये संनिविष्ठा व्याप्य अवस्थिता।

अनुवाद— वह (ब्रह्मनाडी) कैसी है? (इस शङ्का का परिहार करते हुए कहते हैं):—

(क) किसी भी (पाञ्चभौतिक) काया के भीतर और बाहर (इर्दगिर्द के विश्व में) ऊपर और नीचे जो बहुत से अनाश्रित-भुवनेश के भुवन से लेकर कालाग्नि-भुवनेश के भुवन तक के (११८) भुवन अवस्थित हैं, ब्रह्मनाडी उन सब के एकदम मध्य में व्याप्त होकर वर्तमान है।

मूलग्रन्थ— **तथा नानानाडीनां चक्षुरादिरोमरन्ध्रान्तानां सुषिराणां प्रसवेन स्फारेण गहना सर्वैर्दुष्प्रापा।**

(ख) अनुवाद—और जो विभिन्न आकार-प्रकारों वाली नाडियों अर्थात् आंख इत्यादि से लेकर रोमकूपों तक की पोली शिराओं के जाल के फैलाव से घिरी होने के कारण इतनी गहन है कि सारे प्राणियों की पकड़ में नहीं आती है।

मूलग्रन्थ—**सर्वेषां स्थावरादिदेवयोनिभेदान्तानां भूतानाम् अन्तरस्था देहमध्ये वर्तमाना।**

(ग) अनुवाद— और जो सारे जीवों, जिनका विस्तार स्थावर योनियों से लेकर देवयोनियों तक है, की कायाओं के मध्य में (मेरुदण्ड में) वर्तमान है।[४]

मूलग्रन्थ— **यतश्च उक्तयुक्त्या गहना अत एव कैश्चिदेव प्राणापानयोः सर्ववाहप्रसरप्रवेशयोर् ग्रसननिरतैर् भक्षणप्रगल्भैः प्राप्यते समाविश्यते।**

अनुवाद— चूंकि यह नाड़ी उल्लिखित युक्ति के अनुसार बहुत अथाह अथवा अभेद्य है, अतः कुछेक विरले योगिजनों, जोकि सारी प्राणवाहिनियों में प्राणवायु और अपानवायु के बाहरी प्रसार और भीतरी प्रवेश को ग्रास करने की युक्ति में निपुण हों, के द्वारा पकड़ में लाई जा सकती है। तात्पर्य यह कि वे ही योगिजन इसमें प्रवेश पा सकते हैं।

टिप्पणियां

१. ब्रह्मनाड़ी मध्यधाम (सुषुम्नानाडी) का ही दूसरा नाम है। मध्यनाडी के विषय में संक्षिप्त जानकारी पहले श्लोकाङ्क २ की क्षेमराजीय व्याख्या पर लिखी गई टिप्पणी १ में दी गई है। यहां पर केवल इतना कहने की आवश्यकता है कि शाम्भव, शाक्त और आणव दृष्टिकोणों से ब्रह्मनाडी के तीन रूप हैं जो कि निम्नलिखित प्रकार से हैं:—

(क) शाम्भव दृष्टिकोण से सर्वातिशायिनी पारमेश्वरी चित्-शक्ति ही सब का 'मध्य' अर्थात् अनुत्तरीय हृदय है:—

'सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात् तद्भित्तिलग्नतां विना च कस्यचिदपि स्वरूपानुपपत्तेः संविदेव भगवती मध्यम्'। (प्र० हृ० पृ० ७६)

लोकातीत एवं लोकभूमिकाओं पर जो कुछ भी विद्यमान है उसके अणु अणु में, कुसुम में सौरभ की तरह, व्यापक होने अथवा प्रत्येक जड एवं चेतन पदार्थ का सत्तादायक आधार होने के कारण इसको मध्य कहते हैं। निर्बाध पारमेश्वरी इच्छाशक्ति इसमें प्रवेश पाने का द्वार है। भगवान उत्पलदेव का कथन है:—

'मूलाय मध्यायाग्राय मूलमध्याग्रमूर्तये।
क्षीणाग्रमूलमध्याय नमः पूर्णाय शम्भवे॥

(शि० स्तो० २-९)

(ख) शाक्त दृष्टिकोण के अनुसार ब्रह्मरन्ध्र से मेंढ्रकन्द तक स्थित हजारों नाडियों की मध्यभूता प्रधान नाडी को ब्रह्मनाडी कहते हैं। प्राणशक्तिरूपी ब्रह्म इसका आश्रय है। सारी चित्तवृत्तियों का वहीं से उदय और उसी में पुनः विश्रान्ति होने के कारण इसको मध्यनाडी की संज्ञा दी गई है:—

'प्राणशक्तिब्रह्माश्रयमध्यमनाडीरूपतया प्राधान्येन स्थिता तत एव सर्ववृत्तीनाम् उदयात् तत्रैव च विश्रामात्'।

(प्र० हृ० पृ० ७७)

(ग) आणव दृष्टिकोण से भी इसी मेरुदण्ड में अवस्थित प्रधान मध्यनाडी का अभिप्राय है, परन्तु सर्वसाधारण पशुभाव में पड़े हुए प्राणियों के लिए इसका प्रवेशद्वार सदा बंद ही रहता है। फलतः उनमें यह अपने शक्तिरूप को छिपा कर ही अवस्थित रहती है:—

'एवंभूतापि एषा पशूनां निमीलितस्वरूपैव स्थिता'।

(प्र० हृ० पृ० ७७)

२. सर्वसाधारण जीवनव्यवहार में अन्दर से बाहर की ओर संचार करने वाले प्रश्वास वायु को प्राण कहते हैं। इसका अभ्युत्थान हृत्-मण्डल से और विश्रान्ति बाह्य-द्वादशान्त अर्थात् नथनों से १२ अङ्गुल की दूरी पर हो जाती है।

३. बाह्य-द्वादशान्त से अभ्युत्थित होकर बाहर से अन्दर की ओर सच्चार करने वाले श्वास वायु को अपान कहते हैं। प्राण एवं अपान दोनों की गति को सञ्चार या चार कहते हैं। दोनों प्रकार के 'चारों' अर्थात् हृदय से बाह्य-द्वादशान्त तक प्राणचार और बाह्य-द्वादशान्त से हृदय तक

अपानचार की दूरी ३६ अङ्गुल की होती है। जितने समय खण्ड में प्राणवायु या अपानवायु सवा दो अङ्गुल की दूरी तय कर लेता है उतने को एक त्रुटि कहते हैं।

४. मूलश्लोक में भगवान साम्ब ने 'ऊर्ध्वाधः— संनिविष्ठा' में ब्रह्मनाडी के शाम्भव रूप, 'नानानाडि प्रसव गहना' में शाक्त रूप और 'सर्वभूतान्तरस्था' इसमें आणव रूप की स्तुति की है। इसी कारण से इन तीन भागों को अलग अलग क ख ग चिह्न लगाये गये हैं।

श्लोक ६

उपक्रमणिका— किञ्च :-

अनुवाद— और भी एक बात है:—

मूलश्लोक

न ब्रह्माण्ड व्यवहितपथा नातिशीतोष्णरूपा
नो वा नक्तंदिवगममितातापनीयापराहुः।
वैकुण्ठीया तनुरिव रवे राजते मण्डलस्था
सा नः श्वेता भवतु परमादित्यमूर्तिः प्रसन्ना॥

अन्वय— (या) वैकुण्ठीया तनुः इव ब्रह्माण्ड-व्यवहित-पथा अति-शीत-उष्ण-रूपा वा नक्तं-दिव-आगम-मिता न (अस्ति), (या) अ-तापनीया अप-राहुः रवेः मण्डलस्था राजते, सा श्वेता परम-आदित्य-मूर्तिः नः प्रसन्ना भवतु।

अनुवाद— भगवान विष्णु की वामन अवतार के समय की मूर्ति के समान (जो) परम उत्कृष्ट चित्-सूर्यदेव की, ब्रह्माण्ड के द्वारा न रुकाये जाने वाले प्रसार के मार्गवाली, न अधिक ठंडी, न अधिक गर्म, न रात और दिन के आने-जाने से इयत्ता में पडी हुई, बहुत आनन्ददायक अथवा तीन तापों से बहुत दूर और राहु के भय से मुक्त निर्मल मूर्ति चित्प्रकाशरूपी मण्डल में विराजमान है, वह हम सब पर प्रसन्न हो जाये।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ—ब्रह्मणो ब्रह्मबिलावरणनिविष्ठस्य, अण्डं गर्भीकृत भू-मूल-मायाण्ड-प्रपञ्च-शक्त्यण्डं, तेन न व्यवहिता अपि तु समन्ततः क्रोडीकारी पन्था प्रसरमार्गो यस्याः,

तथा अतिशीतः सोमः, अत्युष्णो बह्निः, इयं तु द्वैतदाहाद् अद्वैतानन्दस्यन्दित्वाच्च नैवंरूपा, अपि तु समरसीभूताग्नीषोमात्मा,

तथा नक्तंदिनं रात्रिदिनं यो गमो भ्रमणं तेन नो इता प्रमेयभावं न प्राप्ता तद्वती,

तथा अतापनीया परमाह्लादप्रदा,

तथा अपगतो राहुराच्छादनप्रधानः शून्यप्रमाता यस्याः सा। किञ्च रवेश्छिद्धानोर्मण्डले रश्मिपरिवेषे राजते दीप्यते।

अनुवाद— (प्रस्तुत प्रसङ्ग में) 'ब्रह्माण्ड'[१] शब्द से पृथिवी अण्ड, प्रकृति-अण्ड और माया-अण्ड के प्रपञ्च को अपने गर्भ में धारण करने वाले शक्ति-अण्ड[२] का अभिप्राय है। यह अण्ड भी बृहत् एवं बृंहक होने के कारण ब्रह्मरूप ही है। यह शक्ति-अंडरूपी ब्रह्माण्ड 'ब्रह्मबिल' अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र = सहस्रारचक्र में प्रवेश के मार्ग को रोककर अवस्थित[३] है। परन्तु चित्-सूर्यदेव की मूर्ति ऐसी है कि इसके प्रसार के मार्ग में यह उल्लिखित ब्रह्मण्ड कोई व्यवधान नहीं है, प्रत्युत उल्टे में यह सारा प्रसार का मार्ग इसको (चित्सूर्य की मूर्ति को) अपने अङ्क में भर देता है। और चन्द्रमा स्वभाव से अत्यन्त शीतल है, अग्नि स्वभाव से अत्यन्त गर्म है, परन्तु इसके प्रतिकूल यह (मूर्ति) द्वैतवासना को जलाने और अद्वैत की आनन्दमयता की धार बहाने के कारण उस स्वभाव की नहीं है, बल्कि अग्नि और चन्द्रमा (प्राण एवं अपान) की समरसता[४] की अवस्था ही इसकी आत्मा है, तथा रात और दिन के चक्कर से इयत्ता में नहीं डाली जा सकती है अर्थात् यह कभी भी प्रमेय भूमिका पर नहीं उतरती है, तथा यह ताप (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) न उपजाती हुई परम आनन्ददायिनी है, और यह ऐसी है कि 'राहु' अर्थात् आत्मा के वास्तविक स्वरूप को छिपाने वाला शून्यप्रमातृभाव इसके पास फटकने भी नहीं पाता है। साथ

ही यह भी (स्वसंवेदनसिद्ध) तथ्य है कि यह (मूर्ति) -रवि' अर्थात् आन्तरिक चित्-सूर्य देव के मण्डल में नित्य प्रकाशमान रहने वाली सत्ता है।

मूलग्रन्थ—ब्रह्मार्कमूर्तिस्तु ब्रह्माण्डव्यवहिता स्वर्लोकान्तमात्रावभासिका, शिशिरग्रीष्मादावतिशीतोष्णरूपा, अहर्निशं भ्रमन्ती, सन्तापिका, राह्वभिभूता चेति व्यतिरेकध्वनिः।

अनुवाद— बाहरी स्थूल सूर्य की मूर्ति तो अपने प्रसार के मार्ग में ब्रह्माण्ड के अनेक व्यवधान होने के कारण केवल स्वर्गलोक तक ही प्रकाश का वितरण कर सकती है। यह शिशिर एवं ग्रीष्म जैसे ऋतुओं में क्रमशः अत्यन्त शीतल और अत्यन्त गर्म, रात और दिन के पचड़े में पड़कर (अपनी परिधि में) घूमने वाली, सन्ताप को उपजाने वाली और राहु के द्वारा आक्रान्त होने के स्वभाववाली है। यह भाव (पद्य में वर्तमान) व्यतिरेक अलङ्कार से ध्वनित होता है।

मूलग्रन्थ—वैकुण्ठस्य विष्णोर्मूर्तिरिव- इत्युपमा। सापि बलि-वञ्चनावसरे ब्रह्माण्डान्तर्निरुद्धमार्गा न केनचित्। अत एव नातिशीतोष्णरूपा-प्रकाशाह्लाददा भक्तानामित्यर्थः। नक्तंदिवगमेनाहोरात्रपरिभ्रमणेन न मिता - देवादिभिर्नैयत्तया परिच्छिन्नेत्यर्थः । तापनीया महाप्रतापवती। अपगतराहुर-पक्रान्तरविमण्डला चेति श्लेषः। एवमयमत्रोपमाश्लेषो व्यतिरेकध्वनिना संसृष्टः।

अनुवाद— 'वैकुण्ठ' अर्थात् भगवान विष्णु की 'मूर्ति' अर्थात् वामन अवतार की मूर्ति, जैसी— यह उपमा है। वह (वामन मूर्ति) भी ऐसी थी कि बलिदानव को वञ्चित करने के अवसर पर सारे ब्रह्माण्ड में कोई भी उसके प्रसार का मार्ग रोक नहीं पाया। इस कारण से यह कहना भी संगत है कि उसकी रूपच्छटा न ज्यादा तीक्ष्ण और न ज्यादा मन्द थी। तात्पर्य यह कि अपने भक्तों को वह प्रकाश एवं आनन्द का वितरण करती थी। वह भी रात और दिन के चक्कर के द्वारा किसी इयत्ता में डाली नहीं जा सकी थी अर्थात् देवताओं या और किसी के द्वारा किसी इयत्ता के चौखटे में बान्धी नहीं जा सकी थी। वह भी महान प्रताप से पूर्ण थी। उसके सामने राहु भी नहीं टिक सका था अर्थात् उसने स्वयं ही समूचे सूर्यमण्डल

को आक्रान्त किया था। यह श्लेष अलङ्कार है। फलतः इस श्लोक में उपमामूलक श्लेष अलंकार की सृष्टि व्यतिरेकमूलक ध्वनि से हुई है।

टिप्पणियां

१. पहले भी इस बात का सङ्केत दिया गया है कि त्रिकसन्दर्भ में ब्रह्म उस सत्ता को कहते हैं जो बृहत् अर्थात् असीम विस्तार वाली और बृंहक अर्थात् अपने गर्भ में निहित अवान्तर ब्रह्माण्डों, भुवनों इत्यादि को पुष्टि प्रदान करने वाली हो। इसके अतिरिक्त जो सत्ता 'बृंहित' अर्थात् स्वरूप में शाश्वतरूप में गर्भित रहने वाले विश्वात्मक वीर्य के बहिर्मुखीन 'उच्छलन' अर्थात् परम शिवभाव से वियोजन और शक्तिभाव के साथ संयोजन के रूपवाली आनन्दमयता से भरपूर हो, वही परब्रह्म कहलाती है:—

'अन्तर्गत विश्ववीर्य समुच्छलत्तात्मकविसर्गविश्लेषानन्दशक्त्यैकधनं ब्रह्म-बृहत् व्यापकं बृंहितञ्च . . . . ।'

(प० त्रिं० भा० पृ० ३४९)

भगवान अभिनव ने प० त्रिं० पृ० ३४९ से आगे पृ० ३७३ तक विभिन्न प्रकार के परब्रह्मरूपों का विस्तृत लेखा-जोखा प्रस्तुत करके रखा है। संक्षेप में त्रिकमतानुसार 'श' से लेकर 'क्ष' तक के पांच वर्णों में क्रमशः महामाया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति इन पांच ब्रह्मरूपों की व्यापकता मानी गई है।इन पांच तत्त्वों को ब्रह्मरूप मानने के दो मूल आधार हैं। पहला यह कि मायीय भेददशा से अतिगत होने के कारण इनमें 'बृहत्व' अर्थात् उत्तरोत्तर विस्तार और सारे जड़-चेतन समुदाय की सृष्टि करने के कारण 'बृंहकत्व' अर्थात् पोषण की क्षमता पाई जाती है:—

'एषाञ्च तत्त्वानां बृहत्त्वं बृंहकत्वञ्च प्रायो भेदसमुत्तीर्णत्वात्, संसार-सूतिक्रर्तृत्वाच्च'।

(प० त्रिं० पृ० १८५)

इसके अतिरिक्त त्रिकदृष्टि के ही अनुसार अण्ड शब्द में 'मायीय-मल' अर्थात् सारे भावों का मौलिक ब्रह्मसत्ता से और आपस में भी एक दूसरे से भेदभाव का अभिप्राय निहित है :—

'अण्डं मायामलम्, अण्डं च भावानां भेदाख्यं सारम् . . . ।'

(प० त्रिं० पृ० ३७५-६)

फलतः 'ब्रह्म' शब्द आधारभूत, सर्वव्यापक एंव एक ही शाश्वत सत्ता, जिसके गर्भ में अनन्त विस्तार वाला विश्ववैचित्र्य पनपता रहता है, को अभिव्यक्त करता है और इस भेदभावगर्भित असीम अस्तित्व को ब्रह्माण्ड कहते हैं। अण्डा भी बाहर से एकरूप परन्तु अन्दर आगामी शावक के परों के वैचित्र्य को रसरूप में धारण करता हुआ पदार्थ होता है।

२. त्रिकदार्शनिकों ने सारी बहिरंग विश्वमयता अर्थात् शक्ति-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व तक के तत्त्वविस्तार को चार अण्डों में विभाजित करके रखता है। इनके नाम शक्ति-अण्ड, माया-अंड, प्रकृति-अण्ड और पृथिवी-अण्ड हैं। ये चारों अण्ड परशिवसत्ता के गर्भ में, उसी पर आधारित और कण कण में उसी की व्यापकता से युक्त हैं। शक्ति के गर्भ में माया, माया के गर्भ में प्रकृति और प्रकृति के गर्भ में पृथिवी अंडों का विस्तार निहित है। इसी का नाम बहिरंग विश्व है। यह सारा विश्वप्रपञ्च शक्ति-अण्ड के रूप में अनुत्तरीय परब्रह्मसत्ता के गर्भ में प्रतिसमय विकासमान है। ये चारों अण्ड भी अपनी अपनी जगह अलग अलग ब्रह्माण्ड ही हैं।

जिस प्रकार काया से बाहर स्थूल विश्व में अनेकानेक पदार्थों, भुवनों एवं विचित्रताओं से भरे हुए ये चार अण्ड अवस्थित हैं उसी प्रकार प्रत्येक काया के अन्दर भी इनकी अवस्थिति मानी जाती है। शक्ति-अण्ड की अवस्थिति 'ब्रह्मरन्ध्र' अर्थात् भ्रूमध्य में अवस्थित आज्ञाचक्र से उपरीले भाग में वह रंध्र जिसके द्वारा प्राणाभ्यासी लोग सहस्रार-चक्र में प्रवेश कर सकते हैं, के स्थान पर स्वीकारी गई है।

३. 'ब्रह्मबिल' ब्रह्मरन्ध्र का ही पारिभाषिक पर्याय है। शैवसिद्धों के कथनानुसार शक्ति-अण्ड इस ब्रह्मरन्ध्र-रूपी प्रवेशद्वार को रोककर अवस्थित है। जिन भाग्यशाली व्यक्तियों में चित्-शक्ति पूर्णरूप से जागरूक एवं निर्मल हो उन्हीं को इस शक्तिमय द्वार से ऊपर 'सहस्रार' अर्थात् परशिवमयी परब्रह्मसत्ता में निर्बाध प्रवेश मिल सकता है। चित्-शक्ति के लिए लोकोत्तर या लोकभूमिका पर कोई स्थान अगम्य नहीं है और न इसके स्वतन्त्र संचार में कहीं कोई अवरोध है। इसके प्रतिकूल जो अभी पशुचेतना के ही

दलदल में फंसे हुए हों उनके लिए यह शक्तिमय प्रवेशद्वार बन्द ही रहता है। शैव-शास्त्र में प्रसिद्ध 'शैवी मुखमिहोच्यते'— इस वाक्य का यही वास्तविक अभिप्राय है।

४. जब प्राणाभ्यास की प्रक्रिया से प्राण एवं अपान दोनों मूलाधार से मध्यनाडी में प्रवेश पाकर 'समान' अर्थात् तुल्यबल बनकर उदानमयी ऊर्ध्वगति पकड़ लेते हैं तभी सारे क्षोभों का सहसा शमन हो जाता है और आन्तरिक विशुद्ध चित्-शक्ति जागरूक हो जाती है।

५. चित्-सूर्य देव के मण्डल से स्वयं स्वतन्त्र एवं सर्वातिशायिनी चित्-शक्ति ही अभिप्रेत है। 'चित्-शक्ति का मण्डल'— यह कहना निरा औपचारिक है। चित्-शक्ति तो चित्-शक्ति है। उसका स्वरूप से भिन्न कोई मण्डल नहीं है। वह तो अन्तः बहिः एकली और एकमात्र शक्ति है। उसके स्वरूप में कहीं कोई भेद नहीं है। वह न कहीं कम और न कहीं अधिक है। जैसी है वैसी है। उसके लिए 'विश्वोत्तीर्ण या विश्वरूप' जैसी कोई कल्पना भी सार्थक नहीं है। फलतः ऊँची से ऊँची मानव कल्पना जितने विस्तार को छू सकती है वह तो उसके अंतर्वर्ती विस्तार का अंशमात्र हो सकता है। वह विराट सत्ता सदा प्रकाशमान और अवच्छेदों से रहित अस्तित्त्व है।

श्लोक ७

उपक्रमणिका— अथ युगपदन्तर्बहिश्चार्कमूर्तिं स्तौति :—

अनुवाद— अब एक साथ ही आन्तरिक (सूक्ष्म) और बाहरी (स्थूल) सूर्यदेव की मूर्ति की स्तुति कर रहे हैं:—

मूलश्लोक

यत्रारूढं त्रिगुणवपुषि ब्रह्म तद्बिन्दुरूपं
योगीन्द्राणां यदपि परमं भाति निर्वाणमार्गः।
त्रय्याधारः प्रणव इति यन्मण्डलं चण्डरश्मे-
रन्तःसूक्ष्मं बहिरपि बृहन्मुक्तयेऽहं प्रपन्नः॥

अन्वय– यत्र त्रिगुण-वपुषि तद् बिन्दुरूपं ब्रह्म आरूढम्, अपि यत् परमं योगीन्द्राणां निर्वाणमार्गः भाति, यत् त्रयी-आधारः प्रणव इति, यद् अन्तः सूक्ष्मं बहिः अपि बृहत्, चण्डरश्मेः मण्डलम् अहं मुक्तये प्रपन्नः।

अनुवाद– जिस, अकार-उकार-मकार इन तीन मात्राओं की समन्विति के आकार वाले (ओं-कार रूपी मंडल में) वह बिन्दु के रूपवाला परब्रह्म पूर्णतया प्रतिष्ठित है, जो सर्वोत्कृष्ट (ओंकाररूपी मंडल) सिद्धयोगियों को निर्वाण प्राप्त करने का (सहज) मार्ग दीख पड़ता है, जो वेदत्रयी का आधार बना हुआ 'प्रणव' इस नाम से जाना जाता है, जो आन्तरिक अनुसन्धान में सूक्ष्म और बाहर (सूर्य के रूप में) विशाल परिमाण वाला है, (मैं) उसी चित्-सूर्यमण्डल की शरण में पड़ा हूँ।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– तच्चण्डरश्मेश्चिद्दीप्तांशोर्मण्डलं मुक्तये समावेशात्मजीवन्मुक्त्यर्थं प्रपन्नोऽस्मि।

अनुवाद– (मैं) चित्शक्ति का आवेश होने के रूप वाली जीवन्मुक्ति को पाने की कामना से उस चित्-सूर्य के 'मण्डल' अर्थात् ओंकाररूपी मण्डल की शरण में पड़ा हूँ।

मूलग्रन्थ– कीदृशम्?

अन्तश्चिद्भुवि सूक्ष्मम् आद्योन्मेषात्म-योगीन्द्रैरेव लभ्यं, बहिरपि बृहत्परिमाणम्।

(क) अनुवाद– उस (मण्डल) का स्वरूप कैसा है? (इस शङ्का का परिहार करते हुए कहते हैं) :—

जो आन्तरिक चित्-विमर्श की भूमिका पर 'सूक्ष्म' अर्थात् परप्रतिभा के प्राथमिक उन्मेष[१] के रूपवाला केवल उच्चकोटि के योगियों के द्वारा अनुभव किया जाता है, और बाहर (स्थूल जगत में) विशाल परिमाण वाला दिखाई दे रहा है।

मूलग्रन्थ– यत्र सृष्टि-स्थिति-संहारकारि, रजः-सत्त्व-तमोनिविष्ट, ब्रह्म-विष्णु-रुद्राभिधायि, अकार-उकार-मकाराख्य, ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-वर्णत्रयात्म-त्रिगुणवपुषि प्रणवे, विश्ववेद्याविभाग वेदनात्मा बिन्दुरिति

तदुपलक्षितोन्मनान्ताप्रमेयपरिपाटीरूपं यस्य तादृग् ब्रह्म बृहत् बृंहकं शाक्ततेज आरूढम् अत्युत्कृष्टतया व्यवस्थितम्।

(ख) अनुवाद— रजोगुण पर आश्रित सृष्टिकारी ब्रह्मा, सत्त्वगुण पर आश्रित स्थितिकारी विष्णु और तमोगुण पर आश्रित संहारकारी रुद्र, इन तीन कारणों का प्रतिनिधित्व करने वाले ह्रस्व अकार, दीर्घ ऊकार और प्लुत म३कार इन तीन वर्णों की समन्विति (अ + ऊ + म् = ओं) के द्वारा गम्य त्रिगुणमय स्वरूप वाले जिस प्रणव के ऊपर विश्वभर के प्रमेय पदार्थों के मौलिक विभागहीन संवेदन का परिचायक बिन्दु[२] (.), जोकि कभी भी प्रमेयपदवी को न छूने वाले उन्मनाभाव के रूपवाले असीम एवं पुष्टिप्रद 'परब्रह्म' अर्थात् (तुरीयारूपी) शाक्त-तेजोमण्डल को उपलक्षित करता है, परिपूर्ण रूप में प्रतिष्ठित है।

मूलग्रन्थ— यच्च परमम् असामान्यं, योगीन्द्राणां योग्यतिशायिपरत्त्वैकभाजां निर्वाणमार्गो जीवन्मुक्त्युपायो भाति स्वप्रकाशरूपतया स्फुरति, त्रय्याः प्राङ्निर्णीताया। आधार आश्रयः, प्रकर्षेण नूयते उत्कृष्टतया विमृश्यते परं पारमेश्वरं स्वरूपं येन-इति कृत्वा 'प्रणव' इत्येतन्नाम यत्।

(ग) अनुवाद— और जो 'परम' अर्थात् सर्वसाधारण लोकभूमिका से अतिगत है, अपरिपक्व योगियों की अपेक्षा बहुत आगे बढ़े हुए और परमतत्त्व के साथ एकाकाता धारण करने वाले योगिजनों को जीवन्मुक्ति पाने का सहज उपाय लगता है अर्थात् उनमें स्वप्रकाश रूप में स्वयं ही स्पन्दायमान हो उठता है, वेदत्रयी, जिसका निर्णय पहले किया गया है, का आधार है और जिसका 'प्रणव' यह अतिसंगत नाम है क्योंकि (व्याकरण के अनुसार) 'प्रकर्षेण नूयत इति प्रणवः' इस विग्रह के अनुसार प्रणव उस अलोकसामान्य विमर्श की अवस्था को ध्वनित करता है जिसके द्वारा परमेश्वर के स्वरूप का विशिष्ट रूप में विमर्श किया जाता है।

मूलग्रन्थ— बाह्योऽप्यर्कमण्डले :—

'नवयोजनसाहस्रो विग्रहोऽर्कस्य मण्डलम्'

त्रिगुणं . . . . ।

इति स्वच्छन्दादिष्टनीत्या यत्र बिन्दुरूपमिति सितवर्तुलाकारं ब्रह्ममयं तदसामान्यं बिम्बमारूढं, तच्च योगिनां निर्वाणमार्गः— तेषां हि सूर्यमण्डल भेदनस्य श्रवणात्। तथा वक्ष्यमाणदृशा साम-ऋग्-यजुर्मय-धाम मण्डलाकृतित्वात् त्रय्याधारः। प्रकर्षेण नूयमानत्वात् विश्वशरीरत्वाच्च प्रणवः।

अनुवाद— बाहरी (स्थूल) सूर्यमण्डल के परिप्रेक्ष्य में भी स्वच्छन्दतन्त्रम् में यह मान्यता प्रस्तुत की गई है:—

'सूर्य का विस्तार नव हजार योजनों का और उसके 'मण्डल' अर्थात् प्रकाश के परिवेष का विस्तार उससे तिगुना है'॥

उस असाधारण आयाम वाले परिवेष में भी सफेद और गोलाकार बिन्दु के आकार वाला परब्रह्ममय बिम्ब प्रतिष्ठित है। वह (मध्यवंर्ती) बिम्ब ही योगियों के लिए निर्वाण का मार्ग है क्योंकि (परिपक्व) योगियों के द्वारा सूर्यमण्डल का अवभेदन करने के बारे में श्रुतियों के प्रमाण मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त आगे वर्णन की जाने वाली दृष्टि के अनुसार सामवेद, ऋग्वेद और यजुर्वेदमय प्रकाशविस्फार ही सूर्यमण्डल का वास्तविक आकार होने के कारण यह (सूर्यमण्डल) तीनों वेदों का आधार है।

(भक्तजनों के द्वारा) विशेष श्रद्धा-भक्ति के साथ उपासना किये जाने और सारे विश्व का प्रतिरूप होने के कारण यह भी प्रणवरूप ही है।

टिप्पणियां

१. कश्मीर के कवि श्रीजगद्धरभट्ट (१३वीं शती) के निम्नलिखित पद्य में परब्रह्ममय पवित्र ओंकार की उन्मेषावस्था का वर्णन प्रस्तुत किया गया है:—

अर्थात पद्य क्रम के

'ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं
गर्भगुम्फितसमस्त वाङ्मयम्।
दन्ध्वनीति हृदियत्परं पदं
तत्सदक्षरमुपास्महे महः।

(स्तु० कु० १, ६)

इस पद्य का भाव कुछ इस प्रकार है :—

"हम अर्थात् सारे चेतन प्राणिवर्ग की समष्टि उस सदा-सर्वदा सत्तावान एवं अविनश्वर (अक्षरमय) तेजोमण्डल की उपासना में हमेशा (जाने या अनजाने में) निरत ही हैं। वह परब्रह्ममय तेजोमण्डल 'ओं' इस प्रकार के अनाहत परनाद की स्पन्दना (अन्त: विमर्शमयी स्पन्दना के रूप में निरन्तर (प्रत्येक जीवधारी के अन्तस् में) स्फुरायमाण है। इस नादमय बीज के गर्भ में समूचा वाङ्मय = शब्द ब्रह्म (शाश्वत रूप में) पिरोया हुआ है। वास्तव में प्रत्येक हृदय-मण्डल में (मध्यधाम नाम वाले शाक्तधाम में) यह (परमशिवमय) परमपद की ही अनुगूँज है।

इस ओंकार की अ + उ + म् इन तीन मात्राओं में व्यष्टिरूप में समूचे त्रिपुटीमय विश्व का समावेश है। तात्पर्य यह कि ये तीन मात्रायें इच्छा-ज्ञान-क्रिया, सृष्टि-स्थिति-संहार, सत्त्व-रजस्-तमस्, ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर, उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, प्रथम पुरुष, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय इत्यादि रूपों वाले असंख्य त्रिकों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनकी मौलिक विभागहीन समष्टि प्रणव के ऊपर लगी हुई बिन्दुरूपता में अन्तर्निहित है। 'वेत्ति इति विन्दु:' इस विग्रह के अनुसार बिन्दु: मौलिक ज्ञानरूपता की अवस्था है।

इस प्रणवमयी नादात्मकता का उन्मेष दो रूपों में होता है। बहिर्मुखीन उन्मुखता में इसका उन्मेष समूचे स्थूल शब्द ब्रह्म का, 'ओंकारश्चाथशब्दश्च' इत्यादि पूर्वोक्त (देखिये श्लोक १ की १५वीं टिप्पणी) पद्य के अनुसार प्राथमिक उन्मेष है। अन्तर्मुखीन उन्मुखता में इसका उन्मेष सर्वातीत परशिवभूमिका का प्रवेशद्वार खोल देता है। जैसा कि पहले समझाया गया है कि प्रणव ब्रह्मरन्ध्ररूपी प्रवेशद्वार पर अवस्थित शाक्त-भूमिका (तुरीयाभाव) है। यह शाक्त भूमिका ही शिव भूमिका का प्रवेशद्वार है।

२. 'बिन्दु' के विषय में भी पहले श्लोक १ की १५वीं टिप्पणी में संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत की गई है। यहां पर केवल श्रीपरात्रिंशिका के दृष्टिकोण के आधार पर इस विन्दुकला (.) के संदर्भ में और भी एक दो बातों का संक्षिप्त उल्लेख करना अपेक्षित है:—

चित्-शक्ति एक स्वयंसिद्ध, शाश्वतिक एवं सर्वव्यापिनी चेतना है। लोकोत्तर स्वातन्त्र्य इसका रूप है। स्वतन्त्रता से अंशत: अपने ही स्वरूप को बहिरंग स्थूल जगत् का रूप देकर उसको स्वरूप से अलग जैसे रूप

में स्थापित करना, स्वरूपतः उसके कण कण में व्याप्त रहकर उसको स्थिति देना और पर्यन्ततः उसको फिर स्वरूप में संहृत करना अर्थात् सृष्टि, स्थिति एवं संहार इन मुख्य पारमेश्वर कृत्यों को संपन्न करना, इसका स्वभाव है। कारण यह कि चित्-शक्ति एक शाश्वतिक एवं नित्य उदीयमान नैसर्गिकी कला है।

इस सृष्टि, स्थिति, संहार के दो रूप हैं। एक लोकोत्तर विमर्श में इनका विमर्शमय अर्थात् बिम्बमय रूप और दूसरा इन्द्रियबोध के द्वारा ग्राह्य बहिरङ्ग स्थूल प्रतिबिम्बमय रूप। पहले को महासृष्टि और दूसरे को साधारण सृष्टि कहते हैं। दोनों में कोई भी अन्तर नहीं है। केवल पहला बिम्ब और दूसरा उसीका तद्रूप प्रतिबिम्ब। जो अन्दर है वही बाहर है— 'यदन्तस्तद्बहिः'।

महासृष्टि के सन्दर्भ में प्रक्रिया का रूप कुछ इस प्रकार है। 'अ-कला' अर्थात् अनुत्तरकला चित्-कला के प्रसार का पहला स्तर (आ) आनन्दशक्ति, (इ ई) इच्छाशक्ति, (उ ऊ) ज्ञानशक्ति और (ऋ — औ) क्रियाशक्ति के आठ स्तर हैं। विश्व का रूप क्रियाशक्ति का ही विस्फार है और 'औ' उसकी पूर्ण परिणति का प्रतीक है। पूर्ण परिणति होने पर फिर भी उस विमर्शमय विश्वप्रसार का अनुत्तर कला (चित्-प्रकाश) में ही संहार होता है। अं =

बिन्दु उस संहार का प्रतीक है। यही कारण है कि बिन्दु पूर्णता के आवेश का परिचायक 'चिन्मय पुरुषतत्त्व' अर्थात् परिपूर्ण एवं मौलिक विभागहीन प्रकाशमय शाम्भव-तत्त्व स्वीकारा जाता है। शास्त्रों में बिन्दु का स्वरूप-निर्धारण इस प्रकार किया गया है:—

'अत्र प्रकाशमात्रं यत् स्थिते धामत्रये सति।
उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिवबिन्दुरसौ स्मृतः'॥

तथा :—

उदितायां क्रियाशक्तौ सोम-सूर्याग्नि धामनि।
अविभागः प्रकाशो यः स बिन्दुः परमो हि नः॥'

भाव यह कि इन तीनों धामों अर्थात् इच्छा-ज्ञान-क्रिया (आ-कला से औ-कला तक) के, अनुत्तरीय विमर्श में, व्यवस्थित हो जाने पर जो इनके मूल में विशुद्ध एवं विभागहीन प्रकाशमात्र आभासमान है वही शास्त्रों में बिन्दु माना जाता है और उसको शिवबिन्दु यह संज्ञा भी दी गई है।

सोम-सूर्य और अग्नि के धाम में अर्थात् मध्यधाम रूपी शाक्त भूमिका में जब क्रियाशक्ति पूर्णरूप में उदित हो जाती है (प्राणाभ्यास के क्रम में) तब योगी को अन्तस् में ही जिस विभागहीन प्रकाशविस्फार की अनुभूति हो जाती है वही हम शैवों का सर्वोत्कृष्ट बिन्दु है।

(तुरीया भूमिका में प्रवेश पाते ही योगी को चतुर्दिक् प्रकाशमानता की अनुभूति हो जाती है)

निष्कर्ष यह है कि बिन्दु ही बहिर्मुख होकर विभाग को स्वीकारने पर नाद और नाद ही अन्तर्मुख होकर विभाग को दुतकारने पर बिन्दु है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में बिन्दु ही बहिर्मुखीन अवस्था में प्रणव और प्रणव ही अन्तर्मुखीन अवस्था में बिन्दु है। अधिक जानकारी के लिए तन्त्रालोक जैसे ग्रन्थों का अध्ययन करना आवश्यक है।

श्लोक ८

मूलश्लोक

यस्मिन् सोमः सुर-पितृ-नरैरन्वहं पीयमानः
क्षीणः क्षीणः प्रविशति यतो वर्धते चापि भूयः।
यस्मिन् वेदा मधुनि सरधाकारवद्भान्ति चाग्रे
तच्चण्डांशोरमितममृतं मण्डलस्थं प्रपद्ये ।।

अन्वय– यस्मिन् सुर-पितृ-नरैः अन्वहं पीयमानः (अत एव) क्षीणः क्षीणः सोमः प्रविशति, च अपि यतः भूयः वर्धते, यस्मिन् मधुनि सरघा-आकारवत् अग्रे वेदाः च भान्ति, तत् चण्डांशोः मण्डलस्थम् अमितम् अमृतं प्रपद्ये।

(क) अनुवाद– (पहले बाहरी स्थूल सूर्य को आलम्बन मानकर) जिसमें (कृष्णपक्ष में) देवों, पितरों और शेष विश्व के प्राणियों के द्वारा प्रतितिथि (एक एक कला के हिसाब से) पिया जाने के कारण धीरे धीरे (पंद्रह तिथियों में घटता हुआ चन्द्रमा (अमावस्या की तिथि पर) प्रवेश करता है, (शुक्ल प्रतिपदा के दिन) फिर जीवन पाकर शुक्ल पक्ष की पंद्रह तिथियों में बढ़ता हुआ (पूर्णिमा के दिन) पूरा चन्द्रमा बन जाता है। जिसमें सारे वेद शहद के छत्ते में मधुमक्खियों की भान्ति शोभायमान हैं, (मैं) सूर्यमंडल में अवस्थित उसी अमित परमानन्दरूपी अमृत-तत्त्व की शरण में पडता हूँ।

(ख) (चित्-सूर्य को आलम्बन मानकर) मैं उस अनिर्वचनीय चित्-सूर्य के मण्डल में अर्थात् मध्यधाम में वर्तमान चिद्-अमृतसागर की शरण में पडा हूँ जिसमें (शुक्ल पक्ष की भान्ति) अपानवायु प्रविष्ट होकर प्रति सवा दो अंगुल पर एक तुटि की वृद्धि के हिसाब से बढ़ता हुआ (पंद्रह तुटियों में) पूर्ण चन्द्रमा बनकर (कृष्ण पक्ष की भान्ति) प्राण वायु के रूप में बाहर की ओर सञ्चार करता हुआ काया के प्रत्येक अवयवरूपी देवता पितर इत्यादि को पुष्टि प्रदान करता रहता है, और जिस मण्डल में सारा वेदमय ज्ञान-विज्ञान, शहद के छत्ते में मधुमक्खियों की तरह अनन्त काल से प्रकाशमान ही है।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– चिद्धानोर्मण्डलस्थं मध्यधामनिविष्टं तत् परमानन्दरूपम् अमितम् अनल्पम् अमृतं प्रपद्ये समाश्रये।

अनुवाद– (मैं) चित्-सूर्य के 'मण्डल' अर्थात् मध्यधाम में परिपूर्ण रूप में स्थित उस अनिर्वचनीय परम आनन्दमय असीम 'अमृत' अर्थात् प्राणापान के उतार-चढ़ाव रूपी क्षोभ का शमन करने वाले हृत्कमल की शरण में पड़ा हूँ।

(क) मूलग्रन्थ– "यत्रामृते सोमः सर्वो मेयवर्गः सुरादिभिः सर्वैः प्रमातृभिः प्रतिदिनं कलाग्रासयुक्तया पीयमानत्वात् क्षीणः क्षीणः सन् पुनः पुनः प्रविशति हृद्विश्रान्त्यनन्तरं निमज्जति।

अनुवाद– जिस अमृतधाम में 'सोम[१]-चन्द्रमा' अर्थात् प्राणशक्ति अपानचार के रूप में, जोकि हर प्रकार के प्रमेय[२] वर्ग को उपलक्षित करता है, देवता इत्यादि सारे (प्राणाभ्यासनिरत) प्रमाताओं के द्वारा, 'प्रतिदिन' अर्थात् अन्तः-सञ्चार की प्रत्येक तुटि[३] पर, कला[४] ग्रास नामक योग की युक्ति के द्वारा 'पिया जाने के कारण' अर्थात् अंतरंग स्वरूप में लीन किये जाने के कारण, धीरे धीरे क्षीण होता हुआ, (क्षतिपूर्ति के लिए) बार बार 'प्रवेश करता है' अर्थात् मध्यधाम में अवस्थित हृदय-कर्णिका में कुम्भक अवस्था की अवधि बढ़ाने का अभ्यास करते करते अन्ततः उसी में विश्रान्त होकर निमग्न हो जाता है— तात्पर्य यह कि बहिर्मुखीन प्राणचार एवं अपानचार के रूप को छोडकर उदानगति को अपना लेता है।

(ख) **मूलग्रन्थ—यत एव मण्डलाद् भूयोऽपि वर्धतेऽभिव्यज्यते मेयरूपश्चन्द्रः ।**

अनुवाद— और जिस अमृतमय मण्डल से ही वह (क्षीण बना हुआ) 'सोम = प्रमेयवर्ग को उपलक्षित करने वाला चन्द्रमा अर्थात् प्राणशक्ति प्राणचार के रूप में, फिर भी वृद्धि को पाता है अर्थात् प्राणचार के रूप में फिर भी प्रकट हो जाता है।[५]

मूलग्रन्थ—यस्मिंश्च वेदाः सर्वशास्त्राणि मधुनि माक्षिके सरघाणां मधुकरीणामाकार इवाग्रे भान्ति पुरः स्फुरन्ति। यथा सरघा माक्षिकं संचित्य परिवृत्त्य सोल्लासमासते, तथा सर्वे वेदा वाक्यैकवाक्यतया पराद्वयममृतमामृश्य भ्राजन्ते।

अनुवाद— साथ ही जिस अमृतमय मण्डल में सारे 'वेद' अर्थात् सारे शास्त्र (समूचे ज्ञान-विज्ञान के स्रोत) स्पष्ट रूप में ठीक उसी प्रकार स्पन्दायमान रहते हैं जिस प्रकार मधुमक्खियों का झुंड शहद के छत्ते पर भिनभिनाता रहता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मधुमक्खियों का झुंड जहां कहीं से भी मधु का चयन करके और छत्ते में डालकर अत्यन्त मानसिक उल्लास में उसके चारों ओर भिनभिनाता रहता है, उसी प्रकार सारे वेद चिदानन्दरूपी अखण्डवाक्यता के द्वारा परम उत्कृष्ट अद्वैतरूपी अमृत का निरन्तर विमर्श करते हुए (मण्डल में) प्रकाशमान अवस्था में वर्तमान रहते हैं।

मूलग्रन्थ—बाह्योऽपि सोमः कृष्णपक्षेषु पितृ-देव-नर-ग्रस्तकला पञ्चदशकोऽमावस्यायां सूर्यमण्डलं प्रविश्य वर्धते। वेदाश्चार्कज्योतिर्लग्ना आसते।

अनुवाद— बहिरंग जगत् में भी दिखाई देने वाला 'सोम' अर्थात् स्थूल चन्द्रमा (प्रत्येक मास के) कृष्णपक्ष में पितरों, देवताओं और सर्वसाधारण 'नरों' अर्थात् सारे मानव एवं मानवेतर प्राणियों के द्वारा, पंद्रह कलाओं का उपभोग किये जाने के कारण धीरे धीरे क्षीण होकर अमावस्या की तिथि पर सूर्यमण्डल में प्रवेश करके फिर वृद्धि को प्राप्त करता है।

वेदशास्त्र भी सूर्यमण्डल की ज्योतिर्मयता के साथ सम्बन्धित ही हैं।

टिप्पणियां

१. शैव योगक्रम की शास्त्रीय परिभाषा में 'सोम = चन्द्रमा' शब्द से बाह्य-द्वादशान्त (नाक की नोक से बारह अंगुल दूर से अभ्युत्थित होकर अंदर हृदय की ओर संचार करने वाले अपानवायु तथा अन्तः-द्वादशान्त (हृदय) से अभ्युत्थित होकर बाहरी द्वादशान्त की ओर सञ्चार करने वाले प्राणवायु दोनों का अभिप्राय है। अपानवायु के अतिशीतल एवं स्फूर्तिदायक होने के कारण इसको चन्द्रमा कहते हैं। बाहर की ओर सरकता हुआ प्राण वायु स्वभावतः गर्म होता है अतः उसको कहीं कहीं पर 'सूर्य' भी कहा गया है।

प्राणचार या अपानचार दोनों का आयाम छत्तीस छत्तीस अंगुल का होता है। अंगुलों का परिमाण प्रत्येक प्राणी को अपनी अपनी अंगुलियों के अनुपात से होता है। जिन प्राणियों की अंगुलियां नहीं होती हैं उनके अंगुल का परिमाण निकालने के लिए उनकी काया की लम्बाई को ८० से भाग देने पर अभीष्ट परिमाण प्राप्त हो सकता है।

प्राणापानचारों का क्रम इस प्रकार है। हृदयदेश पर अपानचार की समाप्ति और प्राणचार का अभ्युत्थान होता है, परन्तु दोनों के अन्तराल में आधी तुटि विश्रान्ति की होती है अर्थात् उस आधी तुटि में प्राणचार या अपानचार दोनों विरत हो जाते हैं। इसी प्रकार बाह्य-द्वादशान्त पर प्राणचार की समाप्ति और अपानचार का अभ्युत्थान होता है परन्तु यहां पर भी आधी तुटि विश्रान्ति की होती है। फलतः स्थिति इस प्रकार की है—

(क) प्राणचार १/२ तुटि हृदय पर विश्राम + १५ तुटियां चार + १/२ तुटि बाह्य- द्वादशान्त पर विश्रान्ति। कुल १/२+ १५+ १/२ = १६ तुटियां।

(ख) अपानचार १/२ तुटि बाह्य-द्वादशान्त पर विश्रान्ति + १५ तुटियां चार + १/२ तुटि हृदय पर विश्राम। कुल १/२+ १५+ १/२ = १६ तुटियां। पहले समझाया गया है कि तुटि उतने कालखण्ड को कहते हैं जितने में प्राणवायु या अपानवायु सवा दो अंगुल चलता है। यह है सर्वसाधारण प्राणिवर्ग में निरन्तर चलने वाले श्वास प्रश्वास का क्रम जिससे सांसारिक जीवन व्यवहार चलता रहता है। अपानवायु ही १/२ तुटि विश्रान्ति के पश्चात् हृदय से प्राणवायु के रूप में और प्राणवायु ही १/२ तुटि विश्रान्ति

के पश्चात् बाह्य-द्वादशान्त से अपानवायु के रूप में अभ्युत्थित होते हैं। दोनों मौलिक सर्वव्यापी प्राणना = प्राणशक्ति के स्थूल रूप हैं।

२. सर्वसाधारण जीवन व्यवहार में इसका तात्पर्य इस प्रकार है। अपानवायु अथवा चन्द्रमा का अभ्युत्थान बाह्य-द्वादशान्त से और चार बाहर से अंदर हृदय की ओर होता है। अपानवायु के इस अन्तर्मुखीन चार के साथ अलक्ष्य रूप में चित्त की गति भी उस काल में अन्दर की ओर हो जाती है। चित्त दूसरे शब्दों में बहिरंग प्रमेयजगत की समष्टि ही होता है। अत: अपानचार की वेला में प्रत्येक प्राणी के अपने इर्द गिर्द के प्रमेय विश्व का सम्बन्ध उसकी आन्तरिक चेतना के साथ स्वभावत: जुड़ जाता है। अत: चन्द्रमा = अपानचार को प्रमेयरूप माना गया है। प्राणचार के रूप में अंदर से बाहिर की ओर आते समय भी आन्तरिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता हुआ चित्त बाहर की ओर गतिमय बनकर अंदर का सम्बन्ध बाहर के साथ जोड़ देता है। फलत: चन्द्रमा दोनों रूपों में प्रमेयरूप ही होता है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी के सन्दर्भ में इस प्रकार के आन्तरिक प्रमेय अर्थात् अन्त:-चेतना का बाहरी प्रमेय अर्थात् घट, पट, नील, सुख आदि रूपों वाले विश्व के साथ निरन्तर सम्बन्ध जुड़ जाने से ही जीवन व्यवहार चलता है अथवा यही जीवन कहलाता है। आम जीवधारियों, जिनमें आम मानव भी कोई अपवाद नहीं है, में इस स्वाभाविक एवं निरन्तर रूप में चलती रहने वाली क्रियात्मकता की चेतना नहीं होती है, अत: उनके सन्दर्भ में कहा गया है—

'ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।'

३. नित्योदित समाधि का अभ्यास करने वाले शैवयोगियों के सन्दर्भ में अपानचार एवं प्राणचार का रूप साधारण प्राणियों की अपेक्षा से कुछ भिन्न हुआ करता है। उनके प्राणापान दोनों सद्गुरुओं की कृपादृष्टि से मूलाधार का अवभेदन करके मध्यनाड़ी में प्रविष्ट होकर उदानशक्ति के रूप में विकसित हुए होते हैं। उदानशक्ति का चार मध्यनाड़ी में ही अध: कुण्डलिनी पदसे ऊर्ध्वकुण्डलिनी पद तक अथवा ऊर्ध्व से अध: तक चलता रहता है यही योगियों के परिप्रेक्ष्य में श्वास-प्रश्वास माना जाता है। अत: उनकी प्राणशक्ति समाधिकाल में वस्तुत: कुम्भक अवस्था में ही होती है।

अब यह बात किसी योगीजन के अभ्यास की परिपक्वता पर निर्भर करती है कि उसका समाधिकाल कितनी अवधि का होगा। फलतः किसी भी योगी के अपानचार एवं प्राणचार का एक चक्कर पूरा होने में कई दिन, मास, वर्ष भी लग सकते हैं। तदनुसार ही उसकी प्राणीय चार की तुटियों में एक तिथि, मास या वर्ष की अवधि की व्याप्ति मानी जाती है। साधारणतया अपानचार की १५ तुटियों को शुक्लपक्ष की १५ तिथियां और प्राणचार की १५ तुटियों को कृष्णपक्ष की १५ तिथियां मानकर एक पूरे प्राणीय चार में एक मास की व्यापकता मानी जाती है। बाहरी द्वादशान्त पर की १/२ तुटि की और हृदय पर की १/२ तुटि की विश्रान्तियों को क्रमशः अमावस्या और पूर्णिमा माना जाता है।

४. 'कलाग्रास' शैवयोग की एक बहुचर्चित युक्ति है। यद्यपि शैवशास्त्रों में इस युक्ति के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है तथापि इसका प्राणाभ्यासीय क्रियान्वयन किसी सिद्धयोगी के मौखिक उपदेश के द्वारा ही समझ में आ सकता है। संक्षेप में इस युक्ति के द्वारा पूरक एवं रेचक की तुटियों को धीरे-धीरे कम करके कुम्भक की अवधि की वृद्धि की जाती है। धीरे-धीरे अभ्यास पर डटे रहने से योगी नित्योदित समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस युक्ति का वर्णन परात्रिंशिका के निम्नलिखित—

"आद्यन्तरहितं बीजं विकसत्तिथिमध्यगम्।
हृत्पद्मान्तर्गतं ध्यायेत् सोमांशं नित्यमभ्यसेत्॥"

सूत्राङ्क ३५ में किया गया है। भगवान अभिनव ने इस सूत्र की व्याख्या में शांभव, शाक्त एवं आणव दृष्टिकोण से अभ्यासक्रम को विस्तारपूर्वक समझाया है। वहीं से इसका अध्ययन करें।

५. क्षेमराज ने यहां पर जिस अभ्यासक्रम का साङ्केतिक रूप में उल्लेख किया है उसको शास्त्रीय परिभाषा में क्रममुद्रा कहते हैं। गुरु के द्वारा समझाई गई पद्धति पर इसका अभ्यास करते करते योगी के अंतस् में एक ऐसी अवस्था का उदय हो जाता है कि वह बाहरी प्रमेयता को पूरी तरह निजस्वरूप में सोख लेता है और दूसरी ओर आंतरिक प्रमेयता अर्थात् सर्वव्यापी शिवचेतना का साक्षात्कार बहिरङ्ग प्रमेयविश्व में करता रहता है। फलतः ऐसे योगी के लिए अन्दर और बाहर सब कुछ एकाकार

शिवमय हो जाता है। यह विश्वमयता में विश्वोत्तीर्णता और विश्वोत्तीर्णता में विश्वमयता के एकाकार साक्षात्कार की अवस्था है और इसी को जगदानन्द की उत्कृष्ट भूमिका माना गया है। इस संदर्भ में श्रीक्षेमराज ने ही अन्यत्र एक प्राचीन क्रमसूत्र का उल्लेख किया है:—

"यथोक्तं क्रमसूत्रेषु"

क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः[१] तत्रादौ बाह्याद् अन्तःप्रवेशः, आभ्यन्तराद् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशाज् जायते, — इति स-बाह्याभ्यन्तरोऽयं 'मुद्राक्रमः'।"

(प्र० ह्र० पृ० ८५-८६)

इसका दूसरा नाम भैरवमुद्रा भी है। यह शाम्भव-योग की एक अतिविशिष्ट पद्धति है। यह जनसाधारण का विषय नहीं है।

श्लोक ९

मूलश्लोक

ऐन्द्रीमाशां पृथुकवपुषा पूरयित्वा क्रमेण
क्रान्ताः सप्त प्रकटहरिणा येन पादेन लोकाः
कृत्वा ध्वान्तं विगलितबलिव्यक्तिपाताललीनं
विश्वालोकः स जयति रविः सत्त्वमेवोर्ध्वरश्मिः ॥

अन्वय— पृथुक-वपुषा प्रकट-हरिणा येन विगलित-बलि-व्यक्ति ध्वान्तं पाताल-लीनं कृत्वा, ऐन्द्रीम् आशां क्रमेण पूरयित्वा (च) सप्त लोकाः पादेन आक्रान्ताः, स सत्त्वम् एव विश्व-आलोकः ऊर्ध्व-रश्मिः रविः जयति।

अनुवाद— जिसने प्रत्यक्ष नारायण के रूप में छोटे (वामन) शरीर को धारण करके, बलिदानव के व्यक्तित्त्वरूपी महान अन्धेरे को पाताल में खूँस कर, धीरे धीरे समूची पूर्वदिशा में व्याप्त होकर, सातों भुवनों को एक ही पग से आक्रान्त किया, उस विश्व को प्रकाशित करने वाले और अत्यन्त उज्वल किरणों से शोभायमान भगवान चित्-सूर्य की जय हो।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ – 'यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वमिष्यते ।' इति स्थित्या ऊर्ध्वा विश्वोत्कृष्टा रश्मयो यस्य।

अनुवाद– (प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'ऊर्ध्व' शब्द से अपेक्षाकृत ऊँचे स्थान पर अवस्थित होना नहीं है, प्रत्युत :—)

'जो वस्तु जिस किसी दूसरी वस्तु से गुणों में उत्कृष्ट हो उसको उससे 'ऊर्ध्व' कहा जाता है।' इस शास्त्रकथन के अनुसार 'ऊर्ध्वरश्मिः' शब्द का अर्थ यह है कि जिसकी किरणमाला विश्वभर में सब से 'उत्कृष्ट' अर्थात् दिव्य प्रकाशमानता से युक्त है।

मूलग्रन्थ–अत एव सतां विद्यमानानाम् अशेषाणां भावः सत्त्वं महाप्रकाशात्मरूपम्। तदेव तत् परमार्थः।

अनुवाद– उल्लिखित दृष्टि के ही आधार पर यह कहना भी युक्तियुक्त है कि (प्रस्तुत प्रसङ्ग में) 'सत्त्व' शब्द का अभिप्राय लोकोत्तर महती प्रकाशमयता से परिपूर्ण आत्मसत्ता है। (प्रस्तुत सन्दर्भ में) 'सत्त्व' शब्द एक भाववाचक संज्ञा है अतः— 'सतां भावः सत्त्वम्' इस विग्रह के अनुसार यह शब्द उस मौलिक महाप्रकाशमयी आत्मसत्ता को सङ्केतित करता है जो कि सारे आभासमान (जड़ एवं चेतन) पदार्थों का वास्तविक 'भाव' अर्थात् शाश्वतिक सत्ता है। वास्तव में ऐसी अविनश्वर सत्ता ही तो चित्-सूर्य का पारमार्थिक अर्थ है।

मूलग्रन्थ–ततश्च प्रकाशमानतया प्रकाशात्मन्येव विश्वस्य मग्नत्वात् प्रकाशो विश्वालोकः स एव रविश्चिद्भानुः, जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते।

अनुवाद– इसी से यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि 'विश्वालोकः' शब्द का अभिप्राय चतुर्दिक प्रकाश है। इसके दो आधार हैं। एक यह कि समूचा विश्व स्वभावतः प्रकाशमान है। दूसरा यह कि ऐसा विश्व पूर्णतया महाप्रकाशमयी आत्मसत्ता में ही निमग्न है (अर्थात् सर्वतोमुखी महाप्रकाश ही विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों रूपों में व्याप्त है)। वह प्रकाशविस्फार ही 'रविः' अर्थात् चित्-सूर्य का वास्तविक स्वरूप है। वह 'जयनशील' अर्थात् सब से उत्कृष्ट पदवी पर अवस्थित है।

मूलग्रन्थ—येन ऐन्द्रीमाशां प्राच्योन्मेषदशां, पृथुकवपुषा योगिगम्यसूक्ष्म-शाक्तस्पन्दात्मना, पूरयित्वा उन्मिषितप्राणादिसङ्कोच-चित्प्राधान्योच्छलितां कृत्वा:—

'शिवादिसकलात्मान्ता: शक्तिमन्त: प्रकीर्तिता:'।

इति श्रीपूर्वादिष्टनीत्या शिव-मन्त्रमहेश्वर-मन्त्रेश्वर-मन्त्र-विज्ञानाकल-प्रलयाकल-सकलाख्या क्रमात्क्रमं प्राणीयतुटिस्था निजशक्तिसहिता: सप्त लोका:—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि (त्रिपादस्यामृतं दिवि) (पु० सू० ३)

इति स्थित्या, पादेन निजांशमात्रेण, आक्रान्ता: क्रोडीकृत्य स्वज्योतिर्मयीकृता:।

अनुवाद— जिस (चित्-सूर्य) ने इन्द्र की दिशा अर्थात् साधक के अंतस् में उजागर होने वाली प्राथमिक उन्मेष[१] दशा को, योगिजनों के ही द्वारा संवेद्य अत्यन्त सूक्ष्म शाक्त-स्पन्दना से भरकर अर्थात् जो अब तक प्राण, देह इत्यादि रूपों वाले सङ्कोचों की उभाड के तले दबी हुई थी उसी को (सहसा) चिन्मयता की ही प्रधानता से युक्त रूप में उच्छलित करके, 'श्रीपूर्वशास्त्र' अर्थात् मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम् में:—

'शिवात्मा[२] से लेकर सकलात्मा तक के सारे प्रमाताओं को शक्तिमान की संज्ञा दी गई है' वर्णित इस आदेश के अनुसार (प्राणाभ्यास की दृष्टि से) प्राणीय तुटियों में अवस्थित और अपनी अपनी शक्तियों की सहकारिता से युक्त शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल नामक सात प्रमातृभावों की अवस्थाओं के रूपवाले सात लोकों को—

'विश्व के सारे 'भूत' अर्थात् जड़-चेतन समुदाय उस परमपुरुष की प्रकाशमानता का नगण्य अंशमात्र हैं।'

इस वेदवाक्य में वर्णित स्थिति के अनुसार अपनी आंशिक प्रकाशमानता में गर्भित करके 'आक्रान्त' किया है अर्थात् स्वरूप की ज्योतिर्मयता के साथ एकाकार बना दिया है।

मूलग्रन्थ— कीदृशेन?

प्रकटा: स्वात्माभासा रूपादिविश्वहरणाद् हरय:-चक्षुशदिराक्तयो यस्य। तदुक्तं श्रुतौ:—

'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश'।

इति। निःसंख्यशक्तिरात्मा-इति ह्यस्यार्थः।

अनुवाद— कैसे स्वरूप वाले (चित्-सूर्य) ने ? (इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं—)

'प्रकटहरिणा' अर्थात् जिसके वाहक घोड़े सबों को प्रकट रूप में दिखाई दे रहे हैं। 'हरयः' = घोड़े = वाहक। चित्-सूर्य के संदर्भ में आन्तरिक आत्मशक्ति के बहिर्मुखीन (नील-सुखादि) आभास ही वाहक हैं, क्योंकि वे ही रूप आदि अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पांच विषयों के रूपवाले बहिरंग विश्व का 'हरण' करते हैं अर्थात् आन्तरिक चेतना के साथ सम्बन्धित कर देते हैं। आंख इत्यादि इन्द्रियों की शक्तियां (करणेश्वरियां) ही चित्-शक्ति के बहिर्मुखीन आभास हैं श्रुतियों में भी यह कहा गया है—

'इस (चित्-सूर्य) के रथ में दस सौ घोड़े जुते हैं।' इस श्रुतिवाक्य का अर्थ यह है कि विश्वात्मा (चित्-सूर्य) की अनगिनत शक्तियां हैं।

मूलग्रन्थ— कथं क्रान्ताः ?

ध्वान्तम् आत्मन्यनात्मप्रतीत्या आत्माज्ञानं, विगलिता बलिर् अनात्मन्यात्माभिधायिनी व्यक्तिर्यस्येतादृक्, पाताललीनं निःशेष-प्रशमितं कृत्वा।

अनुवाद— (सात लोकों को) किस सरणि से आक्रान्त किया है? (इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैंः—)

'आत्मा' अर्थात् चित्-शक्ति को अनात्म समझना ही 'अन्धेरा' है अर्थात् वास्तविक आत्मस्वरूप का अज्ञान है। 'बलिः' अर्थात् अनात्मा शरीर इत्यादि पर आत्मभाव की प्रतीति कराने वाली अभिव्यक्ति को पूर्णतया गलाने की प्रक्रिया से उस आत्मा के अपरिचय रूपी अन्धेरे का पूर्णतया अर्थात् संस्कारों के सहित शमन करने की सरणि को अपनाकर।

मूलग्रन्थ—बाह्येनाप्यर्केण सप्ताश्वारूढेन ऐन्द्रीदिशं सूक्ष्मरूपेणापूर्य भूरादिलोकाः पादेन मरीचिभिर्ध्वान्तं ध्वंसयित्वा क्रमेण क्रान्ताः।

अनुवाद— बाहरी स्थूल सूर्य के पक्ष में भी भाव इस प्रकार है कि उसने सात घोड़ों पर चढ़ कर पहले अपनी सूक्ष्म किरणमाला से पूर्वदिशा

को प्रकाशित किया। उपरान्त अपने 'पादों' अर्थात् प्रखर किरणों से अन्धेरे का नाश करके भू आदि सातों लोकों को क्रमपूर्वक आक्रान्त किया अर्थात् उनमें अपने अपने प्रकाश विस्तार को फैला दिया।

मूलग्रन्थ— प्रकटहरिणा च नारायणेन विगलिता बल्याख्यस्य दानवेन्द्रस्य व्यक्तिर्यत्र तद्ध्वान्तं दानवकुलं पाताललीनं कृत्वा भूरादिलोकाश्चरणविन्यासक्रमेण आक्रान्ताः।

किं कृत्वा?

पृथुकवपुषा बालवामनशरीरेण इन्द्रादिदिगापूरणं कृत्वा।

सोऽपि विश्वालोकः सत्त्वप्रधानश्च इत्यत्र श्लेषालङ्कारः। श्लेषोपमाध्वनिसंसृष्टिरियम्।

अनुवाद— 'प्रकटहरिणा' इस शब्द का 'साक्षात् भगवान् नारायण ने' यह अर्थ भी लगाया जाता है। तदनुसार आर्थिक संगति इस प्रकार है— साक्षात् भगवान नारायण ने (वामन अवतार में) उस 'ध्वान्त' अर्थात् राक्षसों के कुल को, जिसमें से बलिदानव नाम वाले मुखिया राक्षस की अभिव्यक्ति को मलियामेट किया गया था, पाताल में खूँस कर भू आदि सातों लोकों को अपने पग धरने के क्रम से आक्रान्त किया।

(शंका) क्या करने के उपरान्त आक्रान्त किया? (समाधान) अपने छोटे से शरीर के द्वारा इन्द्र दिशा अर्थात् पूर्वदिशा से लेकर दसों दिशाओं को पूरी तरह से व्याप्त करके।

इसके अतिरिक्त वह भगवान नारायण भी सारे विश्व का प्रकाशक एवं सत्त्वगुण की प्रधानता से युक्त है। यह अर्थ पद्य में वर्तमान श्लेष अलंकार के द्वारा निकलता है। फलतः इस पद्य में श्लेष एवं उपमामूलक ध्वनि की संसृष्टि है।

टिप्पणियां

१. (क) शाम्भव-उपाय की दृष्टि से किसी भी जप, तप इत्यादि की यन्त्रणाओं में पड़ने के बिना केवल परमशिव के तीव्रतम अनुग्रह के द्वारा अंतस् में सतत स्पन्दनमयी पर—प्रतिभा की आकस्मिक एवं अशङ्कित उछाल को प्राथमिक उन्मेष कहा जाता है। श्रीमालिनी में कहा गया है—

'अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
जायते यः समावेशः शाम्भवोसावुदाहृतः ॥'

इस उद्धरणवाक्य का तात्पर्य पहले ही समझाया जा चुका है।

(ख) शाक्त-उपाय की दृष्टि से शिवरूपी सद्गुरु के द्वारा समझाये गये प्राणाभ्यासक्रम का निरन्तर अभ्यास करने के फलस्वरूप प्राणापान का मध्यधाम में प्रवेश पाकर उदानशक्ति के रूप में भगवती कुण्डलिनी के साथ प्राथमिक ऊर्ध्वगति को उन्मेषदशा कहते हैं। इस योगप्रक्रिया का वर्णन श्रीक्षेमराज ने ही शिवसूत्रविमर्शिनी के 'विद्याशरीर सत्ता मन्त्ररहस्यम् (शि० सू० वि० २, ३) में विशद रूप में किया तो है परन्तु गुरुमुख से ही उपदेश ग्रहण करना श्रेयस्कर है।

(ग) आणव-उपाय की दृष्टि से जप, तप, व्रत, नियम, ध्यान, धारणा इत्यादि शास्त्रोक्त विधि-विधानों का पालन करते हुए सक्रियता से अपने अन्दर कुत्सित वृत्तियों का शमन करके मन को चित्त के अभिमुख बनाना उन्मेष कहलाता है। यह तो अवरकोटि की उन्मेष अवस्था कहलती है परन्तु यह शाक्त-उपाय में अवश्य प्रवेश दिलवा सकती है। इस के सम्बन्ध में श्रीमालिनी में कहा है :—

'उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥'

(घ) इसके अतिरिक्त पारमेश्वर-विमर्श में पहली बार बहिरंग जगत की सर्जना के प्रति उन्मुखता की आकस्मिक बहिर्मुखीन उछाल को भी उन्मेष-दशा कहा जाता है। यह मातृकावर्ण 'ऊ' से वाच्य है। परन्तु इस उन्मेषदशा का प्रस्तुत प्रसंग के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

स्पन्दशास्त्र की मान्यता के अनुसार जब अन्तः-चेतना किसी एक प्रकार की चिन्ताधारा में निमग्न हो और सहसा किसी पूर्वाशंका के बिना ही उसमें किसी नयी चिन्ता का उदय हो तो जिस अलक्षित उद्गम से वह उदय हो जाता है उसको उन्मेष कहते हैं—

एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः ।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥'

(स्प० का० भा० पृष्ठ १३६)

तात्पर्य समझाने के लिए स्पन्दकारिका (भट्टकल्लट) भाषानुवाद (नीलकण्ठ गुरुटू) के पृष्ट १३६ का अध्ययन करें।

२. यहां पर श्रीक्षेमराज ने मूल-श्लोक में वर्णित सात लोकों की व्याख्या दो प्रकार से की है। भगवान नारायण के वामन अवतार और बाहरी स्थूल सूर्य के पक्षों में उन्होंने सात लोकों से भू, भुवः, स्वः, महा, जनः, तपः और सत्यम् इन लोकों का अभिप्राय लिया है। चित्-सूर्य से सम्बन्धित शैव-योग के पक्ष में उन्होंने सात लोकों से सात प्रकार के प्रमातृ भावों पर अवस्थित प्राणिवर्गों से सम्बन्धित भुवनों का अभिप्राय लिया है। शैवशास्त्र में बहिरंग विश्व के प्राणियों को उनकी आत्मचेतना की तीव्रता या क्रमिक मन्दता के आधार पर सात वर्गों में विभक्त करके रखा है। उनके नाम इस प्रकार हैं —

१. शिवप्रमाता, २. मन्त्रमहेश्वर (सदाशिव) प्रमाता, ३. मन्त्रेश्वर (ईश्वर) प्रमाता, ४. मन्त्र (शुद्धविद्या) प्रमाता, ५. विज्ञानाकल प्रमाता, ६. प्रलयाकल प्रमाता, ७. सकल प्रमाता।

संसार का प्रत्येक प्रमाता अपनी अन्तः-चेतना के अनुपात से इनमें से किसी न किसी प्रमातृभाव पर अवस्थित होता है। प्रत्येक प्रकार के प्रमाताओं के अपने भुवन हैं जहां वे निवास करते हैं। उदाहरणार्थ सकल-प्रमाताओं में सारे भौम जीव निकाय (चौरासी लाख प्रकार के) अन्तर्भूत हैं। उनके लिए समुचित भुवन यह पृथिवीभुवन है। इसी प्रकार अन्य सबों के विषय में समझना चाहिये। सारे भुवन अपने अपने प्रमाताओं के नामों से ही जाने जाते हैं। शिवभुवन, सदाशिव (मन्त्रमहेश्वर) भुवन इत्यादि। संक्षेप में इन सात प्रमातृभावों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) शिव प्रमाता— सर्वातीत एवं समरसमय परिपूर्ण अहंभाव (परमशिवदशा) का ही निजी पारमेश्वरी इच्छा के द्वारा बहिरंग विश्व को आभासित करने के प्रति प्राथमिक स्पन्दायमानता की दशा। अभी इसमें इदंभाव का कहीं नामोनिशान नहीं होता है।

'यदयमनुत्तरमूर्तिनिऽजेच्छया जगदिदं स्त्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः॥'

(ष० त० सं० १)

(२) मन्त्रमहेश्वर/ सदाशिव प्रमाता— परिपूर्ण अहंभाव के गर्भ में ही इदम्भाव की अतिसूक्ष्म अङ्कुरायमाणता की अवस्था, परन्तु इस अवस्था में आन्तरिक अहंबोध अथवा अन्त:-निमेष की ही प्रधानता और इदम्भाव, यद्यपि वह अङ्कुरित हुआ है तो भी, की गौणता रहती है।

'निमेषोन्त: सदाशिव:।' (ई० प्र० ३-१-३)

(३) ईश्वर/ मन्त्रेश्वर प्रमाता— यह तो सदाशिव प्रमातृभाव की ही अवस्था है परन्तु इसमें उसकी अपेक्षा इदंभाव की ओर अधिक उन्मुखता की अवस्था वर्तमान रहती है:—

'ईश्वरो बहिरुन्मेषो'। (ई० प्र० ३-१-३)

(४) शुद्धविद्या/ मन्त्र प्रमातृभाव— इस प्रमातृभाव में अहंभाव और इदंभाव दोनों की समान उन्मुखता बनी रहती है। तात्पर्य यह कि ऐसा प्रमाता इदंभाव को दुतकारता नहीं है बल्कि उसको भी अहंरूप में स्वीकारता है।

'सामानाधिकरण्यञ्च सद्विद्याहमिदंधियो:' (ई० प्र० ३-१-३)

(५) विज्ञानाकल प्रमाता— ऐसे प्रमाता होते हैं जिन्होंने साधना के बल से अपने में मायीय एवं कार्म इन दो मलों का अपक्षय तो किया होता है परन्तु आणव मल अभी वर्तमान ही होता है। तात्पर्य यह कि उनका रूप बोधमय तो होता है परन्तु स्वतन्त्र क्रियाशक्ति अभी उनमें अवसुप्त ही होती है। फलत: वे इस रूप में विकलांग होने के कारण पूर्ण शिवभाव पर आरूढ़ नहीं होते हैं:—

'तत्र विज्ञानकेवलो मलैकयुक्त:— इत्यादौ विज्ञानं बोधात्मकं रूपं केवलं स्वातन्त्रय विरहित मेषामिति'।

(ई० प्र० वि० ३-२-७)

(६) प्रलयाकल प्रमाता— ऐसे प्रमाता हैं जो परमेश्वर की तिरोधानशक्ति के वशीभूत होकर प्रलयकाल तक, अवसुप्त अजगरों की भान्ति, प्रसुप्त अवस्था में पड़े रहते हैं। इस अवधि में उनके पहले के उपार्जित कर्मफल संस्काररूप में उनके साथ ही पड़े रहते हैं। फिर प्रलयोपरान्त भगवान अनन्तभट्टारक के द्वारा चेताये जाने पर उन्हीं पूर्वकर्मों के संस्कारों के अनुसार भिन्न भिन्न योनियों में भेजे जाते हैं। उनमें वैसे मलों का नाश नहीं हुआ

होता है। इनमें आणव के अतिरिक्त किन्ही परिस्थितियों में कार्ममल भी वर्तमान ही होता है और साथ ही किन्हीं परिस्थितियों में कल्पित रूप में मायीय मल भी वर्तमान होता है:—

'शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तारः प्रलयाकलाः।
तेषां कार्मो मलोऽप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पितः ॥

(ई० प्र० ३-२-८)

(७) सकल प्रमाता— ऐसे पशुभाव में पड़े हुए प्रमाता होते हैं जो माया एवं उसके परिवार अर्थात् कला, विद्या, राग, काल, नियति इस प्रकार के छः कञ्चुकों से आवृत होकर प्रतिसमय सांसारिक आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं। इनमें इदंभाव का पूर्ण प्राधान्य और चतुर्दिक भेदभाव अर्थात् मौलिक शिवमय स्वरूप से, और आपस में भिन्नता के अवभास का साम्राज्य छाया रहता है। कलातत्त्व की वशवर्तिता के कारण इनको सकल प्रमाता कहते हैं। पुर्यष्टक में अवरुद्ध ऐसे आत्मा प्रतिक्षण अल्पकर्तृता, अल्पज्ञता, अतृप्ति अनित्यता और अव्यापकता के रूप वाले जीवभाव में पड़े रहते हैं।

योगियों को प्राणाभ्यास की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ साथ प्राणीय तुटियों में ही इन उत्तरोत्तर विशुद्ध प्रमातृभावों की अनुभूति हो जाती है।

श्लोक १०

मूलश्लोक

ध्यात्वा ब्रह्म प्रथममतनु प्राणमूले नदन्तं
दृष्ट्वा चान्तः प्रणवमुखरं व्याहतीः सम्यगुक्त्वा।
यत्तद्वेदे तदिति सवितुर्ब्रह्मणोक्तं वरेण्यं
तद्भर्गाख्यं किमपि परमं धामगर्भं प्रपद्ये ॥

अन्वय— प्रथमं प्राणमूले अतनुः ब्रह्म ध्यात्वा, अन्तः नदन्तं प्रणवमुखरं दृष्ट्वा, च व्याहतीः सम्यग् उक्त्वा, ब्रह्मणा वेदे यत् तदिति सवितुः वरेण्यं, किमपि परमं, धामगर्भं भर्गाख्यं धाम उक्तम् (अहं तथैव) तत् प्रपद्ये।

अनुवाद– पहले अन्तर्हृदय में 'अतनुः' अर्थात् निराकार अथवा अ-कलामय ब्रह्मसत्ता का ध्यान करके, अपने अपने अंतस् में ही उसके अनाहत नादमय स्वरूप का साक्षात्कार करके तथा (चार) महाव्याहृतियों[१] का भली-भान्ति उच्चारण करके ब्रह्माजी ने ओंकार का उच्चारण करने के उपरान्त वेदवाणी में 'तत्सवितुर्' इत्यादि श्रीमहागायत्री के पदों के द्वारा भगवान 'सविता' अर्थात् चित्-सूर्य के जिस वरणीय, अवर्णनीय, परम उत्कृष्ट और (सूर्य, चन्द्रमा) इत्यादि तेजों को अपने गर्भ[२] में धारण करने वाले भर्ग नामक (महान) तेजोमण्डल का वर्णन किया है, (मैं उसी[३] प्रकार) उसमें समाविष्ट हो रहा हूँ।

टिप्पणियां

१. 'ओं भूः स्वाहा, ओं भुवः स्वाहा, ओं स्वः स्वाहा, ओं भूर्भुवः स्वः स्वाहा' ये चार महाव्याहृतियां हैं। गायत्री इन्ही से आरम्भ होती है। आगे क्षेमराज की व्याख्या में इनका अभिप्राय स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक यज्ञीय विधि-विधान में इनका उच्चारण किया जाता है।

२. 'भर्ग' शब्द से चित्-शक्ति के तुरीयारूप असीम तेजोमण्डल का अभिप्राय है। इस सर्वव्यापक एवं अविनाशी तेजस्विता में सारे सूर्य-चन्द्र-अग्नि, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, इत्यादि प्रकार के अवर तेजोमण्डल समाये हुए हैं।

३. यहां पर ब्रह्मसत्ता का ध्यान, अनाहत ओंकार का विमर्शमय साक्षात्कार और महाव्याहृतियों का सम्यक् उच्चार करने के उपरान्त चित्-सूर्य के भर्ग नामी तेजोमण्डल का वर्णन किया उसी प्रकार मैं भी यह सब कुछ करने के उपरान्त उस तेजोराशि में समाविष्ट हो रहा हूँ।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– ब्रह्मणा प्रजापतिना वेदेषु, प्रणवमुखरम् ओंकारोच्चारणपूर्वं, तदित्यादि गायत्र्याः सवितुर्विश्वप्रसूतिहेतोश्छिदादित्यस्य, यत्तत्किमपीत्यसामान्यं, 'भर्ग' इत्याख्या यस्य तत्, परमं सर्वोत्कृष्टं, धाम परिस्फुरत्तात्म शाक्तं तेजो बाह्यसूर्यसोमवह्न्यादिधामक्रोडीकारित्वाद् धामगर्भं, वरेण्यम् अनुग्रहकारि, उक्तं तत् प्रपद्ये समाविशामि।

अनुवाद— मैं उस अनिर्वचनीय 'भर्ग' नामवाले शाक्त तेजोमण्डल (तुरीया-भाव) में समाविष्ट हो जाता हूँ जिसका वर्णन ब्रह्मा जी अर्थात् प्रजापति ने वेदों में सर्वप्रथम मुखरतापूर्वक ओंकार का उच्चारण करने के उपरान्त 'तत्सवितुः' इत्यादि श्रीमहागायत्री के शब्दों के द्वारा भगवान 'सविता' अर्थात् समूचे विश्व को जन्म देने वाले चित्-सूर्य के असामान्य और 'भर्ग' इस नाम वाले सब से उत्कृष्ट शाक्त-तेज के रूप में किया है; जिसका रूप उन्होंने विशुद्ध स्फुरणा (अहंभाव की स्फुरणा) बताया है, जो उनके वर्णनानुसार 'धामगर्भ' अर्थात् (बाहरी ससीम) सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि इत्यादि प्रकार के तेज पुञ्जों को अपने (असीम) विस्तार के गर्भ में समाये हुए है और जो 'वरेण्य' अर्थात् सबों पर अनुग्रह करने वाला है।

मूलग्रन्थ—किं कृत्वा ब्रह्मणोक्तम्? किं कृत्वा च प्रपद्ये?

प्रथमम् आदौ, अतनुरशरीरं श्रीभर्गशिखादिष्टनीत्या अकारपरामर्शात्म वीरेश्वराख्यं च ब्रह्म बृहद् बृहंकञ्च पर शाक्तं धाम, प्राणमूले अप्राणाद्यस्फुरत्ता-धाम्नि, ध्यात्वा विचिन्त्य, अनन्तरं नदन्तमिति नादाख्यं परविमर्शात्मानम्, अन्तरिति उक्तशाक्तरूपप्राणितकल्पतया स्थितं, दृष्ट्वा स्वात्मतया साक्षात्कृत्य, (प्रणवमुखरं तन्नादविमर्शानुप्रवेशावष्टम्भबलोन्मिषत्प्रणवोच्चारणपूर्वम्।

अनुवाद— ब्रह्मा जी ने कौन सी (पूर्वापेक्षित) इतिकर्तव्यता को सम्पन्न करने के उपरान्त (तेजोमण्डल का) वर्णन किया और मैं स्वयं भी किस (पूर्वापेक्षित) कृत्य को पूरा करने के उपरान्त (उस तेजोधाम में) समाविष्ट हो गया हूँ? (इन दो शंकाओं का समाधान करते हुए स्तुतिकार कहते हैं:—)

(क) सबसे[१] पहले 'अतनु[२]' अर्थात् शरीर रहित निराकार अथवा श्रीभर्गशिखा इत्यादि तन्त्रग्रन्थों में वर्णित नीति के अनुसार 'अ-कार = अ-कला = परशिवकला' के (आत्मिक स्पन्दनरूपी) परामर्श का रूप धारण करने वाले वीरेश्वर नामी असीम एवं पुष्टिदायक परब्रह्म अर्थात् शाक्त तेजोमण्डल (तुरीयाप्रकाश) का, 'प्राणमूल में' अर्थात् स्थूल बहिर्मुखीन प्राणचार और अपानचार के क्षोभ से रहित, अथवा 'अ-कला' से अनुप्राणित होने वाली प्राथमिक शाक्तस्पन्दना के, परम उत्कृष्ट 'धाम' अर्थात् मध्यधाम में ध्यान करके और—

(ख) अपने 'अन्तस्' अर्थात् पूर्वोक्त शाक्तधाम (मध्यधाम) में प्राणदायिनी स्फूर्ति के आकार में अवस्थित उस 'नादमय[३]' अर्थात् लोकोत्तर अहंविमर्शमय (ओंकाररूपी अनाहतनादमय) ब्रह्म का, उस परनाद की विमर्शमयता में प्रवेश पाने की उत्तेजना के बल से स्वयं उच्छलित होने वाले अव्यक्त ओंकार के 'उच्चार' अर्थात् ऊर्ध्वचार की अवस्था में, (अन्तः-विमर्शमय स्पन्दन के रूप मे) साक्षात्कार करने के उपरान्त।

मूलग्रन्थ—तथा 'भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा' इति च मन्त्ररूपाः, समग्र-मेय-मान-प्रमातृणां ससंस्काराणां परब्रह्ममयत्वामर्शिनीर्व्याहृतीश्चतस्त्रः, सम्यगिति अन्तरामर्शावष्टम्भाशैथिल्येनोक्त्वा उच्चार्य।

अथ च "सर्वव्यवहारानेकरूपाः कथा जपः"— इति शिवसूत्रादिष्टनीत्या तदभेदामर्शप्रधानतया परशाक्तरसप्लावितान् संपाद्य। शाक्तधामैकाग्र्यवशासादित शाम्भवधामावष्टम्भबलेन व्युत्थानदशामपि तदभेदरसप्रोक्षितां विधाय-इत्यर्थः।

अनुवाद— साथ ही 'भूः[४] स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा- इन चार महामन्त्रों का रूप धारण करने वाली तथा सारे बहिरंग प्रमेय-पदार्थों, प्रमाणों और प्रमाताओं का अपने अपने संस्कारों के सहित, परब्रह्मरूपता के साथ अविनाभाविता के विमर्श को जन्म देने वाली, महाव्याहृतियों का 'सम्यक्' अर्थात् (मध्यधाम में) अडिग स्वरूपविमर्श के साथ साथ उच्चारण (ऊर्ध्वचारण) करने के उपरान्त।

अथवा इस प्रकार भी अर्थ लगाया जाता है कि:— शिवसूत्र में वर्णित उपदेश:—

'सारे' आदान-प्रदानों को चलाने वाली अनेक प्रकार की बातें तो जप ही हैं।" (कथा जपः— शि० सू० ३, २७)

के अनुसार सारी बातों को, उस चित्-सूर्य के साथ एकाकारिता के विमर्श की प्रधानता से लोकोत्तर 'शाक्त-रस' अर्थात् जगदानन्दमयता से प्लावित करके, — तात्पर्य यह ।कः

'शाक्त-धाम- अर्थात् तुरीया[६]-भूमिका में अविचल एकाग्रता पर आरूढ होने के फलस्वरूप 'शांभव-धाम' अर्थात् तुरीयातीत-भूमिका पर मजबूत

(आत्मिक) पकड़ प्राप्त करने के बल से (केवल समाधिदशा को ही नहीं प्रत्युत) व्युत्थान की दशा को भी उसी पूर्ण अद्वैत की रसमयता से सराबोर करके।

मूलग्रन्थ—धामगर्भमित्यत्र धामशब्दस्तन्त्रेण द्विरुक्तः। तथा प्रणवमुखरम् इति।

अनुवाद— व्याख्या में 'धामगर्भम्' इस समस्त पद के पूर्वपद 'धाम' शब्द को व्याकरणप्रक्रिया (अर्थात् काकाक्षिगोलक न्याय से) अथवा तान्त्रिक-परिपाटी के अनुसार द्विमुखी आर्थिक संगति बिठा दी गई है। उसी प्रकार 'प्रणव मुखरम्' इस शब्द की भी दोहरी संगति लगाई गई है।

टिप्पणियां

[१]यहां पर क और ख दोनों भागों का सम्बन्ध ब्रह्माजी और स्तुतिकार साम्ब दोनों के साथ लगाना टीकाकार को अभिप्रेत है। तात्पर्य यह कि ब्रह्मा जी ने दिव्य वेदवाणी का उच्चारण करने की वेला पर पहले अपने अंतस् में सर्वोत्कृष्ट परब्रह्मसत्ता का तन्मयीभावरूपी ध्यान अन्तःविमर्शमय साक्षात्कार एवं अनाहतनादमय ओंकार का ऊर्ध्वचार किया और तदुपरान्त श्रीमहागायत्री मन्त्र में भगवान सविता के असीम भर्ग का वर्णन किया। स्तुतिकार श्रीसाम्ब का कथन है कि मैं भी ब्रह्माजी का अनुगामी बनकर और उसी के द्वारा अपनाई गई पूर्वापेक्षित इतिकर्तव्यता को सम्पन्न करने के उपरान्त ही उस भर्ग मण्डल में समाविष्ट हो गया हूँ।

२. 'अतनुः' इस शब्द का, 'अतनुः— न तनुर्यस्य तथा 'अ' इत्यकारमात्रा तनुर्यस्य' इन दो विग्रहों के आधार पर शैव परिप्रेक्ष्य में 'पाञ्चभौतिक काया से रहित और अ-कला परशिवमयी अविनश्वर अ-मात्रा के स्वरूप वाले' ये दो अर्थ लगाये जाते हैं। पहले यह बात समझाई गयी है कि शैव सन्दर्भ में अ-मात्रा अविनाशी परम शिवकला मानी जाती है। समूचा शब्दब्रह्म मूलतः इसी कला का रूपविस्तार है। रूपविस्तार में रूप संकोच भी हो सकता है प्रसार-संहार की प्रक्रिया से, परन्तु मौलिक अ-कला में कदापि कोई परिवर्तन नहीं होता है। साथ ही अकारमात्रा भी पाञ्चभौतिक काया से रहित = निराकार, ब्रह्म और पारमेश्वर परविमर्शमयी स्पन्दना के रूपवाली है। भगवान ने रुद्रयामल में कहा है:—

'अ-मूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता।
सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानाञ्च यशस्विनि ।
इयं योनिः समाख्याता सर्वतन्त्रेषु सर्वदा ।"

(प० त्रिं० भा० पृ० १५४)

'अ-कला' ही मौलिक वैसर्गिकी कला और अनुत्तरमयी ब्रह्मसत्ता है।

३. पहले भी इस तथ्य की ओर पाठक वर्ग का ध्यान आकर्षित किया गया है और यहां पर फिर भी बल देने के अभिप्राय से दोहराया जाता है कि शैव सन्दर्भ में 'नाद' इस शब्द से किसी स्थूल ध्वनि का अभिप्राय नहीं है। मूलतः इस शब्द से पराभूमिका पर शाश्वतरूप में चलती हुई पारमेश्वर विमर्श की स्पन्दना; जो कि पश्यन्ती, मध्यमा और अन्ततः वैखरी भूमिका पर अवतीर्ण होकर व्यक्त ध्वनिरूप भी धारण कर लेती है, का अभिप्राय है। शास्त्रीय परिभाषा में प्रकाशमय बिन्दु ही बहिर्मुखीन उन्मुखता में विमर्शमय नाद है। विमर्शमय नाद ही अन्तर्मुखीन उन्मुखता में प्रकाशमय बिन्दु है। परमशिव ही बिन्दु और उसका शक्तिमय रूपविस्तार ही नाद है। बिन्दु-नाद का समरसीभाव ही सबका मूलाधार अविनश्वर यथार्थ है।

४. 'भूः, भुवः स्वः' — टीकाकार क्षेमराज के अनुसार ये तीन महाव्याहृतियां व्यष्टि रूप में क्रमशः प्रमेयविश्व, प्रमाणविश्व और प्रमातृविश्व के विमर्श और 'भूर्भुवः स्वः' यह चौथी महाव्याहृति समष्टिरूप में प्रमितिरूपी अखण्ड ब्रह्मसत्ता, जिस स्वरूप में ऊपर के तीनों विश्व तद्रूप में निहित हैं, के विमर्श का प्रतिनिधित्व करती हैं।

५. इस तथ्य को ध्यान में रखना अति आवश्यक है कि शिवसूत्रों में 'कथा जपः' यह सूत्र तुरीया-भूमिका पहुंचे हुए योगिजनों के परिप्रेक्ष्य में कहा गया है। सर्वसाधारण पशुजनों की बात तो सर्वथा भिन्न है। ऐसी बात नहीं है कि कोई दिन भर अपशब्द बोलता रहे और शाम को यह धावा करे कि मैं जप कर रहा हूँ।

६. तुरीया और तुरीयातीत दो भिन्न अवस्थायें नहीं हैं। तुरीयाभाव पर पूर्णतया आरूढ़ होने और आत्मिक स्थिरता प्राप्त करने को ही

तुरीयातीतावस्था में प्रविष्ठ होना कहते हैं। तुरीयाभाव पर पहुंचे हुए योगी में जब तक आत्मिक अस्थिरता रहती है तब तक वह केवल समाधिकाल में ही स्वरूपनिष्ठ रह सकता है और इसके प्रतिकूल तुरीयातीतभाव में परिनिष्ठित सिद्धजन समाधि या व्युत्थान दोनों अवस्थाओं में अन्तर्मुख ही होता है। इस सन्दर्भ में भगवान उत्पलदेव के निम्नलिखित उद्‌गार चिरस्मरणीय हैं:—

"नाथ वेद्यक्षये केन न दृश्योऽस्येकक: स्थित:।
वेद्यवेदकसंक्षोभेऽप्यसि भक्तै: सुदर्शन: ॥'

(शि० स्तो० १, १६)

हे मेरे नाथ ! अन्तर्मुखीन समाधि की अवस्था में बहिरंग प्रमेयता का उपशम होने पर कौन आपको अकेले में देख नहीं पाता? परन्तु ऐसे भी भक्तजनों की कमी नहीं है जिनको आप प्रमेयभाव और प्रमातृभाव की सर्वसाधारण क्षोभ की अवस्था में अर्थात् व्युत्थान की अवस्था में भी सहजरूप में दिखाई देते हैं।

हे मेरे ईश्वर ! "आप केवल किसी समय अर्थात् किसी नियत समाधिवेला में कहीं अर्थात् किसी निश्चित अन्तर्हृदय मध्यधाम इत्यादि स्थान पर केवल योगाभ्यास के द्वारा ही लभ्य हों"— इन बातों का कहा या सुना जाना केवल एक वञ्चना है। कारण यह कि इस कथन के विपरीत आप सच्चे भक्तजनों को, हरेक समाधि या सर्वसाधारण व्यवहार (व्युत्थान) की दशा में, समानरूप में कैसे दिखाई देते हो?

श्लोक ११

मूलश्लोक

त्वां स्तोष्यामि स्तुतिभिरिति मे यस्तु भेदग्रहोऽयं
सैवाविद्या, तदपि सुतरां तद्विनाशाय युक्त:।
स्तौम्येवाहं त्रिविधमुदितं स्थूलसूक्ष्मं पंर वा
विद्योपाय: पर इति बुधैर्गीयते खल्वविद्या ॥

अन्वय— 'त्वां स्तुतिभिः स्तोष्यामि'— इति यः अयं मे भेदग्रहः सा एव अविद्या (वर्तते), तद् अपि तद्विनाशाय सुतरां युक्तः (अस्मि), (अतः) अहं त्रिविधम् उदितं स्थूल-सूक्ष्मं परं वा स्तौमि एव, खलु बुधैः परः विद्या-उपायः 'अविद्या'— इति गीयते।

अनुवाद— '(मैं) आपको अपनी स्तुतियों के द्वारा प्रसन्न करूंगा'— इस प्रकार का जो यह (मैं और आप के रूप वाला) द्वैतभाव का भूत मुझ पर सवार हो गया है वही मुझ में अविद्या (अज्ञान) है। ऐसी परिस्थिति होने पर भी (मैं अपने में) उस अविद्या का समूल नाश करने पर कटिबद्ध हूँ। इसलिए मैं आपके स्थूल[१], सूक्ष्म और पर इन तीनों उदित रूपों की स्तुति करके ही रहूँगा। निश्चय से बधुजनों ने विद्याप्राप्ति का सब से कारगर उपाय अविद्या को ही स्वीकारा है।

टिप्पणी

१. यहां पर स्तोत्रकार ने भगवान सूर्यदेव के तीन रूपों का उल्लेख किया है। इनमें से पररूप से इसके मौलिक, इयत्ताओं से रहित एवं चिदानन्दघन, सूक्ष्म से मध्यधाम में अवस्थित शाक्त-ब्रह्म और स्थूल से बाहरी प्राणापानरूपी स्थूल रूपों का अभिप्राय है। बाहरी स्थूल रूप विश्व के सारे प्राणियों के द्वारा श्वास-प्रश्वास के रूप में साक्षात्करणीय है। सूक्ष्म एवं पर ये दो रूप आन्तरिक चित्-रूपता के साथ सम्बन्धित होने के कारण केवल साधकजनों के द्वारा क्रमशः योगसाधना और विशुद्ध शांभव-साधना के द्वारा आत्मरूप में अनुभव किये जा सकते हैं।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे भगवन् 'त्वां स्तुतिभिः स्तोष्यामि इति स्तोतृ-स्तुत्य-स्तुति-कल्पनात्मा यो मे भेदग्रह एषैव चिदद्वयाप्रथनात्माविद्या, तथापि तस्या अविद्यायाः सुतराम् अतिशयेन विनाशाय निःशेषोन्मूलनाय युक्तो नित्यसंबद्धस् त्वां स्तौम्येव देहादिप्रमात्तृतानिमज्जनेन सर्वोत्कृष्टतया सततं परामृशामि, न तु क्षणमप्युदासीन आसे। त्वामेव चिदर्कं स्तौमि न तु परिमितां काञ्चन देवताम्।

अनुवाद– हे परम ऐश्वर्य से परिपूर्ण देव ! 'मेरे अन्तस् में जो यह १- स्तुतिकर्ता (श्रीसाम्ब) स्तुति का विषय (भगवान चित्सूर्य) और ३- स्तुति पाठ (श्रीसाम्बपञ्चाशिका) इस प्रकार के भेदभाव पर टिके रहने की हठधर्मिता भरी हुई है, वही मुझमें चिदात्मभाव के साथ निजी एकाकारिता के न समझने के रूपवाली अविद्या है। ऐसी परिस्थिति के होते हुए भी (मैं अपने में) उसका, संस्कारों के सहित, समूल उन्मूलन करने के प्रति 'युक्त' अर्थात् कटिबद्ध होकर अवश्य अपने कायिक इत्यादि रूपों-वाले प्रमातृभाव को दबोच कर और आपको ही सर्वोत्कृष्ट सत्ता मानकर मात्र आपकी स्तुति करने पर अर्थात् धारावाहितापूर्वक आत्मरूप में आपका विमर्श करने पर लगा रहता हूँ। इसमें मैं एक क्षणमात्र के लिए भी उदासीन नहीं बना रहता हूँ, साथ ही यह भी तथ्य है कि मैं आप जैसे चित्-प्रकाशमय देवता की ही स्तुति कर रहा हूँ, दूसरे क़िसी सङ्कोचों से भरे हुए अवर देवता की नहीं।

मूलग्रन्थ– कीदृशं त्वाम् ?

स्थूलं बाह्यप्राणार्करूपम्, सूक्ष्मं मध्यनाडीगतं प्राणब्रह्मरूपम्, परं च अनवच्छिन्नं विश्वात्मचिदानन्दघनम्।

अनुवाद— कैसे स्वरूप वाले (आपकी स्तुति कर रहा हूँ?) इस सम्बन्ध में कहते हैं:—

(१) स्थूल सूर्य– बाहरी प्राणचार और अपानचार के रूप वाले प्राणसूर्य (इसमें प्राण, अपान और समान अन्तर्भूत हैं),

(२) सूक्ष्म-सूर्य— मध्यनाडी में ऊर्ध्वगतिशील उदानचार के रूप वाले प्राण-ब्रह्म, और

(३) पर-सूर्य– इयत्ताओं से रहित, विश्वव्यापी (व्यान के रूपवाले) चिदानन्दघन (चित्-सूर्य)— इस प्रकार के तीन रूपों वाले आपकी स्तुति कर रहा हूँ।

मूलग्रन्थ– तदिति प्राक्तनवाक्य व्याकर्णितम् एकम् एव। नित्योदितञ्च। वा शब्दश्चार्थे युक्तं चैतत् यतो बुधैसतत्त्वज्ञैर् अविद्या एव विद्या-उपायः पर इति उक्तः

अनुवाद—'तत्' यह शब्द पहले ही वाक्य में व्याख्यात एकले चित्सूर्य को अभिव्यक्त कर रहा है। (उदित शब्द का अभिप्राय है कि —) चित्-सूर्य हमेशा उदित रहने वाली सत्ता है। (पद्य में प्रयुक्त) 'वा' शब्द (अथवा के स्थान पर) 'और' इस अर्थ को ध्वनित कर रहा है।

मेरा ऐसा करना ठीक ही है क्योंकि निश्चयपूर्वक चित्तत्त्व से परिचित प्रबुद्ध प्रमाताओं (सिद्धजनों) द्वारा अविद्या को ही विद्या-भूमिका पर पहुंचाने वाला परम उपाय बतलाया गया है।

मूलग्रन्थ— स्तोत्रस्तुत्यादिविभागकल्पनात्माविद्ययासमस्ताविद्या-बीजदेहादिप्रमातृत्वाभिमानप्रशमनेन चिदानन्दघनपरमात्मोत्कर्ष परामर्शात्मा स्तुतिः परसमावेशप्रदा- इत्यर्थः।

अनुवाद— कहने का तात्पर्य यह कि 'स्तोत्र' और 'स्तुति की देवता' इत्यादि प्रकार के विभाग की कल्पना के रूपवाली अविद्या का अनुगमन करने से ही, शरीर इत्यादि अर्थात् शरीर, बुद्धि, प्राण, पुर्यष्टक एंव शून्य पर आत्माभिमान करने के रूपवाले सारे अविद्या के बीजों का शमन होने के कारण, चिदानन्दघन परमात्मा के उत्कर्ष का विमर्श कराने वाली 'स्तुति' अर्थात् अविद्यामयी स्तुति ही अन्ततोगत्वा शिवभाव में प्रतिष्ठित कराने वाला अचूक रामबाण है।

टिप्पणी

१. शैवशास्त्रियों के मन्तव्यानुसार भगवान भूतनाथ के द्वारा भैरवतन्त्रों में वर्णित आत्मज्ञान 'विद्या' कहलाता है क्योंकि इससे साधक को भोग एवं मोक्ष दोनों प्रकार की सिद्धियां मिलना निश्चित है। यह ज्ञान पूर्णतया अद्वैतभाव पर आधारित है। इससे इतर अन्य सारे ज्ञान 'अविद्या' कहलाते हैं क्योंकि वे सारे ज्ञान 'अविद्या' अर्थात् अल्पविद्या अथवा अपूर्णज्ञान होने के कारण भले ही सांसारिक सुखभोग अथवा स्वर्गादि फल वितरण करने में सक्षम हों परन्तु परिपूर्ण स्वरूप प्रथन के रूपवाला मोक्ष प्रदान नहीं कर सकते हैं। हाँ इतना तो निश्चित है कि अविद्यामयी-विद्या साधक को विद्या का अनुशीलन करने के लिए उपयुक्त पात्र बना देती है क्योंकि वह स्तुति, जप, तप, यम, नियम इत्यादि का पालन करवाने के द्वारा उसमें राजसिक एवं तामसिक वृत्तियों का शमन करके सात्त्विक वृत्तियों को उजागर बना

देती है। विशुद्ध वृत्तियों वाले साधक को ही 'विद्या' अर्थात् शिवज्ञान हृदयंगम हो सकता है। अविद्यामयी विद्या द्वैता-द्वैतभाव अथवा पूर्ण द्वैतभाव पर आधारित होने के कारण स्वयं अद्वैतभाव को उजागर नहीं बना सकती है। इस दिशा में वह अपूर्ण है अतः अविद्या अर्थात् अल्पविद्या या अपूर्ण विद्या कहलाती है। तो भी साधक के मन में धीरे धीरे उच्च ईश्वरीय विद्या को ग्रहण कर सकने की क्षमता को उजागर बना देने की मात्रा तक इसकी अनिवार्य उपयोगिता नकारी भी नहीं जा सकती।

श्लोक १२

अनुक्रमणिका– 'स्तौम्येव'– इत्युक्तिं प्रपञ्चयतिः

अनुवाद– 'मैं अवश्य स्तुति कर रहा हूँ'– अपने इस कथन का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं:—

मूलश्लोक

योऽनाद्यन्तोऽप्यतनुरगुणोऽणोरणीयान् महीयान्
विश्वाकारः सगुण इति वा कल्पनाकल्पिताङ्गः।
नानाभूतप्रकृतिविकृतीर्दर्शयन् भाति यो वा तस्मै
तस्मै भवतु परमादित्य नित्यं नमस्ते॥

अन्वय– हे परमादित्य ! यः अन्-आदि-अन्तः अपि अतनुः, अगुणः, अणोः अणीयान्, महीयान्, विश्वाकारः, सगुण इति, कल्पनाकल्पिताङ्गः वा, वा यः नानाभूतप्रकृतिविकृतीःदर्शयन् भाति, तस्मै तस्मै ते नित्यं नमः भवतु।

अनुवाद– हे महान् चित्-सूर्यदेव जो आप अनादि और अनन्त होते हुए भी काया से रहित, गुणों से परे, परमाणु से भी छोटे, महान से महान, विश्व के आकार वाले, ईश्वरीय गुणों से पूर्ण अथवा (भक्तों के द्वारा) अपनी अपनी कल्पना के अनुसार निर्धारित आकार वाले अथवा नाना प्रकार के प्राणियों की भिन्न-भिन्न प्रकृतियों और विकृतियों को दिखाते हुए प्रकाशमान हैं, उसी आपके उन भिन्न भिन्न रूपों को मेरा नित्य प्रणाम हो।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे परमादित्य चिदर्क ! तस्मै तस्मै इति पर-सूक्ष्म- स्थूल-रूपाय विश्वात्मने तुभ्यं नित्यं नमः, सर्वकालं देहादिप्रह्वतया परामृशंसत्वामेव समाविशामीत्यर्थः ।

अनुवाद— हे लोकातीत भगवान चित्-सूर्यदेव ! विभिन्न प्रकार के पर-सूक्ष्म-स्थूल रूप वाले और समूचे विश्व की आत्मा का रूप धारण करने वाले आपको प्रतिक्षण मेरा प्रणाम हो। इसका तात्पर्य यह है कि मैं हरेक समय अपने देह इत्यादि के द्वारा पूर्ण स्वात्मसमर्पण रूपी प्रह्वता[१] (नम्रता) के साथ आपके स्वरूप का विमर्श करता हुआ वस्तुतः आपके स्वरूप में ही समाविष्ट हो रहा हूँ।

मूलग्रन्थ— कीदृशाय तस्मै ?

य अनाद्यन्तो देशकालाद्यनवच्छिन्नः, अतनुर् आकारानियन्त्रितः, अतश्च सार्वज्ञादिगुणास्पृष्टः, अणोरत्यन्तसूक्ष्मरूपतया योगिदृश्यात् परमाणोरप्यणीयानतिसूक्ष्मः न कस्यापि वेद्यः, अपि तु स्वप्रकाशचिदेक रूपः, न तु देशतः सङ्कुचितः– परमाणोः वेद्यत्वाद् दृश्यत्वाच्च, महीयान् व्यापकः, अतश्च विश्वक्रोडीकारित्वाद्विश्वाकारः, सार्वज्ञादिगुणयोगात् सगुणः ।

अनुवाद— किस प्रकार के स्वरूप वाले उस भगवान चित्-सूर्य को प्रणाम कर रहा हूँ? इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं:—

जो, अनादि एवं अनन्त होने के कारण देश, काल इत्यादि की इयत्ताओं में न पड़ सकने वाला, पाञ्चभौतिक काया के साथ सम्बन्धित न होने के कारण किसी भी आकार-प्रकार के नियन्त्रण से बहुत दूर इसी हेतु से सर्वज्ञता इत्यादि रूपों वाले गुणों से न छुआ जाने वाला, परमाणु, जो कि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण केवल योगियों को ही दिखाई देता है, से भी अतिसूक्ष्म अर्थात् किसी को भी (इन्द्रियबोध के द्वारा) न जानने योग्य, प्रत्युत स्वप्रकाशमय होने के कारण मात्र चित्-शक्ति के स्वरूपवाला, किसी भी परिस्थिति में देशसम्बन्धी सङ्कोच में न पड़ा हुआ क्योंकि सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु भी तो किसी न किसी रूप में जाना जा सकता और देखा जा सकता है, महान अर्थात् सर्वव्यापक, इसी हेतु से अखण्ड विश्व को स्वरूप

में निहित रखने के कारण विश्वाकार और सर्वज्ञता आदि गुणों के साथ (युगपत् ही) सम्बन्धित भी होने के कारण सगुण भी है।

मूलग्रन्थ— इत्येवंप्रकारया कल्पनया कल्पितानि पृथक् पृथगुल्लिखितान्यङ्गानि तत्तद्धर्मरूपा अवयवभागा यस्य तादृग् वा- इत्यनयोक्त्या अनवच्छिन्न-वस्तु-विषय-शब्दविकल्पासंस्पृष्टं परमेकं स्वरूपमनवच्छिन्नम् इति ध्वनयति।

नाना भूतानि विचित्राः स्थावरादिब्रह्माण्डान्ताः प्राणिनस्तेषां प्रकृतीर्माया-प्रकृतिशुक्रशोणितादिकारणानि, विकृतीः कलाबुद्धिदेहादिकान् दर्शयन् य आभाति। सङ्कुचित-सर्वाभासोल्लासकतया वा यः स्फुरतीत्यर्थः।

अनुवाद— साथ ही (जो चित्-सूर्य) इस प्रकार उल्लिखित कल्पनाओं के द्वारा कल्पित अङ्गोंवाला अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार की विशेषताओं के रूपवाले अवयवों को धारण करने वाला है। इस कथन से यह तथ्य ध्वनित होता है कि (एक ओर विश्वोत्तीर्ण अवस्था में) वह परमेश्वर का स्वरूप अवच्छेदों से रहित 'वस्तु' अर्थात् परप्रतिभामय विमर्श का विषय और विकल्पपूर्ण शब्दजाल का अविषय, भेदरहित और असीम है।

(दूसरी ओर विश्वमय अवस्था में) स्थावर सृष्टि से लेकर ब्रह्माण्ड के अन्त तक के प्राणियों की प्रकृतियों अर्थात् उनमें वर्तमान मायीय प्रभावों, प्राकृतिक गुणों, शुक्र (वीर्य) और शोणित (रज) के कारणों, और विकृतियों अर्थात् सीमित इतिकर्त्तव्यताओं (कला), बौद्धिक स्तरों और कायिक आकार-प्रकारों को आभासित करता हुआ अथवा इन सारे आभासों को पीछे धकेल कर उन्हें आत्मविकास की प्रेरणा देता हुआ निरन्तर स्फुरायमाण तत्त्व है। यही इस श्लोक का अर्थ है।

टिप्पणी

१. शैव भक्तिमार्ग में प्रह्वता का एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपने मनोनीत आराध्य की वन्दना प्रह्वीभाव के बिना केवल एक आडम्बरमात्र है। दूसरे शब्दों में प्रह्वता ही वास्तविक वन्दना है। तीव्रतम अवदान एवं श्रद्धा-भक्ति के साथ अपने इष्ट आराध्यदेव के चरणों में अखण्डित स्वात्मसमर्पण कर विमर्शतः उसी स्वरूप में निजी भावनामयी एकाकारिता की सच्ची अनुभूति ही प्रह्वता है और वही वन्दना करने का सारसर्वस्व है। भगवान

अभिनव के मतानुसार ऐसी प्रह्वतामयी वन्दना करने वाला व्यक्ति पहले स्वयं भी प्रामाणिक होना चाहिये। तात्पर्य यह कि उसे ऐसा परिपक्व विमर्श होना चाहिये कि वह अपने वन्दनीय विषय में सारे जड़ एवं अजड़ पदार्थों से विशिष्ट कोई अलक्ष्य उत्कर्ष भांप सके। यदि कोई व्यक्ति अपने आराध्य में ऐसे किसी विशिष्ट उत्कर्ष का परीक्षण किये बिना नमस्कार करने लगे तो वह अवर स्तर का प्रणामकर्ता होगा। स्पष्ट है कि प्रणाम करने वाले व्यक्ति को पहले यह विश्वास होना चाहिये कि मेरे नमस्करणीय विषय में कम से कम मुझसे कोई विशेषता है। नहीं तो प्रणाम करना ही निष्फल है अथवा आत्म-अपमान के बराबर है। किसी को भी प्रणाम करते समय तीव्र सावधानी बरतना अत्यन्त आवश्यक है, हाँ गद्दीधारों के चमचों की बात तो प्रस्तुत प्रसङ्ग की सीमा में नहीं आती है।

"इह परमेश्वरं प्रति या इयं काय-वाङ्मनसां तदेकविषयता नियोजनालक्षणा प्रह्वता सा नमस्कारस्य अर्थः। सा च तथा कर्त्तुम् उचिता प्रामाणिकस्य भवति यदि सर्वतो नमस्करणीयस्य उत्कर्षं पश्येत्। अन्यथा युक्तिम् अपरामृशतः अपरमार्थेऽपि नमस्कारोद्यतस्य सांसारिकजनमध्यपातित्वमेव। यथोक्तम्—

'न विन्दन्ति परं देवं विद्यारागेण रञ्जिताः'

(ई० प्र० वि० का० १)

(इस पद्यांश में विद्या शब्द से अल्पज्ञतारूपी अविद्या, राग शब्द से अभिष्वङ्ग और रञ्जिताः शब्द से निम्नकोटि की दार्शनिक बातों से अभिभूत व्यक्तियों का अभिप्राय है)

अभी ऊपर कहा गया कि प्रह्वता कायिक, वाचिक एवं मानसिक होती है। इनमें से कायिक-प्रह्वता से स्पष्टाङ्ग प्रणाम, वाचिक-प्रह्वता से आराध्य का स्पष्ट जयघोष और मानसिक-प्रह्वता से आराध्य के उत्कर्ष का एकतान विमर्श अभिप्रेत हैं। वास्तव में इष्ट के साथ परिपूर्ण तन्मयीभाव, जिसमें पूरी विगलितवेद्यान्तरता हो, ही प्रह्वता या वन्दना कहा जा सकता है।

२. सर्वज्ञता, परिपूर्ण तृप्ति (निराकाङ्क्षता), अनादि एवं अनन्त बोध (स्वयंसिद्ध जानकारी), स्वतंत्रता, कभी भी क्षीण या लुप्त न होने वाली शक्तिता और अनन्तशक्तिता ये माहेश्वर गुण कहलाते हैं। वास्तव में ये

सारे और अन्य अनन्त गुण भी एक ही 'स्वातन्त्र्य' नामी गुण के कल्पित रूपान्तर मात्र हैं। माहेश्वर प्रसङ्ग में गुण भी कोई विशिष्टता या उपाधि नहीं है। गुण से यहां अनिर्वाच्य लोकोत्तर स्वभाव का अभिप्राय है। स्वातन्त्र्य एक शाश्वतिक स्वभाव है और वही महेश्वर है अथवा दूसरे शब्दों में विश्वात्मक माहेश्वर-स्वभाव है।

श्लोक १३

मूलश्लोक

तत्त्वाख्याने त्वयि मुनिजना नेति नेति ब्रुवन्तः
श्रान्ताः सम्यक् त्वमिति न च तैरीदृशो वेति चोक्तः।
तस्मात्तुभ्यं नम इति वचोमात्रमेवास्मि वच्मि
प्रायो यस्मात्प्रसरतितरां भारती ज्ञानगर्भा॥

अन्वय– त्वयि तत्त्वाख्याने मुनिजनाः नेति नेति ब्रुवन्तः सम्यक् श्रान्ताः, च तैः 'त्वम् ईदृशः' इति वा न उक्तः, तस्मात् 'तुभ्यं नमः' इति वचोमात्रम् एव वच्मि अस्मि, यस्मात् प्रायः ज्ञानगर्भा भारती प्रसरतितराम्।

अनुवाद– आपके यथार्थ स्वरूप का वर्णन करने की दिशा में मुनि लोग केवल 'यह नहीं, यह नहीं' कहते कहते पूर्णतया थक चुके हैं, 'आपका वास्तविक स्वरूप इस प्रकार का है'— इतना भी वह निश्चित रूप से कह न पाये। इस कारण से मैं 'आपको प्रणाम हो'— केवल इतना ही वचन बोल रहा हूँ क्योंकि प्रायः (सच्चे मन से) केवल इतने ही वचनमात्र से मेरी यह ज्ञानगर्भित वाणी निर्बाध रूप में प्रसार में आ रही है।

(अथवा क्षेमराजीय मान्यता के अनुसार पद्य के अन्तिम दो चरणों की अर्थसङ्गति इस प्रकार है:—

'जिस कारण आप से ही पश्यन्ती इत्यादि संविन्मयी वाणियों का निर्बाध प्रसार होता है अतः मैं 'आपको मेरा प्रणाम हो'— केवल इतना ही कहने में अपनी सार्थकता समझ रहा हूँ'

शायद क्षेमराज के जमाने में पद्य के अन्तिम चरण का पाठ इस प्रकार रहा हो:—

'यस्मात्त्वत्तो प्रसरतितरां भारती ज्ञानगर्भा।'

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— यस्मात् त्वत्तो भारती पश्यन्त्यादिवाक्, ज्ञानगर्भा स्वावभास संवित्प्रधाना, प्रसरति, 'तस्मै तुभ्यं नम' इति वचोमात्रमेव, न त्वतिरिक्तं स्तुतिवाक्यादि वच्मि। ज्ञानस्य सर्ववाक्प्रसरहेतोर् अनवच्छिन्नस्य विभिन्नस्तुतिवाग्भिः स्तोतुम् अशक्यत्वात्, नमःशब्देन तु देहादिप्रह्वतां तुरीयकस्वचित्प्रकर्षपरामर्शनस्य कर्तुं शक्यत्वात्।

अनुवाद— (हे भगवान् चित्-सूर्य !) जिस कारण (परावाणी के स्वरूप वाले) आप से सारी पश्यन्ती इत्यादि वाणियों का प्रपञ्च, जोकि अपने आत्मस्वरूप की आन्तरिक अवभासमानता की संवित् की प्रधानता से युक्त है, प्रसार में आता है, उस कारण से मैं- 'उस आप चित्-सूर्य को प्रणाम हो'— मात्र इतना वचन – इससे अधिक और कोई स्तुति वचन इत्याादि नहीं – बोल रहा हूँ। इसका कारण यह है कि (ईश्वरीय) ज्ञान सारे वाणीप्रपञ्च के प्रसार का मूलकारण और इयत्ताओं से रहित है अतः भिन्न भिन्न प्रकार के स्तुतिवाक्यों से उसकी स्तुति किया ज़ाना कतई संभव नहीं है। इसके प्रतिकूल 'नमस्कार हो' केवल इतने शब्द का उच्चारण करने में कायिक इत्यादि प्रकार की प्रह्वता और निजी तुरीया रूपिणी चित्-शक्ति के पूर्ण विकास के विमर्श की अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है।

मूलग्रन्थ— युक्तं चैतत्, यस्मान्मुनयोऽपि त्वयि त्वद्विषये तत्त्वाख्याने- 'अणुर्न महान् न ह्रस्वं दीर्घं न'— इत्यादि ब्रुवन्तः श्रान्ताः क्लिष्टाः। न च तैः 'त्वम् इति एवंविधोऽसि इति एतादृशो वा इति एतत्तुल्यो वा इति'- सम्यग् उक्तः— वागगोचरत्वाद् एव इत्यर्थः।

अनुवाद— ऐसा करना युक्तियुक्त भी है क्योंकि गहरा मनन करने में पटु मुनिजन भी आपके विषय में तात्त्विकता का अनुसन्धान करते करते— 'सूक्ष्म नहीं, महान नहीं, नाटा नही, लम्बा नहीं है'— इत्यादि रूपों में नकारते नकारते थक चुके हैं। वे लोग भी स्पष्ट शब्दों में– 'आप ऐसे हो, आप वैसे हो, आप इसके समान हो'– इस प्रकार आपका स्वरूप परिचय प्रस्तुत

करने में सफल नहीं हो सके। कारण केवल इतना कि आप वाणी के गोचर हैं ही नहीं। यह श्लोक का अर्थ है।

श्लोक १४

मूलश्लोक

सर्वाङ्गीणः सकलवपुषामन्तरे योऽन्तरात्मा
तिष्ठन् काष्ठे दहन इव नो दृश्यसे युक्तिशून्यैः।
यश्च प्राणारणिषु नियतैर्मथ्यमानासु सद्भि-
र्दृश्यं ज्योतिर्भवसि परमादित्य तस्मै नमस्ते॥

अन्वय– हे परमादित्य ! यः सर्वाङ्गीणः अन्तरात्मा युक्तिशून्यैः सकलवपुषाम् अन्तरे काष्ठे दहन इव तिष्ठन् नो दृश्यसे, च यः नियतैः सद्भिः प्राण-अरणिषु मथ्यमानासु (सत्सु) दृश्यं ज्योतिः भवसि, तस्मै ते नमः (अस्तु)।

अनुवाद– हे परम पदवी पर अवस्थित चित् सूर्यदेव ! जो प्रत्येक (जड़ या चेतन) पदार्थ के कण कण में व्याप्त आन्तरिक आत्मसत्ता, योग की युक्ति से अनभिज्ञ व्यक्तियों को प्रत्येक प्रकार की काया के अन्दर अरणिकाष्ठ में अग्नि की भान्ति छिप कर बैठी हुई होने के कारण दिखाई नही देती है। परन्तु जो नियमित रूप से योगाभ्यास करने वाले सज्जनों को प्राणशक्तिरूपी अरणियों का मंथन करने की प्रक्रिया में अलौकिक ज्योति के रूप में दिखाई देती है, उसी आत्मज्योतिरूपी आपको मेरा प्रणाम हो।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ–हे परमादित्य चिदर्क तस्मै निर्विशेषाय ते तुभ्यं नमः। यस्त्वं स्थावरादिदेवयोनयन्तानां रुद्रक्षेत्रज्ञानां च सर्वेषां सर्वोङ्गेषु भवो व्यापकः सकलवपुषामन्तरे मितग्राहकात्मनि स्वरूपे योऽन्तरात्मा परमानन्दत्वात् "आत्मा चैवान्तरात्मा च" इति स्वच्छन्दादिष्टपुर्यष्टकप्रमाता तिष्ठन्नवस्थास्नुरपि युक्त्या योगेन शून्यैरपि न दृश्यसे।

अनुवाद– हे लोकातीत भगवान चित्सूर्य ! आपके उस स्वरूप को, जो कि विशेषताओं से परे है, मेरा प्रणाम हो, जो आप स्थावरसृष्टि से लेकर देवयोनि तक के सारे रुद्रों[1] और क्षेत्रज्ञों[2] के अङ्ग अङ्ग में व्यापक

हैं, और जो आप सारे मितप्रमताओं (सङ्कोचपूर्ण जीवों की कायाओं के अन्दर 'श्री स्वच्छन्दतन्त्रम्' के इस कथन—

"(वह चित्-प्रकाश ही सारे जीवों में) आत्मा एवं अन्तरात्मा (के रूपों में अवस्थित है)" के अनुसार 'अन्तरात्मा[३]' अर्थात् पुर्यष्टक प्रमाता[४] के रूप में अवस्थित रहते होने पर भी योगाभ्यास की प्रक्रिया से अनभिज्ञ व्यक्तियों को दिखाई नहीं दे रहे हैं।

मूलग्रन्थ— यथा काष्ठेऽग्निस्तिष्ठन्नपि युक्तिशून्यैररणिमथनानभिज्ञैर्न दृश्यते-तत्काष्ठकवलीकारि ज्वलद्रूपतया नोपलभ्यते।

अनुवाद— उदाहरणार्थ जिस प्रकार लकड़ी के मध्य में आग की वर्तमानता होते हुए भी, 'अरणियों[५]' अर्थात् विशेष प्रकार की पारस्परिक घिसावट से जल उठने वाली लकड़ियों को, आपस में घिसने की युक्ति न जानने वाले लोगों को उस सारी लकड़ी के ढेर को ग्रास करने वाली ज्वाला की उपलब्धि नहीं होने पाती है।

मूलग्रन्थ— यश्च त्वं प्राणारणिषु सर्ववाहोदयविश्रान्तिपदेषु, सद्भि-र्योगिभिर्, नियतैरभियुक्तैर्मथ्यमानासु—

"ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च अधःशक्तिनिकुञ्चनात्।
रुद्रशक्तिसमावेशं यो जानाति स पण्डितः॥"

इत्याम्नायादिष्टनीत्या अनवरतान्दोलनतः प्रशमितमरुद्व्यापिकासु दृश्यं ज्योतिर्भवसि- स्वप्रकाशचिद्रूपः स्फुरसि।

अत्र पर्यायेण प्राणापानौ ऊर्ध्वाधरारणिरूपौ, योगिप्रयत्नो मथनकाष्ठम्।

अनुवाद— इसके अतिरिक्त जो आप, 'प्राणापानरूपी[६] अरणियों' अर्थात् सारी प्राणवाहिनियों से सम्बन्धित वह्नि[७]नाडी की भूमिका में (सूक्ष्म) प्राणशक्ति के 'उदय' अर्थात् प्रसार और 'विश्रान्ति' अर्थात् सङ्कोच के स्थानों पर प्राणशक्ति का मंथन करने की योगयुक्ति का निरन्तर अभ्यास करने पर लगे हुए 'सज्जनों' अर्थात् उच्चकोटि के योगियों के द्वारा—

"ऊर्ध्वशक्तिनिपात अर्थात् वह्निनाडी में ऊर्ध्वकुण्डलिनी के पद पर प्राणशक्ति के प्रसार और अधःशक्ति निकुञ्चन अर्थात् मूलाधार में अधः कुण्डलिनी के पद पर प्राणशक्ति को (आत्मबल से) रुकाये रखने के रूपवाली योगयुक्ति का निरन्तर अभ्यास करते रहने से जिस साधक को अपने अन्दर रुद्रशक्ति का समावेश होने की अनुभूति हो जाये वही पण्डित कहलाता है।"

इस आम्नायवाक्य में समझाये गये उपदेश के अनुसार अपने अन्तर्हृदय में निरन्तर प्राणशक्ति का मंथन करने से सारी बहिरंग प्राणवाहिनियों में स्थूल प्राणचार और अपानचार की गति का शमन कर लेने पर, ज्योतिर्मय स्वरूप का साक्षात्कार करवाते हैं। तात्पर्य यह कि (आप स्वयं ही उनके अन्तर्हृदय में) स्वयं प्रकाशमान चित्ता के रूप में स्फुरायमाण हो जाते हैं।

इस योगयुक्ति में योगक्रम के अनुसार प्राण एवं अपान बारी बारी से ऊर्ध्व-अरणि और अधर-अरणि के रूप को धारण कर लेते हैं और ऐसे योगी का अपना प्रयत्न ही मंथन किये जाने की लकड़ी समझना चाहिये।

टिप्पणियां

१. माया-तत्त्व से उपरितनवर्ती प्रमातागण—ऐसे प्रमाता जिन्होंने अपने अंदर परमशिवमय चैतन्य की अनुभूति प्राप्त की हो—इसी कारण से इनको मुक्तशिव या पतिप्रमाता भी कहते हैं। इसी भूमिका पर अवस्थित प्रमातृवर्ग ने अठारह रुद्र-तन्त्रों अर्थात् अभेददर्शन पर आधारित शैवागमों को भूमण्डल पर अवतारित किया। ये ऐसे आत्मा हैं जो मुक्ति को प्राप्त कर चुके हैं परन्तु अभी पूर्णरूप से शिवभाव में विलीन नहीं हुए हैं। इसी कारण से इन प्रमाताओं में, शिव की अपेक्षा, सृष्टि इत्यादि की अधिकारिता न्यून होती है।

२. माया-तत्त्व से नीचे की प्राधानिक सृष्टि के अन्तर्गत सारे जीव क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं।

३. भगवान अभिनव के मतानुसार पाञ्चभौतिक काया को धारण करने वाला प्रत्येक प्राणी स्थूल शरीर (बाहरी कायिक ढांचा) से लेकर अन्तरतम में निगूढ़ सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्म चेतना तक पांच परतों का बना हुआ पिण्ड है। ये पांच परतें अदंर से बाहर की ओर उसी अन्दर छिपे हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मा के उत्तरोत्तर स्थूल अथवा बाहर से अन्दर की ओर उत्तरोत्तर सूक्ष्म रूप हैं। बाहर से अंदर की ओर ये पांच परते इस प्रकार हैं—

शरीर, प्राण, पुर्यष्टक, शून्य और तुरीय शक्ति। ये क्रमशः निम्नलिखित उत्तरोत्तर सूक्ष्म आत्मा की अवस्थाओं के सूचक हैं—

बाह्यात्मा, भूतात्मा, आतिवाहिक आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

काया की दृष्टि से ये निम्नलिखित पांच कायिक अभिमानों के सूचक हैं—

स्थूल—काया, सूक्ष्म—काया, पर—काया, शाक्त-काया और स्पन्द-काया।

प्रमातृभाव की दृष्टि से ये निम्नलिखित पांच प्रमातृभावों का प्रतिनिधित्व करते हैं—

बाह्यात्मप्रमाता, भूतात्मप्रमाता, आतिवाहिक आत्मप्रमाता अथवा दूसरे शब्दों में पुर्यष्टक प्रमाता, अन्तरात्म प्रमाता और परमात्मप्रमाता। प्रमातृभाव के साथ सम्बन्धित करने का तात्पर्य यह है कि जिस जीवात्मा को जिस स्तर के आत्मभाव पर सच्चे आत्मा की अभिमानिता हो उसको उसी स्तर का प्रमाता कहते हैं। अगर कोई बाहरी स्थूल शरीर पर ही सच्चे आत्मभाव का अभिमानी हो उसको बाह्यात्मप्रमाता कहते हैं। इसी प्रकार और भी। शास्त्रीय प्रक्रिया में निम्नलिखित पांच अवस्थाओं के साथ भी क्रमशः इन पांच परतों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है:—

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य और तुर्यातीत। इसकी उपयोगिता क्रियापक्ष के साथ जुड़ी हुई है अतः इनसे सर्वसाधारण जाग्रत् आदि समझने के मतिभ्रम में नहीं पड़ना चाहिये।

स्पष्ट ही इनमें से 'अन्तरात्मा' बाहर से अन्दर की ओर चौथी और इसके विपरीत दूसरी परत है। अन्तरात्मा से तुरीयाभाव पर पहुंचे हुए प्रबुद्ध आत्मभाव का अभिप्राय है।

४. पुर्यष्टक से साधारण रूप में आठ पुरों (नगरों) का अभिप्राय है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में इससे शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा, मनस्, बुद्धि और अहङ्कार इन आठ पुरों से बने हुए आतिवाहिक शरीर (वासना पिण्ड) का अभिप्राय है। यह आतिवाहिक शरीर ही आत्मा को अपने अन्दर जकड़ कर मृत्यु के समय एक स्थूल शरीर से निकाल कर दूसरे स्थूल शरीर में पहुंचा देता है। मृत्यु के समय स्थूल काया का नाश तो हो जाता है परन्तु इस आतिवाहिक काया का तब तक नाश नहीं होने पाता जब तक आत्म-प्रत्यभिज्ञा का उन्मेष न हो जाये। कहना न होगा यहां पर क्षेमराज ने स्वच्छन्दतन्त्र के आधार पर अन्तरात्मा को पुर्यष्टक प्रमाता स्वीकारा है जब कि यह बात उल्लिखित अभिनवगुप्त के कथन के साथ मेल नहीं खाती है। इसका क्या कारण रहा होगा कुछ समझ में नही आता है।

५. 'अरणि' एक विशेष प्रकार की लकड़ी होती है जिसके दो टुकड़ों को खास तरीके से घिसने पर ज्वाला प्रकट होती है।

६. यहां पर टीकाकार ने जिस योगक्रम का उल्लेख किया है उसको पारिभाषिक रूप में 'शक्ति-सङ्कोच-विकास' कहते हैं। योगी के प्राणापान वह्निनाडी अर्थात् मध्यनाडी में प्रवेश पाने की अवस्था में उदानशक्ति का रूप धारण करके कुण्डलिनी के साथ ऊर्ध्वगति पकड़ लेते हैं। इस ऊर्ध्वगति में जब कुण्डलिनी शक्ति जाग कर मध्यनाडी के पथ से ऊपर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचती है तो उसको ऊर्ध्वकुण्डलिनीपद का विकास कहते हैं। जब प्राणशक्ति अधःकुण्डलिनी के पथ से लम्बिका से मूलाधार की ओर प्रवाहित हो जाती है तब उसको अधःकुण्डलिनी पद पर शक्ति का सङ्कोच कहते हैं। मध्यधाम में प्राणशक्ति के इस प्रकार के आरोहण एवं अवरोहण के अभ्यासक्रम का निरन्तर अभ्यास करने से योगी को स्वयं ही अपने अंदर आत्मज्योति का आभास मिल जाता है।

इस योगयुक्ति का किताबी ज्ञान प्राप्त करने की इच्छापूर्ति के लिए प्र० हृ० पृ० ८९ अथवा प० त्रिं० भा० के पृष्ठ ४३९ से ४३८ तक का अध्ययन करें। वास्तविक क्रियात्मक जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए ऐसे रहस्य विषयों को गुरुमुख से ही समझने का परामर्श दिया जाता है। व्यर्थ के बतंगड़ में कोई सार नहीं होता है।

७. मध्यनाडी का ही दूसरा पारिभाषिक नाम बह्निनाडी भी है। कारण यह कि यह नाडी अतितरां गर्म स्वभाव की होती है। इसी कारण से इस नाडी के भीतर से संचार करने वाली उदानशक्ति को भी उदानवह्नि का नाम दिया गया है।

श्लोक १५

मूलश्लोक

स्तोता स्तुत्यः स्तुतिरिति भवान् कर्तृ-कर्म-क्रियात्मा
क्रीडात्येकस्तव नुतिविद्यावत्स्वतन्त्रस्ततोऽहम्।
यद्वा वच्मि प्रणयसुभगं गोपते तच्च तथ्यं
त्वत्तो ह्यन्यत्किमिव जगतां? विद्यते तन्मृषा स्यात्॥

अन्वय— हे गोपते ! भवान् 'स्तोता, स्तुत्यः, स्तुतिः' इति एकः 'कर्तृ, कर्म, क्रियात्मा' क्रीडति, ततः अहं तव नुति विद्यौ अस्वतन्त्रः (अस्मि), यद्वा प्रणयसुभगं (किञ्चित्) वच्मि तत् च तथ्यं (वर्तते), हि जगतां त्वत्तः अन्यत् किमिव? (चेत्) विद्यते तत् मृषा स्यात्।

अनुवाद— हे चित्-शक्ति की किरणमाला के रूपवाले ! आप स्वयं 'स्तुतिकर्ता, स्तुति का विषय और स्तुति पाठ' इन तीनों रूपों में क्रमशः 'कर्ता, कर्म और क्रिया' का रूप धारण करके क्रीड़ा कर रहे हैं। इस हेतु से मैं आपको प्रणाम करने में स्वतन्त्र नहीं हूँ। दूसरे पक्ष में जो कुछ मैं भी प्रेमविह्वल होकर आपसे निवेदन कर रहा हूँ वह भी यथार्थ ही है क्योंकि जगत में आपसे भिन्न कौन-सी वस्तु है? यदि हठधर्मिता से किसी ऐसे वस्तु की कल्पना की भी जाये वह (पर्यन्ततः) मिथ्यावाद ही होगा।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे गोपते चिन्मरीचिचक्रेश्वर ! भवानेकोऽद्वितीयः स्तोत्रादिरूपतया क्रीडति स्व-स्वातन्त्र्यात्तत्तद्रूपतया स्फुरति। यदुक्तं मयैव भैरवानुकरणस्तोत्रे:—

"स्तोता स्तुत्यः स्तुतिरिति यदपि
विभिन्नं न किञ्चिदस्तीह।
मृशसि यथा यद्रूपं
चिद्रूपतया भवस्येतत् ॥ इति ॥

अनुवाद— हे गोपति अर्थात् चित्प्रकाश के किरणचक्र के ईश्वर, आप निरा एकले किसी दूसरे की सहकारिता के बिना स्तुतिकार = कर्ता इत्यादि (अर्थात् स्तुति का विषय = कर्म, और स्तुति करना = क्रिया) इन रूपों में क्रीडा करते हैं अर्थात् निजी स्वातन्त्र्य से स्वयं इन सारे रूपों में स्पन्दायमान हैं। जैसा कि मैने अपने ही भैरवानुकरणस्तोत्र में कहा है:—

"(हे भगवान !) स्तुतिकार, स्तुति का विषय और स्तुति करना इन रूपों में जो कुछ भी इस जगत में है वह आप से भिन्न नहीं है। फलतः आप स्वरूप में ही जिस किसी भी रूप का विमर्श करते हैं, चित्-रूप होने के कारण वैसे ही बन जाते हैं।"

मूलग्रन्थ– **यतोऽहमिति भवत्कल्पितमेव, ततोऽहमिति सङ्कोचप्रधानो मायाप्रमाता त्वत्स्तोत्रकरणेऽस्वतन्त्रस्त्वामेव चिदात्मानं स्तौमि। न त्वहं नामान्यः कश्चिदित्यर्थः।**

अनुवाद– जिस कारण 'अहम् = मैं' इस प्रकार का 'अहम् = मैं-अभिमान' भी आपकी ही कल्पना का रूप है, उस कारण से 'अहम् = मैं' इस प्रकार के 'मैं-अभिमान' के सङ्कोच की प्रधानता से भरा हुआ मायीय प्रमाता (मैं श्रीसाम्ब अथवा कोई भी इतर प्रमाता) आपकी स्तुति करने में स्वतन्त्र न होने की अवस्था में मात्र आप ही को चिदात्मरूप समझ कर स्तुति कर रहा हूँ। तात्पर्य यह कि 'अहम् = मैं श्रीसाम्ब' आप से इतर और कोई दूसरी सत्ता तो हूँ ही नहीं।

मूलग्रन्थ– **यच्च किञ्चित् त्वदात्मैवाहं, प्रणयसुभगं प्रार्थनासुन्दरं वच्मि तत्सर्वं तथ्यं त्वत्परमार्थमेव। यतस्त्वत्तश्चिदात्मनो व्यतिरिक्तं जगतां किमिव विद्यते? न किञ्चिदस्ति।**

अनुवाद– साथ ही 'अहम् = मैं' अर्थात् आपका अपना ही स्वरूप (श्रीसाम्ब), जो कुछ भी प्रणयपूर्वक प्रार्थना के रमणीक बोल बोल रहा हूँ वह भी सम्पूर्णरूप में सच्चाई अर्थात् आप से ही सम्बन्ध रखने वाला परमार्थ है। कारण यह कि इस जगत में आप चिदात्मा से बढ़ कर और कौन सी सत्ता है? कोई भी नहीं है।

मूलग्रन्थ– **यदि वा तथापि किञ्चित्सङ्कल्प्यते तन्मृषा स्यात्, नैव भवेत्। चिदात्मतां विना कस्यचिदपि चेतना च-इति तस्य सङ्कल्पविकल्पविषयत्वस्य अपि अयोगेन गगनकुसुमतोऽपिं निकृष्टत्वात्। इत्थं युक्तितस्त्वदभेदसारैव स्तुतिः।**

अनुवाद– ऐसी परिस्थिति होने पर भी अगर आग्रहपूर्वक किसी अन्य के अस्तित्व की कल्पना की भी जाये वह तो मात्र मिथ्यावाद होगा। वह तो कोई अस्तित्व ही नहीं होगा। कारण यह है कि चिदात्मभाव के बिना किसी और वस्तु का चैतन्य सत्ता होना तो केवल सङ्कल्पों एवं विकल्पों से भी सिद्ध नहीं होने पाता, अतः वह आकाशपुष्प से भी निःसार है। फलतः इस तर्क के आधार पर यह बात सिद्ध हो जाती है कि मेरी यह स्तुति मात्र आपके साथ अभेदभाव के सार[१] वाली है।

टिप्पणी

१. इस पद्य में स्तोत्रकार ने पूर्णतया अपने देहादि की आत्म-अभिमानिता को भूल कर, पिछले पद्य में वर्णित परिपूर्ण आत्मसमर्पणमयी प्रह्वता की अभिव्यंजना प्रस्तुत की है।

श्लोक १६

अनुक्रमणिका— **प्रातीतिकक्रमेण तु यद्यपि भेदस्तथापीत्थं त्वम् आराध्योऽस्माकमित्याह:—**

अनुवाद— यद्यपि दैनिक प्रतीतियों के क्रम के अनुसार (प्रमेय विश्व में) पारस्परिक भेदभाव अवश्य वर्तमान है, तो भी निम्नलिखित प्रकार से आप हमारे आराध्य देवता बन जाते हैं:—

मूलश्लोक

ज्ञानं नान्तः करणरहितं विद्यतेऽस्मद्विधानां त्वं
चात्यन्तं सकल करणागोचरत्वादचिन्त्यः।
ध्यानातीतस्त्वमिति न विना भक्तियोगेन लभ्य-
स्तस्माद्भक्तिं शरणममृतप्राप्तयेऽहं प्रपन्नः।

अन्वय— अस्मद्विधानां ज्ञानम् अन्तःकरण रहितं न विद्यते, च त्वं सकल-करण-अगोचरत्वात् अत्यन्तम् अचिन्त्यः, त्वं ध्यान-अतीतः इति भक्तियोगेन विना न लभ्यः, तस्मात् अहम् अमृतप्राप्तये भक्तिं प्रपन्नः (अस्मि)।

अनुवाद— हम जैसे (सीमित ज्ञान वाले) व्यक्तियों का (सांसारिक) ज्ञान, मन, बुद्धि और अहङ्कार इन तीन अन्तः कारणों के बिना संभव ही नहीं होता है, उस पर भी आप सारे अन्तःकरणों के गोचर न होने के कारण उनसे बिल्कुल अचिन्त्य हैं। आप ध्यान से भी परे हैं इसलिए भक्तियोग के बिना पाये नहीं जा सकते, अतः मैं 'अमृत' अर्थात् मुक्ति को पाने के लिए आपकी भक्ति की ही शरण में पड़ा हूँ।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— **ऐन्द्रियकज्ञानवतां मायाप्रमातृणाम् अस्माकम् इन्द्रियागोचरो भवान् अचिन्त्यत्वाद्ध्यानविषयो न भवतीति देहादिमितप्रमातृतामज्जनोन्मज्जन**

चिदर्कभजनात्मकभक्तियोगसंपादनीयत्वाद्भगवतो भक्तिमेव शाक्तस्फारावेशनयामृत प्राप्तयेऽस्म्याश्रितः। उक्तं च विज्ञानभैरवे :—

"भक्त्युद्रेकाद्विरक्तस्य यादृशी जायते दशा।
सा शक्तिः शाङ्करी नित्यं भावयेत्तां ततः शिवः॥" इति।

अनुवाद— (हे भगवान चित्-सूर्य !) आप, हम जैसे मात्र इन्द्रियबोध के सहारे पर खड़े, माया प्रमाताओं की इन्द्रियों (पांच ज्ञानेन्द्रिय और तीन अन्तःकरण) का विषय न बन जाने के कारण, अचिन्त्य हैं और अचिन्त्य होने के कारण ध्यान का विषय भी नहीं बनने पाते हैं। ऐसी स्थिति में भगवान चित्-सूर्य का गुणगान करने के रूपवाले भक्तियोग के द्वारा ही शरीर इत्यादि से सम्बन्धित सङ्कुचित प्रमातृभाव में डूबे हुए आत्मा का उद्धार हो सकता है। इस लिए मैं (श्री साम्ब) अपने अन्दर शाक्तभूमिका अर्थात् तुरीयाभाव का विकास एवं परिपूर्ण आवेश के रूप वाले अमृतत्व को पाने के लिए भगवान (चित्-सूर्य) की भक्ति का ही आश्रय ले रहा हूँ। इस सम्बन्ध में विज्ञानभैरव में ही कहा[१] गया है :—

"भक्ति की तीव्र पराकाष्ठा के द्वारा वैरागी बने हुए मनुष्य की जैसी दशा हो जाती है, उसको शंकर की अनुग्रहशक्ति समझना चाहिये, निरन्तर उसकी भावना करनी चाहिये, तब जाकर (अन्तस् में) शिवभाव विकसित हो जाता है।"

टिप्पणी

१. शैवमार्ग में प्रह्वता के रूपवाले भक्तियोग का अतिविशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है। साधक की काया, वाणी, मन एवं अन्तश्चेतना में परिपूर्ण परानन्द का समावेश, स्व-पर-प्रत्यय का सर्वाङ्गीण उपशम, आराध्य-सत्ता के साथ अखण्ड एकाकारता रूप तादात्म्य और अन्तः-बहिः मात्र सौन्दर्य का विमर्शमय साक्षात्कार ही इस शैवी-भक्ति का रूप है। इष्ट सत्ता की अनुकम्पा एवं तीव्र शक्तिपात से ही साधक के अन्तस् में ऐसी भक्ति का उन्मेष हो जाता है। इसमें निजी पुरुषकार, योग, जप, तप या कोई विशेष अर्चना-पद्धति किसी काम की सिद्ध नहीं हो सकती। ये कल्पित शास्त्रीय विधि-विधान मायीय क्षेत्र तक ही सीमित होने के कारण माया से सर्वथा अतिगत पारम्य

को प्राप्त करने में सहायक सिद्ध नहीं हो सकते। भगवान उत्पल का कथन है:—

'न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते॥'

(शि० स्तो० १, १८)

इन सारी शास्त्रीय इतिकर्तव्यताओं में आराधक, आराध्य एवं आराधना इनका पार्थक्य गलता नहीं है। जहां पार्थक्य गलने न पाये वह चाहे किसी भी प्रकार की भक्ति हो, परन्तु पराभक्ति नहीं कही जा सकती। स्पन्दशास्त्र में इस तथ्य की विवेचना इस प्रकार की गई है:—

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्॥
तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपाः निरञ्जनाः।
सहाराधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः॥

(स्पं० का० भा० पृ० ११२)

परा, परापरा और अपरा अथवा दूसरे शब्दों में शांभव, शाक्त एवं आणव ये भक्ति के तीन रूप हैं। अपरा-भक्ति अथवा ध्यानादि के अभ्यास से, परापरा-भक्ति अथवा शाक्त भूमिका या मध्यधाम में तुरीयाभाव की अनुभूति के क्षेत्र में प्रवेश मिल जाता है। इस अवस्था में प्रवेश पाने पर भी भेद-भाव का पूरा उपशम नहीं होने पाता। तात्पर्य यह कि समाधिकाल में यद्यपि एकाकारता की अनुभूति जागरूक रहती है परन्तु व्युत्थान में आते ही भेदबुद्धि फिर एकदम अन्तस् पर उमड़-घुमड़ आ जाती है। साधक के लिए ऐसी व्युत्थान-अवस्था मर्मान्तिक पीडादायिनी बन जाती है। वह पागल हो जाता है, उस को कुछ नहीं रुचता है। उसके लिए सारा संसार दुःखमय बन जाता है। अपने सगे सम्बन्धी भी उसको दुत्कारने लगते हैं। परन्तु वह क्या करे? वह विवश होता है:—

'नाथ विद्युदिव भाति विभा ते या कदाचन परामृतदिग्धा।
सा यदि स्थिरतरैव भवेत्तत् पूजितोऽसि विधिवत्किमुतान्यत्॥"

(शि० स्तो० ४, ८)

अस्तु, परसंवेदनशील सिद्धजनों का उपदेश यह है कि परापरा-भक्ति की पराकाष्ठा पर पहुंच जाना ही पराभक्ति-तुरीयातीतभाव में प्रवेश पाना कहा जाता है। वहां पहुंच कर स्तोता, स्तुत्य, स्तोत्र अथवा समाधिकाल या व्युत्थानकाल जैसा कोई झमेला नहीं। जन्म-जन्मान्तरों के रुद्ध कवाट् स्वयं खुल जाते हैं। कोई बन्धन, सीमा या इतिकर्त्तव्यता अवशिष्ट नहीं रहती। सब कुछ समरस बन जाता है और वही सच्ची स्वरूप-अर्चना है।

'ध्यायते तदनु दृश्यते ततः स्पृश्यते च परमेश्वरः स्वयम्।
यत्र पूजनमहोत्सवः स मे सर्वदास्तु भवतोऽनुभावतः॥

(शि० स्तो० १३, ६)

योगी और भक्त दोनों में केवल इतना अन्तर है कि योगी की तादात्म्य-अनुभूति एकदेशीय अर्थात् केवल समाधिकाल से सम्बन्धित होने के कारण अधूरी और भक्त की तादात्म्य-अनुभूति समाधि या व्युत्थान दोनों में समान होने के कारण पूरी होती है –

'प्रत्याहाराद्यसंस्पृष्टो विशेषोऽस्ति महानयम्।
योगिभ्यो भक्तिभाजां यद्व्युत्थानेऽपि समाहिताः॥'

(शि० स्तो० १, १७)

इस भक्तियोग में आराध्य की अर्चना साधारण पुष्प, धूप, दीप इत्यादि से नही होती है, प्रत्युत

"कृत्वाधारधरां चमत्कृतिरसप्रोक्षाक्षणक्षालिता–
मात्तैर्मानसतः स्वभावकुसुमैः स्वामोदसन्दोहिभिः।
आनन्दामृतनिर्भरस्वहृदयानर्घार्घपात्रक्रमात्
त्वां देव्या सह देहदेवसदने देवार्चयेऽहर्निशम्॥

श्लोक १७

मूलश्लोक

हार्दं हन्ति प्रथममुदिता या तमः संश्रितानां
सत्त्वोद्रेकात्तदनु च रजः कर्मयोगक्रमेण।

स्वभ्यस्ता च प्रथयतितरां सत्त्वमेव प्रपन्ना
निर्वाणाय व्रजति शमिनां तेऽर्क भक्तिस्त्रयीव।

अन्वय— हे अर्क ! या उदिता प्रथमं संश्रितानां हार्दं तमः, तदनु सत्त्वोद्रेकात् कर्मयोगक्रमेण रजः च हन्ति, च स्वभ्यस्ता सत्त्वमेव प्रथयतितराम्, (एवं सा) ते भक्तिः प्रपन्ना त्रयी इव शमिनां निर्वाणाय व्रजति।

अनुवाद— हे भगवान चित्सूर्य ! जो (आपकी भक्ति) उन्मिषित[१] होने पर सबसे पहले भक्तजनों के हृदय में विद्यमान तमोगुण (अख्यातिरूपी, आणवमल) को नाश कर देती है; उसके उपरान्त 'कर्मयोग[२]' अर्थात् कामनारहित कर्मों को करते रहने के तार को पकड़ने के द्वारा सत्त्वगुण को उभार कर, रजोगुण (कार्ममल) का शमन कर देती है; फिर अच्छी प्रकार अभ्यास का विषय बनाई जाने पर सत्त्वगुण का ही प्रकाश चारों ओर फैला देती है (मायीय मल का शमन कर देती है), ऐसी ही आपकी भक्ति, अपनाई जाने पर, वेदत्रयी की तरह, शान्तात्माओं को निर्वाण[३] प्राप्त करने का सक्षम साधन बन जाती है।

टिप्पणियां

१. पूर्वश्लोक में समझाया गया कि सच्ची भक्ति का आन्तरिक उन्मेष केवल परमेश्वर शक्तिपात से हो जाता है।

२. निष्काम कर्म करने के रूप वाले कर्मयोग की विशद मीमांसा भगवान कृष्ण ने श्रीगीता में करके रखी है। शैवशास्त्रों में भी ग्रामधर्म की वृत्ति का अवलम्बन लेकर निर्लिप्त भाव से सारे सांसारिक व्यवहार चलाने वाले व्यक्ति के कार्ममल से आक्रान्त न हो सकने की बात को अच्छी प्रकार समझाया गया है।

३. यहां पर निर्वाण शब्द से शैवभक्तों के सन्दर्भ में स्वरूप प्रथन के रूपवाली मुक्ति, और वेदत्रयी का अनुसरण करने वाले वेदान्तियों के लिए अपवर्ग का अभिप्राय है।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे अर्क, तव भक्तिः प्रपन्ना समाश्रिता सती शमिनां शान्तरागादिकलङ्कानां निर्वाणाय मोक्षाय व्रजति जीवच्छिवत्वाभिव्यक्तये घटते।

अनुवाद— हे चित्-सूर्य देव, ऐसे शान्तात्मा पुरुषों के लिए, जिनके हृदय से राग आदि के धब्बे पूर्णतया मिट गये हों, आपकी भक्ति का आश्रय लेना मुक्ति का द्वारा खोल देता है। तात्पर्य यह कि ऐसा करना उनके जीते जी ही उनमें शिवभाव की अभिव्यक्ति करवाने का सक्षम उपाय बन जाता है।

मूलग्रन्थ— त्रयी यथा। सापि हि काम्यकर्म परिहृत्यानुष्ठीयमाना त्रय्यन्तविदाम् अपवर्गहेतुः। तथा चैषा प्रथममुदिता समुन्मिषितमात्रा हार्दं प्रकाशानन्दात्महृद्भवं तमस्त्वभेदाख्यातिरूपमाणवं मलं संश्रितानां भक्तिभाजां हन्ति नाशयति। तदनु सत्त्वस्य प्रकाशस्य उद्रेकात्प्रकर्षात् कर्मयोगक्रमेण स्वात्मदेवताविश्रान्तिफलशारीरकर्मानुष्ठानेन कार्ममलरूपं रजो हन्ति।

अनुवाद— जैसा कि वेदत्रयी के विषय में भी प्रसिद्ध तथ्य है। वह (वेदत्रयी) भी 'काम्य' अर्थात् फल की कामना से किये जाने वाले कर्मों का बहिष्कार करके अनुष्ठान का विषय बनाई जाने पर वेदान्तमार्ग पर चलने वाले सिद्धजनों को अपवर्ग (वेदान्त सम्मत मुक्ति) दिलाने का हेतु बन जाती है। उसी प्रकार यह (चित्-सूर्य की भक्ति) भीः—

१. भक्तजनों के हृदय में उन्मिषित हो जाने पर पहले 'प्रकाश' अर्थात् शिवभाव और 'आनन्द' अर्थात् शक्तिभाव दोनों के संघट्टरूपी हृदयमण्डल में उपजे हुए 'तमस्' अर्थात् अख्यातिरूप आणवमल[१] का नाश कर देती है ?

२. उपरान्त हृदय में 'सत्त्व' अर्थात् आन्तरिक प्रकाश की मात्रा बढ़ जाने के फलस्वरूप, कर्मयोग का क्रम अपनाने के द्वारा, शरीर से किये जाने वाले सारे अनुष्ठानों को केवल 'स्वात्मदेवता' अर्थात् चित्प्रकाश में विश्रान्त करने की फलवत्ता के साथ जोड देने पर कार्ममल के रूपवाले रजस् का हनन कर देती है।

मूलग्रन्थ— तथा सुष्ठु अभ्यस्ता परिशीलनेन स्वीकृता, सतो भावः सत्त्वं प्रकाशैकधनत्वमेव प्रकाशमाने सर्वत्र प्रथयतितराम्। न तु पशुवन्मायीयमलात्मभिन्नवेद्यप्रथाकृत्। त्रय्यपि त्रय्यन्तविदां तन्निष्ठानां सत्त्वं प्रथयति।

अनुवाद– साथ ही अत्यन्त सावधानी से अभ्यास का विषय बनाई जाने पर अर्थात् आन्तरिक अनुसन्धान के द्वारा आत्मसात् की जाने पर, 'सत्त्व' अर्थात् (विश्व में) चारों ओर अन्तः बहिः (भिन्न भिन्न नील-मुख आदि रूपों वाली) प्रकाशमानता के विस्फार में उसके मूलभूत महाप्रकाश (चित्शक्ति) की 'एकघनता' अर्थात् परिपूर्ण अभेदभाव की आत्मिक अनुभूति को चरम पराकाष्ठा पर पहुंचा देती है। वेदत्रयी भी वेदान्त के मर्मज्ञ और उस मार्ग पर निष्ठा रखने वाले साधकों में 'सत्त्व' अर्थात् ईश्वरीय प्रकाशमानता के पट खोल देती है।

टिप्पणी

१. शैव सन्दर्भ में मल परमेश्वर की निर्बाध इच्छाशक्ति के द्वारा स्वयं उत्पादित अशुद्धि है जिसके द्वारा सर्वोच्च प्रमाता स्वरूप को ही ढाँप कर संसारी पशु बन गया है। इस अशुद्धि से अखण्डित ही खण्डित, सर्वज्ञ ही अल्पज्ञ, सर्वकर्ता ही अल्पकर्ता, शाश्वत ही अनित्य, निराकार ही साकार, सर्वव्यापक ही अव्यापक बनकर जीवभाव की चक्की पीस रहा है। मायाशक्ति से उत्पादित 'भिन्नवेद्यप्रथा' अर्थात् स्वरूप के ही विस्तार रूप प्रमेय पदार्थों को स्वरूप से भिन्न रूप में जानना, ही इस अशुद्धि का मूल आधार है। पति प्रमाता को सारे नील-मुख आदि भाव निजी अवयव ही भासित होते हैं अतः वह उनका शासक (पति) कहा जाता है, माया के प्रभाव से जीव को वही भाव भिन्नरूप में भासित होते हैं अतः उनसे सम्बन्धित राग-द्वेष आदि के पाशों के द्वारा जकड़ा होने के कारण पशु कहलाता है।

'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः।
मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः॥'

(ई० प्र० ३, २-३)

इस अशुद्धि के आणवमल, मायीयमल और कार्ममल ये तीन रूप हैं। इनका विश्लेषण ई० प्र० में इस प्रकार किया गया है:—

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥
भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम्।

कर्तर्यबोधे कार्मं तु मायाशक्त्यैव तत्त्रयम्॥

(ई० प्र० ३, ४-५)

संक्षेप में इस कथन का निष्कर्ष इस प्रकार है— आणवमल— परमोच्च चैतन्य अर्थात् (परमशिव = चित्शक्ति), बोध और स्वातन्त्र्य का संघट्ट है। बोध से पारमेश्वर ज्ञानशक्ति और स्वातन्त्र्य से पारमेश्वर क्रियाशक्ति का अभिप्राय है। बोध में स्वातन्त्र्य की हानि और निजी स्वातन्त्र्य की अबोधता यह दो प्रकार की 'अपूर्णमन्यता' अर्थात् अपने परिपूर्ण स्वरूप का अज्ञान ही दो प्रकार का मौलिक आणव-मल है जो परम को (शिव को) अणु (सङ्कोच का पुतला जीव) बना देता है।

मायीय मल— इस आणवमल की उथल-पुथल में ही 'भिन्नवेद्यप्रथा' अपने स्वरूप से अभिन्न प्रमेय विश्व को अपने से भिन्न समझने की अज्ञानता में डूब जाना ही दूसरा मायीय मल कहलाता है। भिन्नवेद्यप्रथा के कारण ही पशु में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष इत्यादि को बढ़ावा मिल जाता है।

कार्ममल— बोध से व्यतिरिक्त कर्तृता के पीछे पड़ना ही कार्ममल है। तात्पर्य यह कि त्रिगुणमय अन्तःकरणों की वशवर्तिता में पड़कर अपनी ही कपोलकल्पना से किसी हेय कर्म को भी धर्म का नाम देकर अथवा ग्राह्य कर्म को भी अधर्म का नाम देकर, करना और न करना ही कार्ममल है। इसके संस्कार जन्मजन्मान्तरों तक वासनापिण्ड अर्थात् चित्त में रहकर पशु को जन्म-मरण और सांसारिक कनक-कामिनीरूप भोगों का उपभोक्ता बना देते हैं। तीनों मल माया-शक्ति के प्रभाव से ही पनपते हैं।

भगवान आशुतोष ने मालिनीविजय में सारे मलों को अज्ञान = अपूर्णज्ञान का ही नाम दिया है— 'मलमज्ञानमिच्छन्ति'।

श्लोक १८

मूलश्लोक

तामासाद्य श्रियमिव गृहे कामधेनुं प्रवासे
ध्वान्ते भातिं धृतिमिव वने योजने ब्रह्मनाडिम्।
नावं चास्मिन्विषमविषयग्राहसंसारसिन्धौ
गच्छेयं ते परमममृतं यत्र शीतं न चोष्णम्॥

अन्वय– (हे चिदर्क !) तां (भक्तिं) गृहे श्रियम् इव, प्रवासे कामधेनुम् इव, ध्वान्ते भातिम् इव, वने धृतिम् इव, योजने ब्रह्मनाडिम् इव, अस्मिन् विषम-विषय-ग्राह-संसार-सिन्धौ नावम् इव च आसाद्य ते परमम् अमृतं गच्छेयं यत् न शीतं न च उष्णं (वर्तते)।

अनुवाद– (हे भगवान् चित्-सूर्य !) उस (उपरिवर्णित) पराभक्ति को, घर में आई हुई लक्ष्मी; परदेस में कामधेनु; घने अन्धेरे में प्रकाश की शिखा; वन में धैर्य, (परमपुरुष के साथ) मिलाने में ब्रह्मनाडी और अत्यन्त डरावने (सांसरिक) विषयरूपी मगरमच्छों से आकीर्ण संसारसागर में नौका जैसी को पाकर मुझे आपके अमृतधाम में पहुंचने का सौभाग्य प्राप्त हो, जोकि न सर्द है और न गर्म अर्थात् द्वन्द्वातीत है।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– तां भक्तिमाश्रित्य चिदर्कस्य ते सम्बन्धि परमममृतं परं शाक्तं धाम, गच्छेयं समाविशेयम्, यच्छैशिरग्रैष्मबाह्यार्कधाम वैलक्षण्याच्छीतमुष्णं च न भवति, अपि तु मोहदाहप्रकाशाह्लादकृदग्नीषोमात्म।

अनुवाद– उसी (पूर्ववर्णित) परा-भक्ति का आश्रय लेकर मैं (श्रीसाम्ब) आप चित्-सूर्य के साथ सम्बन्धित 'परम-अमृत' अर्थात् लोकोत्तर शाक्त-धाम, जोकि शिशिर-ऋतु और ग्रीष्म-ऋतु के (क्रमशः) ठन्डे और तपते हुए बाहरी स्थूल सूर्यमण्डल से नितरां विलक्षण होने के कारण न तो शीत और न गर्म (द्वन्द्वों के पचड़े से अतिगत) है, में समाविष्ट[१] हो जाऊँ। यह (परम-अमृतधाम) तो उलटा मोह को जलाने और प्रकाशानन्द (शिव-शक्ति-संघट्ट) की अवस्था को उभारने के कारण 'अग्नीषोममय[२]' अर्थात् परमेश्वर इच्छा-ज्ञान-क्रिया (अथवा प्रकाश-विमर्श) का समरसीभाव है।

मूलग्रन्थ– कीदृशीं ताम्? गृहे शून्ये वेश्मनि श्रियमिव-सम्पूर्णभोगप्रदत्वात्; प्रवासे रिक्तबन्धुदेशे कामधेनुमिव–चिन्तितमात्राभीष्ट फल प्रदत्वात्; ध्वान्ते गाढतमसि भातिमिव–पूर्णप्रथाहेतुत्वात्; वने गहनपर्वतादौ धृतिमिव– विश्रान्तिहेतुत्वात्; योजने परशिवात्मैक्यावेशे ब्रह्मनाडिं सुषुम्नाम् (इव) – परमोपायत्वात्; विषमविषया एव ग्राहा भीषणा जलचरा यत्र तादृशे संसारसमुद्रे नावमिव– उत्तारकत्वात्।

अनुवाद– कैसी पराभक्ति (का आश्रय लेकर ? इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हैं:—) जोकि सारे (भुक्ति-मुक्तिरूपी) सुखभोगों को प्रदान करने के कारण– सूने घर में आई हुई लक्ष्मी जैसी; मात्र चिन्ता करने से ही मनचाहे फलों का वितरण करने के कारण— बन्धुजनों से रहित विदेश में मिली हुई कामधेनु जैसी; अविकल रूप में स्वरूपप्रत्यभिज्ञान को उजागर बनाने के कारण– प्रगाढ़ अन्धेरे में पाई हुई मशाल जैसी; आत्मिक विश्रान्ति को उपजाने का हेतु होने के कारण— घने बीहड़ में धीरता जैसी; परम उत्कृष्ट (शांभव) उपाय होने के कारण— परमशिवभाव के साथ एकाकारता का आवेश उपजाने में सुषुम्ना-नाडी जैसी और पार उतरवाने के कारण— आत्मा का हनन करने वाले विषयरूपी भयावह जल-जन्तुओं से भरे पड़े संसार सागर में मिली हुई नैया जैसी है ॥

टिप्पणियां

१. इस पद्य में शांभव उपासनाक्रम को प्रस्तुत किया गया है। इस उपासनाक्रम की गरिमा को दृष्टिपथ में रखकर मूल 'गच्छेयम्' क्रियापद, जिसका पर्याय क्षेमराज ने 'समाविशेयम्' दिया है, का 'जाना या प्रवेश करना' इन शब्दों में अनुवाद करना कुछ रुचिकर जैसा नहीं लगता है। जैसा कि पहले भी समझाया गया है कि शैवसन्दर्भ में परमशिवभाव के साथ कायिक, वाचिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक एकाकारता अर्थात् परिपूर्ण तन्मयीभाव ही समावेश का सार है। इसी कारण से यहां पर अनुवाद करते समय किसी अन्य उपयुक्त शब्द को न पाकर 'समाविष्ठ' इसी शब्द को यथावत् रूप में रहने दिया है।

२. जैसा कि पहले भी सङ्केत दिया गया है कि भिन्न भिन्न उपायक्रमों में 'अग्नीषोम' शब्द से भिन्न भिन्न अभिप्राय लिये जाते हैं। शाम्भव-उपाय के स्तर पर इससे प्रकाश-विमर्श के संघट्ट अर्थात् इच्छा-ज्ञान-क्रिया की मौलिक समन्विति का अभिप्राय लिया जाता है। शाक्त उपाय के स्तर पर इस से प्राण एवं अपान का अर्थ लिया जाता है जैसा कि आगे के पद्य में स्पष्ट होगा।

श्लोक १९

मूलश्लोक

अग्नीषोमावखिलजगतः कारणं तौ मयूखैः
सर्गादाने सृजसि भगवन् ह्रासवृद्धिक्रमेण।
तावेवान्तर्विषुवति समौ जुह्वतामात्मवह्नौ
द्वावप्यस्तं नयसि युगपन्मुक्तये भक्तिभाजाम्॥

अन्वय– हे भगवन् ! अग्नी-षोमौ अखिल-जगतः कारणं (स्तः), तौ मयूखैः सर्ग-आदाने ह्रास-वृद्धि-क्रमेण सृजसि, तौ एव समौ अन्तर्-विषुवति आत्म-वह्नौ जुह्वतां भक्तिभाजां मुक्तये द्वौ अपि युगपत् अस्तं नयसि।

अनुवाद– हे भगवान् ! 'अग्नी-षोम' अर्थात् प्राण-संचार एवं अपान-संचार समूचे जगत (जड़-चेतनमय) के जीवनाधार हैं। आप अपनी चैतन्य की किरणों के द्वारा इन दोनों की घटौती और बढ़ौती के क्रम को अपना कर 'सर्ग' अर्थात् प्राणचार के रूप में बाहर छोड़ने और 'आदान' अर्थात् अपान-चार के रूप में अन्दर ले जाने की क्रियात्मकता को निभाने के हेतु इनको उत्पन्न करते हैं। दूसरी ओर उन भक्तजनों, जोकि (आंतरिक प्राणीय) विषुवत्-काल पर, उदानप्राण की आग में (प्राणाभ्यास के द्वारा) इन दोनों की लगातार आहुति देते रहते हैं, को मुक्ति देने के लिए, युगपत् ही दोनों को अस्त भी करते हैं (अर्थात् सर्वव्यापक व्यानरूप में - सर्वातीत तुरीयातीतभाव में, सदा-सर्वदा के लिए लय कर देते हैं)।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– हे भगवन् ! अखिलस्य बाह्यस्य नीलसुखादेर्ग्राह्यरूपस्य, आन्तरस्य च ग्राहकरूपस्य देहादेर्जगतो यावग्नीषोमौ सर्ववाहवाही प्राणोऽपानश्च प्रकाशन-अवस्थान-हेतुत्त्वात् कारणम्।

अनुवाद– हे भगवान चित्-सूर्य ! बाहरी 'नील[१]' अर्थात् आंख इत्यादि पांच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नीले, पीले स्थूल घट, पट इत्यादि और 'सुख' अर्थात् तीन अन्तःकरणों के द्वारा संवेद्य सुखिता इत्यादि विषयों के रूपवाले जड़, और इन विषयों का ग्रहण करने वाले भीतरी जीवात्मा के रूपवाले चेतन– कुल मिलाकर काया इत्यादि के रूपवाले जगत[२] के मूलकारण 'अग्नीषोम' अर्थात् सारी प्राणवाहिनियों में सञ्चार करने वाले प्राण एवं अपान हैं। इसका कारण यह है कि ये ही दो उसको (कायीय जगत् को) बहिरङ्ग दशा में प्रकाशित करते हैं और स्थिति भी प्रदान करते हैं।

मूलग्रन्थ– तौ प्रसिसृक्षा-प्रविविक्षात्म-सर्ग-आदान-समये वस्त्वा-भासनविमर्शात्म-सृष्ट्यादौ, तन्निमितश्च, ह्रास-वृद्धि-क्रमेण द्वादश-षोडश-कला-कलनपर्यायतो मयूखैः सृष्ट्यादिदेव्यात्मनिजमरीचिभिः सृजसि मुहुर्मुहुर्निर्मिमीषे।

अनुवाद– आप अपनी सृष्टि-देवी[३] इत्यादि प्रकार के रूपों वाली चित्-शक्तिमय किरणों के द्वारा इन दोनों का क्रमशः—

(क) - प्राण)

(भीतरी हृदय से) बाहरी द्वादशान्त की ओर प्राण-शक्ति के सरकाने की इच्छा के रूपवाले सर्ग[४] अथवा (पारिभाषिक भाषा में) भीतरी वस्तुतत्त्व का बाहरी अवभासन करने के रूपवाली सृष्टि की प्रक्रिया में (तुटियों की) घटौती[५] करने के क्रम को अपना कर–

(ख - अपान)

(बाहरी द्वादशान्त से) भीतरी हृदय की ओर सरकाने की इच्छा के रूपवाले आदान अथवा (पारिभाषिक भाषा में) बाहरी वस्तुतत्त्व को भीतरी विमर्श में बिठाने के रूपवाले संहार की प्रक्रिया में (तुटियों की) बढोत्तरी करने के क्रम को अपना कर–

बारह कलाओं[६] वाले (अग्नि-सूर्यरूपी) प्राणसञ्चार और सोलह कलाओं[७] वाले (षोम= सोमरूपी) अपानसञ्चार इन दो क्रमिक रूपों में, बार बार अभ्युत्थान करवाते रहते हैं।

मूलग्रन्थ– तावेव च भक्तिभाजामन्तर्विषुवति सम्यङ् नयनात्म-समानमरुत्प्रधाने कुम्भके, समौ सोमसूर्यकलान्योन्यसंघर्षमिश्रितौ सन्तावात्मव ह्यावुदानवह्नौ जुह्वतां, मुक्तये शिवात्मभेदप्रथारूपाणवादिमलत्रय-प्लुष्टो-पलक्षितशिवाद्वैतप्राप्तये, द्वावपि युगपत्क्रमं (युगपदक्रमं) मयूरखैरेवास्तं नयसि विश्वात्मकव्यानव्याप्तिमाविश्य ज्ञानक्रियात्मपराग्नीषोमरूपस्वात्ममयौ संपादयसि।

अनुवाद– ऐसे भी भक्तजन हैं जो (प्राणाभ्यास की प्रक्रिया में) आन्तरिक विषुवत[८] वेला पर, (प्राण एवं अपान के स्वाभाविक तिरछे[९] संचरण के स्थान पर) सीधा संचार करने वाले समान-प्राण की प्रधानता से युक्त कुम्भक अवस्था में तुल्यबल बने हुए अर्थात् सोम= अपान की

सोलह कलाओं और सूर्य= प्राण की बारह कलाओं के पारस्परिक संघर्ष की 'मिश्रित' अर्थात् प्रतिद्वन्द्विता से रहित समान बलवत्ता की अवस्था पर पहुँचे हुए इन दोनों (प्राणापान) की आहुति (मध्यधाम में अजस्र-ज्वलनशील) उदान-प्राण[१०] की आग में डालते रहते हैं। उन भक्तजनों को 'मुक्ति देने के लिए' अर्थात् उनको उस शिवमयी अभेद भूमिका पर पहुंचाने के लिए, जो कि शिवरूपी विश्वात्मभाव से अपने आप को भिन्न समझने के रूपवाले आणव इत्यादि तीन मलों का दाह हो जाने पर स्वयं ही अनुभव में आ जाती है, आप उन्हीं चित्-शक्तिमयी किरणों के द्वारा, इन दोनों को (प्राण-अपान को) एक साथ ही सदा के लिए अस्त कर देते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि (उनके प्राणापान को) विश्वव्यापी व्यान[११] की असीम व्यापकता में विलीन करके निजी 'अग्नीषोममय' अर्थात् ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्तिमय स्वरूप के साथ (सदा के लिए) एकाकार बना देते हैं।

टिप्पणियां

१. पहले भी समझाया गया है कि नील और सुख शैवशास्त्र का पारिभाषिक शब्दयुग्म है। इनमें से 'नील' के द्वारा बाहरी पांच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले ठोस प्रमेय पदार्थों, और 'सुख' के द्वारा केवल अन्तःकरणों के द्वारा अनुभव किये जाने वाले सुख, दुःख, हर्ष, क्रोध इत्यादि प्रमेय विषयों का अभिप्राय है।

२. एक जीवित काया भी अपने स्थान पर एक पूरा जगत् समझी जाती है। इसमें भौतिक कायीय ढांचा, प्राण, बुद्धि, पुर्यष्टक एवं शून्य, यहां तक का सारा विस्तार जड़ प्रमेयभाग, और इनमें बैठा हुआ जीवात्मा चेतन प्रमाताभाग माना जाता है।

३. परमशिवमयी परा-शक्ति मूलतः अनन्त रूपों में और मुख्यतः बारह रूपों में जगत की सृष्टि, स्थिति करती रहती है। पारमेश्वरी शक्ति के इन मुख्य-बारह रूपों का वर्णन तंत्रालोक, स्वच्छन्द इत्यादि चोटी के आगमग्रन्थों में निरूपित द्वादश-काली के रूप में किया गया है। इन्हीं को पारिभाषिक रूप में परमपुरुष का शक्तिमरीचिचक्र कहा जाता है।

४. सर्ग और आदान ये दो प्राणाभ्यास के साथ सम्बन्धित शास्त्रीय शब्द हैं। दैनिक जीवनव्यवहार के सन्दर्भ में आन्तरिक हृदयमंडल से

अभ्युत्थित होकर बाह्य-द्वादशान्त तक के प्राण-सञ्चार को 'सर्ग' अर्थात् सृष्टि, और बाह्य-द्वादशान्त से अभ्युत्थित होकर आन्तरिक हृदयमंडल तक के अपान-सञ्चार को आदान अर्थात् ग्रहण या संहार कहते हैं। योगक्रम के सन्दर्भ में इन दो शब्दों से क्रमशः इस प्रकार के अभिप्राय लिये जाते हैं। (१) आन्तरिक विमर्शभूमिका में विमर्शरूप में ही अवस्थित प्रमेयवर्ग का प्राणसञ्चार के द्वारा बाहरी स्थूल प्रमेयरूप में अवभासन को सर्ग= विसर्ग= सृष्टि, और बाहरी स्थूलरूप में अवभासमान प्रमेयवर्ग का अपानसञ्चार के द्वारा आन्तरिक विमर्शभूमिका में लयीकरण को आदान= ग्रहण= संहार कहते हैं। इस प्रकार दोनों रूपों में प्राणशक्ति अन्तः का बहिः और बहिः का अन्तः के साथ प्रतिक्षण सम्बन्ध जुड़ा देती है। अन्तः-बहिः सम्बन्ध ही जीवन की प्रक्रिया का मूल रहस्य है।

५. प्राणापान संचार में क्रमशः तुटियों का ह्रास-वृद्धि-क्रम चलता रहता है। इस विषय पर पहले भी थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला जा चुका है। तात्पर्य यह कि बाह्य-द्वादशान्त से चन्द्रमा अर्थात् अपानचार का अभ्युत्थान एक कला के रूप में आरम्भ होता है। प्रति सवा दो अङ्गुल के चार पर इसकी एक एक तुटि (कला) की वृद्धि होते होते यह हृदयमंडल पर पहुंच कर पूरी सोलह कलाओं (तुटियों) वाला पूर्णिमा का चन्द्रमा बन जाता है। इसको प्राणीय वृद्धिक्रम कहते हैं।

दूसरी ओर आन्तरिक हृदयदेश से सोलह कलाओं वाले पूर्ण चन्द्रमा अर्थात् प्राणचार का आरम्भ होता है। प्रति सवा दो अङ्गुल के चार पर इसकी एक एक तुटि (कला) का ह्रास होते होते यह बाह्य-द्वादशान्त पर पहुंच कर केवल एक कला (तुटि) के अवशेष वाला अमावस्या का चन्द्रमा बन जाता है। अवशिष्ट एक कला कभी भी नष्ट न होने वाली अमाकला कहलाती है। यह प्राणीय ह्रासक्रम कहलाता है। इसी प्रक्रिया के अनुसार अपानचार को प्राणीय शुक्लपक्ष और प्राणचार को प्राणीय कृष्णपक्ष कहते हैं। प्राणीय चन्द्रमा की कलाओं का यह ह्रास-वृद्धि-क्रम अलक्षित रूप में हरेक प्राणी के श्वास-प्रश्वास में चलता रहता है। शैव-योगियों के लिए इसकी विशेष उपयोगिता होती है जिसको शैवागमों में भली-भान्ति समझाया

ही तो गया है, परन्तु सिद्धगुरुओं के मौखिक उपदेश के बिना हृदयङ्गम नहीं हो सकती है।

बाहरी स्थूल चन्द्रमा की कलाओं का भी ह्रास-वृद्धि-क्रम चलता ही रहता है जिसमें कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष एवं पूर्णिमा तथा अमावस्या बन जाते हैं।

६. प्रक्रियाशास्त्रों के अनुसार प्राणीय सूर्य की बारह कलायें इस प्रकार हैं—

प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय इनमें से प्रत्येक के उद्योग, अवभास, चर्वण और विलापन ये चार चार सोपान कुल मिलाकर बारह कलायें। ये बारह कलायें ऋ, ॠ, लृ, ॡ इन चार स्वरवर्णों को छोड़ शेष बारह स्वरवर्णों के द्वारा द्योत्य हैं।

७. प्राणीय चन्द्रमा की सोलह कलायें इस प्रकार हैं—

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति इनमें से प्रत्येक के उद्योग अवभास, चर्वण और विलापन ये चार चार रूप कुल मिलाकर सोलह कलायें। ये कलायें ऋ, ॠ लृ, ॡ इन चार स्वरवर्णों के समेत सारे सोलह स्वरवर्णों के द्वारा द्योत्य हैं।

स्मरण रहे ये सूर्य की बारह और चन्द्रमा की सोलह कलायें और प्राणाभ्यास क्रम में इनकी उपयोगिता इत्यादि बातों की पूरी जानकारी शैव-योग के मूल प्रक्रियाशास्त्रों का गहरा अध्ययन करने से ही समझ में आ सकती हैं। परात्रिंशिका, तन्त्रालोक, स्वच्छन्द इत्यादि आगमग्रन्थों में इनकी विस्तृत मीमांसा आचार्यों ने प्रस्तुत करके रखी है। इच्छुक पाठक वंही से इन सारी बातों का अध्ययन करें।

८. आन्तरिक हृदयावकाश पर अपानचार समाप्त और प्राणचार अभ्युत्थित होता है। जैसा कि पहले भी कहा गया है इस अपान की समाप्ति और प्राण के अभ्युत्थान के अन्तराल में आधी तुटि का विश्रान्तिकाल होता है। यह इन दोनों का मध्यवर्ती एक ऐसा सन्धिकाल होता है जिसमें प्राण एवं अपान दोनों नहीं होते हैं अतः चित्-शक्ति की प्रकाशमानता स्पष्टतम रूप में अवभासमान होती है। इस सन्धिकाल को प्राणीय विषुवत् काल कहते हैं। विशिष्ट प्राणाभ्यासी लोग इसी सन्धि में गुरुमुख के अनुसार

प्राणापान को समान बनाकर पुरीतती के मार्ग से मूलाधार में प्रवेश करवाने में सफल हो जाते हैं। बाह्य-द्वादशान्त पर भी ऐसी ही सन्धि की तुटि होती है। उसको अभिजित् कहते हैं। मुमुक्षु साधक तीव्रतम अवधान से इन्हीं दो कालों का प्रयोग करके स्वरूप-साक्षात्कार पा लेते हैं। गुरु लोग भी शिष्य को दीक्षित करते समय उसमें निजी शुद्ध-चैतन्य का संक्रमण करने के लिए इन्हीं दो कालों का चयन करते हैं। कारण केवल इतना है कि ये और ऐसे ही अन्य सन्धिकाल प्राणापान के क्षोभ से रहित और निर्मल चित्-स्वरूप की स्पष्ट अवभासमानता से युक्त होते हैं।

९. साधारण प्राणापान-संचार में प्राणवायु की गति कुटिल अर्थात् तिरछी अथवा दायें-बायें की प्राणवाहिनियों में छितराती हुई ही प्रवेश-निर्गम करती है। इसी से साधारण जीवन चलता है। योगाभ्यासियों को तो प्राणापान के इस तिरछे संचार को प्राणाभ्यास की प्रक्रिया से रोक कर दोनों को मध्यनाडी में प्रवेश करवाना अभिप्रेत होता है। कुटिलगति में इनका प्रवेश कदापि संभव नहीं होता है। अतः वे लोग कुम्भक का अभ्यास करके पहले इन दोनों को 'समान-प्राण' अर्थात् तुल्यबल एवं सीधी गतिवाली सूक्ष्म प्राणशक्ति में परिवर्तित करके ब्रह्मनाडी में प्रवेश करवाते हैं। कुम्भक के अभ्यास से प्राणशक्ति स्वयं ही कुटिल गति को छोड़कर सीधी गति में मूलाधार की ओर प्रवाहित होने लगती है।

१०. प्राण शक्ति, योगाभ्यास और अनथक साधना से, सूक्ष्म समान-प्राण बनकर मूलाधार में प्रवेश करने के उपरान्त और भी निरन्तर अभ्यास से स्वयं ही सूक्ष्मतर उदान-प्राण का रूप धारण कर लेती है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि स्थूल प्राण एवं अपान उदान-प्राणरूपी आग में विलीन हो जाते हैं। उदान प्राणशक्ति का वह रूप है जो मध्यनाडी में कुण्डलिनी शक्ति के साथ उर्ध्वगति पकड़ कर षट्चक्रों का भेदन करके ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंच जाता है। इसी अवस्था को शाक्त-धाम अथवा तुरीयाभाव में प्रवेश पाना कहते हैं। यह बहुत ही कठिन साधना एवं अनथक अभ्यास का विषय है। अभ्यास की परिपक्वता प्राप्त होने में अनेक जन्म भी लग सकते हैं। अपरिपक्वता की अवस्था में साधक को समाधिकाल में

सच्चिदानन्दस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान तो हो जाता है परन्तु व्युत्थान में आते ही मायीय आवरण फिर घेर लेता है।

११. व्यान से सूक्ष्मतम एवं विश्वव्यापिनी प्राणशक्ति का अभिप्राय है। तुरीयाभाव में प्रवेश पाने के उपरान्त निरन्तर अभ्यास के द्वारा जब साधक को उस शाक्तभाव पर स्थिर रहने की पूर्ण अधिकारिता अथवा अडिग अधिकारिता प्राप्त होती है तब उसकी प्राण-शक्ति सूक्ष्मतम व्यान का रूप धारण करके विश्वात्मभाव को ग्रहण कर लेती है। उस अवर्णनीय आत्मिक अनुभूति को तुरीयातीत परमशिवभाव में परिपूर्ण लयीभवन कहा जाता है। यह विषय तो लिखा-पढ़ी-वेद्य नहीं प्रत्युत परमेश्वर की तीव्रतम अनुकम्पा से उन्मिषित स्वसंवेदन से वेद्य है। कम से कम आज की प्रचलित 'योग' की नही, प्रत्युत 'योगा' की सस्ती दूकानों से यह तरकारी उपलब्ध नहीं हो सकती है।

श्लोक २०

मूलश्लोक

स्थूलत्वं ते प्रकृतिगहनं नैव लक्ष्यं ह्यनन्तं
सूक्ष्मत्वं वा तदपि सदसद्व्यक्त्यभावादचिन्त्यम्।
ध्यायामीत्थं कथमविदितं त्वामनाद्यन्तमन्त-
स्तस्मादर्क प्रणयिनि मयि स्वात्मनैव प्रसीद॥

अन्वय– ते प्रकृति-गहनं स्थूलत्वं हि अनन्तं नैव लक्ष्यं, वा सूक्ष्मत्वं तद् अपि सद्-असद्-व्यक्ति-अभावात् अचिन्त्यम्, इत्थं त्वाम् अनादि-अन्तम् अन्तः कथं ध्यायामि? (हे) अर्क ! तस्मात् मयि प्रणयिनि स्वात्मना एव प्रसीद।

अनुवाद– हे भगवान चित्सूर्य ! आपके स्वरूप की 'स्थूलता' अर्थात् सर्वव्यापकता स्वाभाविक रूप से अगम्य और निश्चित रूप से असीम होने के कारण (सङ्कुचित इन्द्रियबोध के द्वारा) परिलक्षित नहीं हो सकती है। रही बात आपकी सूक्ष्मता की वह भी साकारता और निराकारता इन दो में से किसी एक की भी सम्यक् प्रतीति न हो सकने के कारण अचिन्त्य

है, ऐसी परिस्थिति में मैं आपके आदि एवं अन्तहीन और सर्वथा अज्ञात स्वरूप का ध्यान कैसे कर सकता हूँ ? अत: (हे देव) मुझे अपना निकटतम प्राणयी समझ कर आप मुझ पर स्वयं ही प्रसन्न हो जायें।

टिप्पणी

१. अपने इष्ट आराध्य के चरणों में, कायिक वाचिक, मानसिक अर्थात् सर्वाङ्गीण स्वात्मसमर्पण करने वाला भक्तजन।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे अर्क, ते तव स्थूलत्वं विश्वव्यापकत्वं प्रकृत्या गहनत्वान् नैव लक्षयितुं शक्यं यस्मादनन्तं दिक्कालाकारैरनवच्छिन्नम्।

अनुवाद— हे चित्-सूर्यदेव! आपकी स्थूलता अर्थात् विश्वभर में व्यापकता स्वाभाविक रूप से अत्यन्त गहन होने के कारण किसी भी प्रकार परिलक्षित नहीं हो सकती है। कारण यह कि यह इतनी असीम है कि देश, समय और आकार-प्रकार की इयत्तायें इसको अवच्छेदों में नहीं डाल सकती हैं।

मूलग्रन्थ— सूक्ष्मत्वमपि वा "अणोरणीयान्" इत्येतद्व्याख्यानावसर-व्याकृतयुक्त्या परप्रमात्रात्म यत्, तदपि सदसद्व्यक्त्यभावाद् भावाभावरूपत्वेन अप्रतीतेरचिन्त्यम्।

अनुवाद— दूसरी ओर आपकी स्वरूपगत सूक्ष्मता, जो कि (पिछले श्लोकाङ्क १२ के) "अणोरणीयान्" इस शब्द के व्याख्यान में परमाणु से भी छोटी और मात्र स्वयंप्रकाशमान चित्-प्रमाता के साथ एकाकार सत्ता के रूपवाली बताई गई है, भी चिन्तन का विषय नहीं बन सकती, क्योंकि (स्थूल इन्द्रियबोध के द्वारा) उसकी साकारता या निराकारता सिद्ध न होने के कारण उसके भावरूप (घटादि की तरह) या अभावरूप (सुखादि की तरह) होने के विषय में स्पष्ट प्रतीति होने नहीं पाती है।

मूलग्रन्थ— तदित्थमनाद्यन्तत्वादविदितं त्वां कथमन्तः स्वान्ते चिन्तयामि? न कथञ्चित्।

अनुवाद— ऐसी परिस्थिति में आपके अनादि और अन्तहीन स्वरूप की जानकारी न होने के कारण मैं अपने (सङ्कोचों से पूर्ण) अन्तस् में

आपका चिन्तन कैसे कर सकता हूँ? निश्चयपूर्वक मैं किसी भी प्रकार से नहीं कर सकता हूँ।

मूलग्रन्थ—तस्मान्मयि प्रणयिनि त्वत्प्रार्थनावहिते स्वयमेव प्रसीद-प्रशमित-देहादि-प्रमातृताभिमान-कालुष्यः प्रस्फुर।

अनुवाद— अतः (हे चिद्-देव!) आप मुझ 'प्रणयी अर्थात् समाहित मन से प्रार्थना करने वाले, पर स्वयं ही अनुग्रह करें— तात्पर्य यह कि आप स्वयं मेरे अन्तस् में शरीर इत्यादि पर ही आत्म-अभिमान रखने की कालिख को पोत कर (निर्मल चित्-रूप में) स्पन्दायमान बन जाएँ।

श्लोक २१

मूलश्लोक

यत्तद्वेद्यं किमपि परमं शब्दतत्त्वं त्वमन्त-
स्तत्सद्व्यक्तिं जिगमिषु शनैर्लाति मात्रा-कलाः खे।
अव्यक्तेन प्रणववपुषा बिन्दुनादोदितं सच्छ-
ब्द ब्रह्मोच्चरति करणव्यञ्जितं वाचकं ते॥

अन्वय— यत् किम् अपि त्वं, तद् अन्तः परमं शब्दतत्त्वं वेद्यम् तत् सद्व्यक्तिं जिगमिषु खे मात्रा-कलाः शनैः लाति; बिन्दु-नाद-उदितं करणव्यञ्जितं सत् शब्दब्रह्म अव्यक्तेन प्रणववपुषा उच्चरति; तत् ते वाचकम् (अस्ति)।

अनुवाद— (अनाख्य पराभूमिका पर) जो 'कुछ भी' अर्थात् लोकोत्तर एवं अवर्णनीय आपका स्वरूप है वह उस अन्तर्मुखीन भूमिका पर परम उत्कृष्ट 'शब्द-तत्त्व' अर्थात् समूचे शब्दब्रह्म की मौलिक अविभागमयी अवस्था 'वेद्य' अर्थात् स्वयंसिद्ध एवं शाश्वत रूप में स्पन्दायमान है। वह अपनी 'सद्व्यक्ति' अर्थात् बहिर्मुखीन अभिव्यञ्जना का रूप ग्रहण करने की इच्छा से उस चिदाकाश में ही 'मात्रा' अर्थात् अकार, उकार, मकार (ओं) इन तीन मात्राओं के रूपवाली 'कला' अर्थात् विमर्शशक्तियों को शनैः शनैः ग्रहण करता है। (फिर पश्यन्ती भूमिका पर अवरोह करके) वही बिन्दु-नाद (प्रकाश-विमर्श) से उदित और (दिव्य) करणबन्ध से अभिव्यञ्जित होता हुआ शब्द-ब्रहा (सत् शब्द से वाच्य ब्रह्म) अव्यक्त प्रणव की स्पन्दना के

रूप में स्वयं उच्चरित होता है। वही (शब्दब्रह्म) आपके स्वरूप का वाचक है।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– यत्किमप्यसामान्यं त्वं, तदन्तरित्यन्तर्मुखानवच्छिन्न प्रकाशात्मनि पदे, शब्दतत्त्वमिति–"शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं शब्दो हंसः प्रकीर्तितः" इति श्रीस्वच्छन्दादिष्टानाहतभट्टारकरूपं, परममिति परमोत्कृष्टं, यदुक्तं श्रीकालोत्तरे–

"नादाख्यं यत्परं बीजम्" इति, वेद्यमिति सुप्रकटसुस्फुरत्तात्मकत्वादनपह्नवनीयं, न तु विदि क्रिया कर्मात्मकम्, यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—"यस्य रूपं शरीरं वा नास्ति वर्णः क्रिया तथा। स कथं गृह्यते सूक्ष्मो ह्यग्राह्यो नित्यमव्ययः॥"

श्रीभर्गशिखायामपि—

"नैष वर्णो न वा शब्दो न चैवायं कलात्मकः।
केवलः परमानन्दो वीरो नित्योदितो रविः॥
नास्तमेति न चोदेति न शान्तो न विकारवान्।
सर्वभूतान्तरचरो भानुर्भर्ग इति स्मृतः॥"

अनुवाद– (हे भगवान चित्-सूर्य देव!) आप 'जो कोई भी' अर्थात् अलोकसामान्य एवं अवर्णनीय स्वरूप हैं, वह 'तत्' इस अखण्डवचन के द्वारा गम्य और अन्तर्मुखीन अखण्ड ज्योतिर्मय भूमिका पर अवस्थित 'शब्दतत्त्व' अर्थात् परिपूर्ण शब्दब्रह्म का मूलभूत उद्गमस्थान हैं। श्री स्वच्छन्दतन्त्र के—

"सारा वाङ्मय 'शब्दात्म' अर्थात् पारमेश्वर-विमर्श का स्पन्दन है, और 'शब्द' से 'हं-सः = अहं-सः' इस महामन्त्र का अभिप्राय जताया गया है।"

इस आदेश के अनुसार उसका स्वरूप गारिमाशाली अनाहत-नाद है। श्री कालोत्तर के —

"जो 'नाद' अर्थात् स्वरूपविमर्शमय परनाद (सारे असीम शब्द ब्रह्म का) परम उत्कृष्ट बीजरूप है।" इस कथन के अनुसार वह 'परम उत्कृष्ट' अर्थात् विभागों की कल्पना से अतिगत पराभूमिका पर स्थिर रहने वाला

तत्त्व है। वह 'वेद्य है' अर्थात् (योगिजनों को) स्पष्टतया अनुभव में आने वाले विशेष स्पन्दन के रूपवाला होने के कारण कभी भी अपलाप का विषय नहीं बन सकता है। यहां पर इस 'वेद्य' शब्द से जानने की क्रिया के कर्म (अर्थात् किसी ज्ञेय पदार्थ) का अभिप्राय कतई नहीं है। जैसा कि श्रीस्वच्छन्द में—

"जिसका कोई आकार या शरीर नहीं और जो न तो वर्ण है और न कोई क्रिया, उसका ग्रहण (स्थूल इन्द्रियबोध से) किस प्रकार किया जा सकता है? वास्तव में वह परमतत्त्व सूक्ष्म (स्थूल बुद्धि से) ग्रहण करने के अयोग्य, नित्य एवं अनश्वर अथवा अपरिवर्तनशील तत्त्व है।

और श्रीभर्गशिखा में—

वह (अनाहतभट्टारक) अक्षर, शब्द या किसी मात्रा के रूपवाला नहीं है। वह तो एकला, परम आनन्दरूप, वीर अर्थात् शक्तिचक्र का शासक और चिदाकाश में नित्य उदीयमान चित्-सूर्य है।

उसका न कभी अस्त होता है और न उदय, वह न तो शान्त (निश्चल, निःस्पन्द) है और न परिवर्तनशील। वह प्रत्येक प्राणी के अन्तस् में विचरण करने वाला चित्-सूर्य है और उसका नाम भर्ग कहा गया है।" समझाया गया है।

मूलग्रन्थ— तदेतत्परब्रह्मात्म शक्तिमद्रूपम्। सद्व्यक्तिं जिगमिष्विति—

"ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।" इति स्थित्या शक्त्यात्मब्रह्मरूपतां जिघृक्षुः, खे सुषुम्नाधाम्नि, अकारोकारमकारादिमात्रारूपाः कला विमर्शशक्तीः, शनैः शनैः क्रमेण लाति ग्रहणाति।

अनुवाद— वही 'तत्' शब्द से वाच्य (अन्तर्मुखीन विश्वोत्तीर्ण) परब्रह्मरूपी शक्तिमान् (चित्शक्तिमय परमशिव) 'सत्' अर्थात् बहिर्मुखीन विश्वमय रूप में अपने स्वरूप की अभिव्यञ्जना की ओर उन्मुख होने की अवस्था में अर्थात्—

ओं-तत्सत्— यह (अखण्ड बुद्धि से ग्राह्य) महावाक्य एक ही परब्रह्मसत्ता का तीन प्रकार से निर्देश बताया गया है।"

इस परिस्थिति के अनुसार शक्तिमय परब्रह्मरूप को अपनाने की इच्छा से, सुषुम्नाधाम के अन्तर्वर्ती चिदाकाश में ही धीरे धीरे अकार, उकार, मकार इत्यादि मात्राओं के रूपवाली 'कलाओं' अर्थात् विमर्शशक्तियों का ग्रहण करता है— (अर्थात् बहिर्मुखीन शक्तिरूप में स्पन्दायमान होने लगता है— जैसा कि कालिदास ने कहा है— 'चन्द्रोदयारम्भ इवाम्भुराशिः'

मूलग्रन्थ—इत्थं शक्तिमच्चिदर्कावभासितशब्दब्रह्मभित्तौ, प्रणववपुषा ओंकारात्मना, अव्यक्तेन पश्यन्तीवाक्प्रधानेन रूपेण, न तु व्यक्तेन मध्यमादि वाग्भूमिकास्पृशा,

"प्रणवः सर्ववेदेषु . . . . . . ।"

इति स्थित्या क्रोडीकृताशेषवाच्यवाचकस्फारं शब्दब्रह्मोच्चरति स्वयं प्रवर्तते, न तूच्चार्यते।

अनुवाद— ऐसे अवरोह के तार को पकड़कर, 'शक्तिमान' अर्थात् प्रकाशात्मक परमशिवमय चित्-सूर्य के द्वारा आलोकित 'शब्दब्रह्म' अर्थात् परावाणी रूपी प्रकाशमय शब्दब्रह्म के आधार पर ही,—„

"सारे वेदों में प्रणव . . . . ।

इस स्थिति के अनुसार सारे 'वाच्यों' अर्थात् अर्थरूप प्रमेयों और 'वाचकों' अर्थात् उनको बतलाने वाले शब्दों के विस्तार को अपने गर्भ में लेकर, 'शब्द-ब्रह्म' अर्थात् परापरभूमिका अथवा शाक्तभूमिका पर अवस्थित शक्तिमय (सत् शब्द से वाच्य) शब्दब्रह्म, "व्यक्त' अर्थात् मध्यमा और वैखरी वाणियों के स्तर का स्पर्श करने के बिना, विशुद्ध पश्यन्तीवाणी की प्रधानता से युक्त (अर्थात् सूक्ष्म आत्मिक स्पन्दनमय) अव्यक्त[3] ओंकार के रूप में स्वयं उच्चरित होता है, किसी इतर सत्ता के द्वारा उच्चारित नहीं करवाया जाता है।

मूलग्रन्थ— कीदृक्?

बिन्दु-नादाभ्यां समस्तवेद्याभेदिवेदन— समस्तवाचकाभेदिपरामर्श रूपाभ्यामुदितम्।

सर्वोत्कृष्टगगनारूढं सत्कथं समुच्चरति? अत्र आगमिकीं युक्तिं स्मारयति— करणेन दिव्यकरणबन्धेन, न तु जिह्वामूलमध्यादिना व्यञ्जितं प्रकटीकृतम्। यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

"दिव्यं तु करणं कृत्वा तत्त्वस्योच्चारणं कुरु" इत्यादि।

यच्चैतत्, शब्दब्रह्मतत्त्वशक्तिस्वरूपरामर्शमुखैनैव ते वाचकं तत् (त्-वत्) स्वरूपामर्शकम्।

अनुवाद— (शङ्का) किस रूप में उच्चरित होता है ? (समाधान) 'बिन्दु' अर्थात् सारे (घट, पट आदि) प्रमेयों की भिन्नता में भी अभेदरूप में व्याप्त रहने वाले संवेदन (प्रकाश = ज्ञान), और सारे वाचक शब्दों की भिन्न आकारता में भी अभेद रूप में व्याप्त रहने वाले विमर्श— इन दोनों के यामलरूप में उदित होता है। (शङ्का) जब कि वह (शब्दब्रह्म) सब से उत्कृष्ट चिदाकाश में (शाश्वत रूप में) आरूढ ही है (अर्थात् सत् है) तो फिर इसके उच्चरित होने की सङ्गति कैसे बैठती है ?

इस शङ्का का समाधान करने के अभिप्राय से आगम शास्त्रों में वर्णित युक्ति की याद दिलाते हैं— (यहां पर उच्चरित होने से शब्दब्रह्म के नये सिरे से उत्पन्न होने का अभिप्राय नहीं है प्रत्युत—)

(शांभव अधिकारी सिद्धजनों को) दिव्यकरणबन्ध[४] के द्वारा (आत्मिक स्पन्दन के रूप में) इसकी अभिव्यञ्जना अर्थात् स्पष्ट साक्षात्कार होना ही इसका उच्चरित होना है, इसमें जीभ के मूल भाग, मध्यभाग इत्यादि के द्वारा शाब्दिक अभिव्यञ्जना का कोई सरोकार नहीं। जैसा कि श्रीस्वच्छन्द में—

"दिव्यकरणबन्ध (नामक शाम्भव-मुद्रा को) धारण करके ही परमतत्त्व का उच्चारण करना चाहिये" इत्यादि बातें कही गयी हैं।

और भी जो यह शब्दब्रह्मतत्त्व है, यह आपके शक्तिमय स्वरूप का विमर्श करवाने के द्वार (उपाय) से ही आपके स्वरूप (सर्वातीत प्रकाशमय स्वरूप) का 'वाचक है' अर्थात् उस स्वरूप का विमर्शमय साक्षात्कार करवा देता है।

टिप्पणियां

१. (क)— शैव आगमों में भिन्न भिन्न योगक्रमों का विश्लेषण करने के सन्दर्भों में 'हंस' शब्द की भिन्न भिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत की गई हैं। उदाहरणार्थ प्राणापानक्रम में 'हं' से कामतत्त्व (पारमेश्वरी इच्छाशक्ति) = प्राण और 'सः' से विषतत्त्व (पारमेश्वरी ज्ञान शक्ति) = अपान का अभिप्राय लिया जाता है। कामतत्त्व ही प्राण और विषतत्त्व ही अपान है। प्राण एवं

अपान दोनों की बलशालिता कल्पनातीत होती है। ये दोनों प्रतिसमय एक दूसरे को बलाक्रान्त करने की होड़ में लगे रहते हैं और इनके इस द्वन्द्व-संघर्ष को योगीजन केवल निजी आत्मबल से ही वश में ला सकते हैं। तन्त्रालोकविवेक में इनकी उपमा पहाड़ी भेडों के साथ की गई है जोकि आपस में दिनों तक द्वन्द्वयुद्ध करते रहते हैं और दोनों में से एक या दोनों की मृत्यु हो जाने पर ही वह द्वन्द्वयुद्ध समाप्त हो सकता है—

'स-हौ क्षपादिनामानावधरोत्तरचारिणौ।
परस्परद्वेषरतौ मतौ नगहुडूपमौ॥
कस्तौ रोधयितुं शक्तो वीर्यं मुक्त्वा स्वकं महत्।

(तं० आ० वि० खं० २ पृ० १६८-६९)

ख— प्रस्तुत प्रसङ्ग में, जैसा कि टीकाकार ने श्रीस्वच्छन्दतन्त्र के आधार पर स्पष्ट किया है, 'हंसः' इस महामन्त्र से समूचे शब्दब्रह्म के मौलिक बीज 'अहं सः = मैं अखण्ड ब्रह्मसत्ता हूँ' इस प्रकार अन्तस् में प्रतिक्षण स्वयं उच्चरित होते हुए स्वात्मप्रत्यभिज्ञानरूपी अनाहतनाद अर्थात् स्वरूप विमर्श के स्पन्दन का अभिप्राय है। इस परम उत्कृष्ट स्वाभाविक स्पन्दन का स्पष्ट आभास योगिजनों को निश्चित रूप से आन्तरिक रूप में हो जाता है अतः स्वसंवेद्य होने के कारण इसको सिद्ध करने के लिए शास्त्रीय प्रमाणवाक्यों को ढूँढ़ते रहने में कोई सार नहीं है।

२. 'ओं तत्सत्' यह अखण्ड महावाक्य, शाश्वत, असीम, विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों रूपो में एक साथ ही विलसती हुई और एक ही परब्रह्मसत्ता का वाचक होने के कारण केवल अखण्डबुद्धि से ही ग्राह्य है। प्रस्तुत श्लोक में श्रीसाम्ब ने इसी महामन्त्र की भागशः और अखण्डरूप में व्याख्या प्रस्तुत की है।

३. विभागों एवं इयत्ताओं की कल्पना से भी अतिगत परावाणी की भूमिका साक्षात् परमशिवमयी भूमिका है। वह सर्वातिशायी अनाख्यपद है और प्रकाश-विमर्श की समरसता ही उसका रूप है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि वह पद सर्वव्यापी चित्-शक्तिमय स्व-स्वभाव है। उसमें चित्ता के अतिरिक्त न कोई भाषा, न कोई शब्द, न कुछ कहना, न कुछ सुनना है। स्व-स्वभाव तो स्वात्मविमर्शमय अहंभाव है अतः उसकी

व्याख्या कौन, किससे और किस भाषा में कर सकता है? स्वात्मविमर्श ही स्वस्वभाव की कहा-सुनी और व्याख्या है और उसमें समूची तथाकथित विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता स्वात्मसंवेदन के ही रूप में वर्तमान है।

चित्-शक्ति होने के कारण स्वात्म-विस्तार अथवा स्वात्म-अभिव्यञ्जना भी उस पद का स्व-स्वभाव है। उसकी वह स्वात्म-अभिव्यञ्जना परापराभाव, जिसको दूसरे पारिभाषिक शब्दों में मन्त्रमहेश्वर अथवा सदाशिवभाव भी कहते हैं, पर अवस्थित पश्यन्ती-वाणी पर अवरोह करने पर ही सम्पन्न हो जाती है। पश्यन्ती-वाणी के स्तर पर ही शब्दब्रह्म के बहिर्मुखीन प्रसार के प्राथमिक-आभास अथवा प्राथमिक बहिर्मुखीन प्रसार के प्राथमिक-आभास अथवा प्राथमिक बहिर्मुखीन स्पन्दन का सूक्ष्मातिसूक्ष्म सूत्रपात होने लगता है। शब्दब्रह्म का वह प्राथमिक बहिर्मुखीन प्रसार अव्यक्त ओंकार के रूप में अर्थात् प्रणव की अकार, उकार, मकार इत्यादि ग्यारह मात्राओं के आन्तरिक विमर्शमय स्पन्दन के रूप में ही होता है। यह सारी आन्तरिक क्रियात्मकता स्व-स्वभाव होने के कारण निजी स्वभाव से ही सम्पन्न हो जाती है, किसी दूसरी अतिरिक्त सत्ता की प्रेरणा से नहीं। उसी को प्रणवमय शब्दब्रह्म का स्वयं उच्चरित होना अर्थात् स्वाभाविक रूप में स्वयं ही उन्मिषित होना कहते हैं। यहां पर यह कहना आवश्यक है कि वास्तव में पश्यन्ती-वाणी भी शब्द ब्रह्म के, अन्तर्मुखता के गर्भ में ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म बहिर्मुखीन, उन्मेष की अवस्था है।

शैव आगमों में प्रणव की– अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना— ये बारह मात्राएँ वर्णन की गई हैं। इनमें से बारहवीं उन्मना मात्रा ही अव्यक्त ओंकार की मात्रा है। सिद्धयोगी प्राणाभ्यास के द्वारा पहली ग्यारह मात्राओं को चिद्भाव में लय करने के उपरान्त ही बारहवीं उन्मनामात्रा अर्थात् अव्यक्त ओंकार की अनुभूति प्राप्त कर लेते हैं।

४. दिव्यकरणबन्ध शाम्भवयोगाभ्यास के लिए उपयुक्त एक विशेष प्रकार की मुद्रा का नाम है। श्रीस्वच्छन्दतन्त्र में इस शाम्भव मुद्रा का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया गया है—

"करणं तु ततः कृत्वा लक्षणं तस्य वै शृणु–
जिह्वा तु तालुके योज्या किञ्चिदूर्ध्वं न संस्पृशेत्॥
ईषत्प्रसार्य वक्त्रं तु किञ्चिदोष्ठौ न संस्पृशेत्।
दन्तपङ्क्ती तथैवेह दृष्टिश्चाधोर्ध्ववर्जिता॥
कायं समुन्नतं कृत्वा करणं दिव्यमुच्यते।

(स्व० तं० प० ४, २६५-२६७)

स्पष्ट ही इस वर्णन के अनुसार शाम्भवयोगाभ्यास करने वाले व्यक्ति को अपना शरीर सीधा रखकर जीभ की नोक को तालु के साथ इस प्रकार स्पर्श करके रखना है कि वह किसी दूसरे ऊपर वाले स्थान को स्पर्श न करने पाये। मुंह को इस प्रकार थोड़ा सा खुला रखना है कि होठों का आपस में स्पर्श न हो जाये। दांतों की पक्तियों को भी इस प्रकार खुला रखना है कि होठों का आपस में स्पर्शन हो जाये। दांतों की पक्तियों को भी इसी प्रकार खुला रखना है और दृष्टि को ठीक सामने की ओर इस प्रकार बांध कर रखना है कि उसका नीचे या ऊपर की ओर घूमना बिलकुल रुक जाये।

यह तो रहा इस मुद्रा के साथ सम्बन्धित कायिक विन्यास परन्तु इसके साथ कौन सा अभ्यासक्रम किस ढंग से अपनाना है इस विषय में शाम्भव-साधना के पूर्ण अधिकारी गुरुजनों के मौखिक उपदेश का अनुसरण करना ही अपेक्षित एवं श्रेयस्कर है। कविकुलगुरु कालिदास ने कुमारसंभव में इस शाम्भव-मुद्रा का कितना ही सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है—

"अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरङ्गम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्॥

इस पद्य में 'निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्' इतने से ही यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि साक्षात् शिवभाव पर पहुंचे हुए वरिष्ठ साधक ही ऐसे मुद्राक्रम और साधनाक्रम को अपनाने के अधिकारी हो सकते हैं। शैवागमों में भी—"शिवो भूत्वा शिवं यजेत"— इस वाक्य में यह बात समझाई गई है कि स्वात्म-प्रत्यभिज्ञानरूपी शिवसमावेश से शोभायमान सिद्धजन ही शाम्भव उपासनाक्रम के अधिकारी होते हैं क्योंकि भगवान शंकर की यथार्थ अर्चना वे ही भाग्यशाली व्यक्ति कर सकते हैं जो पहले स्वयं शिवभाव

पर पहुंचे हुए हों। भगवान उत्पलदेव के अनुसार ऐसे ही साधकवर्य यथार्थ में भक्तजन कहलाने के अधिकारी होते हैं—

"शिवो भूत्वा यजेतेति भक्तो भूत्वेति कथ्यते।
त्वमेव हि वपुः सारं भक्तैरद्वयशोधितम्॥"

(शि० स्तो० १, १४)

श्लोक २२

मूलश्लोक

प्रातः सन्ध्यारुणकिरणभागृङ्मयं राजसं यन्
मध्ये चापि ज्वलदिव यजुः शुक्लभाः सात्त्विकं वा।
सायं सामास्तमितकिरणं यत्तमोल्लासि रूपं
साह्नः सर्गस्थितिलयविधावाकृतिस्ते त्रयीव॥

अन्वय— (हे चिदर्क!) प्रातः-सन्ध्या-अरुण-किरण- भाक् यत् राजसं ऋङ्मयं, मध्ये च अपि ज्वलत् इव शुक्लभाः यत् सात्त्विकं यजुः, वा सायम् अस्तमितकिरणं यत् तमोल्लासि साम ते रूपं लासि, अह्नः सर्ग-स्थिति-लय-विधौ सा ते आकृतिः त्रयी इव (विराजते)।

अनुवाद— (हे भगवान चित्-सूर्य!) प्रातःकालीन सन्ध्या की वेला पर आप जिस लालिमा से सुशोभित किरणों को धारण करने वाले रजोगुणप्रधान ऋग्वेदमय, मध्याह्न (संध्या) की वेला पर भी अग्नि की तरह प्रज्वलित जिस सफेद किरणों वाले सत्त्वगुण प्रधान यजुर्वेदमय और सायं (सन्ध्या) की वेला पर अस्त होती हुई (लय होती हुई) किरणों से युक्त जिस तमोगुणप्रधान सामवेदमय रूप को धारण करते हैं, वह आपकी (त्रिपक्षीय) आकृति एक (जागतिक) दिवस (अथवा प्राणीय दिवस) की सृष्टि, स्थिति और संहार के विधान को सम्पन्न करने में वेदत्रयी के समान ही (विकसमान) है।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे भगवंश्चिदर्क, अह्नः सार्वजनीनस्य प्राणदिनस्य सर्ग-स्थिति-लय-विधौ, ते सम्बन्धिनी साकृतिः क्रोडीकृताशषसृष्ट्यादिस्तुर्याख्या शक्तिर्विजृम्भत इत्यर्थः।

अनुवाद— हे भगवान चित्सूर्य ! सर्वसाधारण प्राणिविशेष के साथ सम्बन्धित प्राणीय दिन के अभ्युत्थान, स्थिति और विश्रान्ति इन तीनों वेलाओं पर, आपकी वह (अनिर्वचनीय) 'आकृति' अर्थात् सृष्टि इत्यादि की क्रीडामयता को स्वरूप में निहित रखे हुई तुरीयाशक्ति, (समान रूप से) विलसमान रहती है। यह इस पद्यांश का तात्पर्य है।

मूलग्रन्थ— का सा ? इत्याह—

प्रातः हृदुन्मेषात्मनि प्रभाते गुणीभूतप्राणापानवृत्तिः शिव-शक्ति-संघट्टात्मा या सन्ध्या तत्र येऽरुणकिरणा अनुन्मिषितवैचित्र्याद्दीप्ताः शरीरादयश्चक्षुरादि प्रकाशाः (शारीरश्चक्षुरादिप्रकाशाः ?) तान् भजते यदत एव राजसं विश्वराजानं विश्वप्रसरासूत्रणं च ऋङ्मयम्। यच्च परधामामर्शनात्मा स्तुतिकृच्च।

अनुवाद— कौन सी आकृति ? इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

जिसका रूप, (आन्तरिक) हृदयस्थान से प्राणशक्ति के अभ्युत्थानरूपी (ऊर्ध्वगति अपनाने के रूपवाली) प्राभातिक सन्ध्या, जिसमें स्थूल प्राण एवं अपान की वृत्तियों का उपशम हो जाने के फलस्वरूप शिव-शक्ति-संघट्ट स्पष्ट रूप में अवभासमान होता है, की वेला पर, 'लालिमामय किरणों' अर्थात् काया के आंख इत्यादि रूपों वाले प्रकाशों, जो कि अभी बहिरंग विचित्रताओं का उल्लास न होने के कारण उज्वल होते हैं, को धारण किये हुए होने के कारण स्वभावतः रजोगुणमय अर्थात् समूचे संसारव्यवहार का सूत्रपात करने वाला और ऋग्वेदमय अर्थात् सर्वातिशायी चित्-धाम के विमर्श से ओत-प्रोत एवं स्तुतिकारक होता है।

मूलग्रन्थ— मध्ये मध्यधाम्नि, यजुश्चिद्देवतापूजात्मक्रियाशक्तिप्रधानं, द्वैतेन्धनप्लोषादिव ज्वलत्, ह्लादात्मसोमव्याप्ति-उन्मज्जनात् शुक्लभा अमलमात्मभास्वरूपं, सात्त्विकञ्च सतां भावः सत्त्वं प्रकाशमानत्वं तस्येदं सम्पादकं— स्वप्रकाशावेशेन विश्वप्रकाशकमित्यर्थः।

अनुवाद— जिसका रूप, 'मध्य' अर्थात् सुषुम्नाधाम के रूप वाली मध्याह्न संध्या में 'यजुर्वेदमय' अर्थात् चित्-देव की अर्चना (आन्तरिक स्वरूपविमर्शमयी अर्चना) के रूपवाली क्रियाशक्ति की प्रधानता से युक्त,

भेदभाव के इन्धन को जलाने के कारण प्रज्वलित, आनन्दमयी 'सामव्याप्ति' अर्थात् आन्तरिक प्राणीय चन्द्रकला की रसमयता से सराबोर होने के कारण श्वेत आभा वाला— तात्पर्य यह कि निर्मल आत्मप्रकाश की आभा से परिपूर्ण– और 'सात्त्विक' अर्थात् सत् रूप में विद्यमान पदार्थों के प्रकाशमान होने के रूपवाले अस्तित्व को सिद्ध करने वाला है। तात्पर्य यह कि उनमें स्वयंसिद्ध प्रकाश को अनुस्यूत करने के द्वारा समूचे विश्व को प्रकाशित करने वाला है।

मूलग्रन्थ— सायमूर्ध्वतुटयर्धेऽस्तमितकिरणं गलितप्राणादिसंस्कारक्षयात् प्रशान्तसितोज्वलितमरीचि निचयम्, अतश्च निःसंस्कारद्वैताद्वैतकवलनात् तद-पेक्षयैव तमोवस्तुविश्रान्त्यैकरसत्वात् साम।

अनुवाद— और जिसका रूप, ऊर्ध्व कुण्डलिनी के पद पर विश्रान्ति की आधी तुटि के आकार वाली सायं-सन्ध्या की वेला पर, डूबी हुई (स्वरूप में ही लीन हुई) किरणों (बाहरी रंग रूप में छितराये हुए विकल्पों) वाला, (स्थूल) प्राणचार एवं अपानचार के संस्कारों का भी क्षय होने के कारण शान्त बनी हुई सात्त्विक एवं राजसिक (सितोज्वलित) किरणों (प्रवृत्तियों) के समूहवाला और ऐसी स्थिति में, द्वैतभाव, द्वैताद्वैतभाव और अद्वैतभाव— तीनों का संस्कारों के सहित पूरा ग्रास करने की अपेक्षा से केवल 'तमोवस्तु' अर्थात् तमोगुणप्रधान संहारलीला (स्वरूप में ही सर्वाङ्गीण विश्रान्ति) का ही रसिक होने के कारण सामवेदमय है।

मूलग्रन्थ— एतत्त्रिविधं स्थूल-सूक्ष्म-पर-स्वरूपं यल्लासि गृह्णसि सा तवाकृतिस्त्रयीव ऋग्यजुःसामानीव। तथाहि–प्रातरर्कदेवतास्तुतिप्रधाना ऋग्वेद व्याप्तिः। मध्ये कर्मानुष्ठानात्मा यजुर्वेदोदयः। सायं विश्रान्तिहेतुगीतप्रधाना सामवेदप्रधानता— इति प्रतिदिनं स्थितिः।

अनुवाद— इन (उल्लिखित) तीन–स्थूल, सूक्ष्म और पर रूपों को स्वेच्छा से स्वीकारने वाली आपकी आकृति ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के रूपों वाली वेदत्रयी जैसी ही आभासमान है। आशय इस प्रकार है—

प्रातःकालीन संध्या की वेला पर भगवान सूर्यदेवता की मुख्यरूप में स्तुति करने वाले ऋग्वेद की व्यापकता, माध्यन्दिन संध्या की वेला पर जगत का आदान-प्रदानात्मक व्यवहार या धार्मिक यज्ञादि के विधि-विधानों को पूरा करने वाले यजुर्वेद का उदय और सायंसंध्या के अवसर पर विश्राम को उपलब्ध करानेवाले गीत प्रधान सामवेद की प्रधानता छाई रहती है। यही दैनिक इतिकर्तव्यता की व्यवस्था रहती है।

टिप्पणी

प्रस्तुत स्तुतिपद्य में भगवान साम्ब ने एक प्राणीय दिवस और उसके साथ सम्बन्धित तीन आन्तरिक संध्याओं पर एक ही तुरीया-रूपिणी चित्-शक्ति (चित्-सूर्यदेव) के तीन स्वेच्छा से गृहीत रूपों को प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में, जैसा कि परमपूज्य सद्गुरु ईश्वर स्वरूप महाराज जी ने अपने साम्बपञ्चाशिका भाषानुवाद के पृष्ठाङ्क २२ पर २२वीं पादटिप्पणी में स्पष्ट किया है कि ये प्राणीय दिवस की तीन सन्ध्यायें वस्तुतः आन्तरिक सन्ध्यायें हैं और मुमुक्षु भक्तजनों को इनका बोध केवल गुरुमुख से ही भली-भान्ति हो सकता है। महाराज जी ने वहां पर इस संदर्भ में संकेत रूप में जो कुछ लिखा है उसको भक्तजनों के उपकारार्थ यहां पर यथावत् रूप में उद्धृत किया जा रहा है–

"प्राणरूपी दिन में तुरीयरूप आकृति के तीन निर्विकल्प स्थान लक्ष्य करने योग्य हैं। वे हृदय तालु और बाह्य-द्वादशान्त में स्थित होते हैं। जब यह (अर्थात् प्राणरूपी दिन में तुरीय-रूप आकृति) हृदय स्थान-विशेष से प्रस्थान करती है, तो उस समय-विशेष को प्राभातिक-सन्ध्या कहते हैं। जब यह तालु के स्थान से निकलती है, तो उस समय-विशेष को 'मध्याह्निक-संध्या कहते हैं और जब यह बाह्य-द्वादशान्त के स्थान को पहुँचती है, तो उस समय-विशेष को 'सायंकालीन संध्या' कहते हैं।"

श्लोक २३

मूलश्लोक

ये पातालोदधिमुनिनगद्वीपलोकाधिबीज–
च्छन्दोभूत स्वरमुखनदत्सप्तसप्तिं प्रपन्नाः।
ये चैकाश्वं निरवयववाग्भावमात्राधिरूढं
ते त्वामेव स्वरगुणकलावर्जितं यान्त्यनश्वम्॥

अन्वय– ये पाताल-उदधि-मुनि-नग-द्वीप-लोक-अधि-बीज-च्छदन्दभूत-स्वरमुख-नदत् सप्तसप्तिं प्रपन्नाः ये च निर्-अवयव-वाक् भावमात्र अधिरूढं एक-अश्वं (त्वां प्रपन्नाः), ते स्वर-गुण-कला-वर्जितम् अन्-अश्वम् एव त्वां यान्ति।

अनुवाद— (हे भगवान चित्-सूर्यदेव !) जो भक्तजन सात पाताल, सात समुद्र, सात मुनिजन, सात पर्वत, सात द्वीप, सात लोक, सात आधियां, सात बीज, सात च्छन्द, सात प्रमाता— इस प्रकार के सात सात स्थूल रूपों में रममाण और सात स्वररूपी मुखों से शब्दायमान बने हुए आप 'सप्तसप्तिं' अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन एवं बुद्धि इन सात घोड़ों पर सवार साकार सूर्यदेव की उपासना करने में निरत हैं, अथवा जो भक्तजन केवल 'निरवयववाणी' अर्थात् वाच्य-वाचकरूपी विभागों की परिकल्पनाओं से रहित पश्यन्ती वाणीरूपी आन्तरिक विमर्शमयी सत्ता के रूप वाले एक ही घोडे पर सवार आपके निराकार रूप की उपासना करने में व्यस्त हैं, वे (दोनों प्रकार के भक्तजन) पर्यन्ततः स्वरों (षड्ज आदि), गुणों (सत्त्व आदि), कलाओं (प्रणव की अकार आदि मात्राओं) के सङ्कोचों से अतिगत आपके 'अनश्व' अर्थात् प्रत्येक प्रकार की स्थूल उपाधिरूपी घोडों से रहित विशुद्ध चित्-रूप में ही लय हो जाते हैं।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— अतलादीनि[१] **सप्त पातालानि, क्षीराद्याः स्तोदधयः, अत्र्याद्याः सप्त मुनयः, महेन्द्राद्याः सप्त पर्वताः, जम्ब्वादीनि सप्त द्वीपानि, भूराद्याः सप्त लोकाः ,**

"मोहो मदश्च गर्वश्च विषादः क्रोध एव च।
भयं च हर्षणं चैव देहे सप्ताधयः स्मृताः ॥"

इत्युक्ता मोहाद्याः सप्ताधयः, यवादीनि सप्त बीजानि, गायत्र्यादीनि सप्त च्छन्दांसि, भूताः प्राप्ताः— एतदामाशत्वात् ईदृग्विश्वप्रपञ्चरूपा, ये षड्जाद्याः सप्त स्वरास्ते मुखेषु येषां ते तन्मुखास्तानेवार्थान्नदन्तो ध्वनन्तः सप्त सप्तयो मनोबुद्धीन्द्रियात्मा नोऽश्वा यस्य तादृशं त्वां प्रपन्नाः।

अनुवाद—अतल इत्यादि सात पाताल, क्षीरसागर इत्यादि सात समुद्र, अत्रि आदि सात मुनिजन, महेन्द्र इत्यादि सात (कुल) पर्वत, जम्बुद्वीप इत्यादि सात द्वीप, भूलोक इत्यादि सात लोक,

"भौतिक काया में— मोह, मद, घमण्ड, विषाद, क्रोध, भय और हर्ष ये सात प्रकार की आधियां (मानसिक रोग) बतलाये गये हैं"

इस प्रकार से गिनाई गई सात आधियां, जौ इत्यादि सात (सस्य) बीज, गायत्री आदि सात छन्द— ऐसे[२] ही अन्यान्य (सात-सात के वर्गों में विभक्त) विश्वप्रपञ्चों के आकार वाले और षड्ज आदि सात स्वरमय मुखों से 'उन्ही अर्थों' अर्थात् विश्वमयता के साथ सम्बन्धित प्रयोजनों का नाद करने वाले 'सात घोड़ों' अर्थात् मन, बुद्धि और पांच ज्ञानेन्द्रिय इन सात घोडों पर सवार आप (सप्ताश्व सूर्य देव) की उपासना करने वाले भक्तजन, और—

मूलग्रन्थ— ये च निरवयवा वाक् पश्यन्ती तस्या भावः सत्ता तन्मात्राधिरूढं मध्यधामोन्मिषत्पश्यन्त्यामर्शपरिमर्शितम् अतश्चैकाश्वं च त्वां बुद्ध्वा ये[३] प्रपन्नाः, उभयेऽपि ते त्वामेवानश्वं चिदर्कं परं ब्रह्म यान्ति त्वदेकतामान्नुवन्ति।

अनुवाद— जो भक्तजन (वाच्य एवं वाचकरूपी) अवयवों से रहित पश्यन्ती-वाणीमयी आन्तरिक सत्तामात्र पर परिनिष्ठित अर्थात् मध्यनाडी में नित्य स्फुरायमाण रहने वाली मात्र पश्यन्तीमयी विमर्शशक्ति के द्वारा विवेचित और इसी कारण से आपको एक ही (आन्तरिक विमर्शमय) घोड़े पर सवार (अर्थात् एकाश्व सूर्यदेव) समझकर उपासना कर रहे हैं, वे दोनों पर्यन्ततः आपके 'निरश्व' अर्थात् उपाधियों से निर्मुक्त विशुद्ध चित्-सूर्यमय परब्रह्मरूप में ही लय हो जाते हैं।

मूलग्रन्थ—कीदृशम्?

स्वैः षड्जादिभिः, गुणैः सत्त्वादिभिः, कलाभिरकारादिभिर्वर्जितं निरुपाधिप्रकाशानन्दघनम्।

साश्वोपासनानश्वप्राप्तिहेतुरिति विरोधाभासः।

अनुवाद—कैसे रूप में (लय हो जाते हैं?) इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

षड्ज आदि स्वरों, सत्त्व आदि गुणों और (प्रणव की) अकार आदि कलाओं (मात्राओं) की अपेक्षा से रहित, उपाधियों से विहीन विशुद्ध चिदानन्दघन रूप में (लय हो जाते हैं)।

इस पद्य में विरोधाभास अलङ्कार है अर्थात् भगवान सूर्यदेव के साश्व रूप की उपासना ही उसके अनश्व रूप को प्राप्त करवाने का हेतु बन जाती है।

टिप्पणियां

१. विभिन्न पौराणिक ग्रन्थों में वर्णित आंकडों के अनुसार—

(क) सात पातालों के नाम— अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल।

(ख) सात समुद्रों के नाम— क्षीरसागर, दधिसागर, घृतसागर, इक्षुसागर, मदिरासागर, स्वादधूसागर और क्षीर सागर।

(ग) सात मुनियों के नाम— अत्रि, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, यमदग्नि, वसिष्ठ और कश्यप।

(नोट— मुनियों के सन्दर्भ में यह बात स्मरणीय है कि निरुक्तकार यास्क की व्याख्या के अनुसार मुनियों और ऋषियों में बहुत अन्तर होता है—'ऋषिर्दर्शनात्, मुनिर्मननात्'। तात्पर्य यह कि वे लोग जो आन्तरिक अनुसन्धान की अवस्था में वैदिक मन्त्रों का दर्शन करते थे ऋषि कहलाते थे और वे लोग जो बाद में उन मन्त्रों का गहरा अध्ययन करके उनमें निहित अर्थतत्त्व को प्रकाश में लाते थे मुनि कहलाते थे।)

(घ) सात कुल पर्वतों के नाम— महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्ति, ऋक्ष, विन्ध्य और पारिपात्र।

(ङ) सात द्वीपों के नाम— जम्बुद्वीप, कुशद्वीप, शाकद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाल्मलिद्वीप, गोमेधद्वीप और पुष्करद्वीप।

(च) सात लोकों के नाम— भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक।

(छ) सात आधियों के नाम टीकाकार ने स्वयं ही बताये हैं।

(ज) सात बीजों के नाम— जौ, शाली, माष, तिल, मूँग, कनक और मसूर ।

(झ) सात छन्दों के नाम— गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती।

(ञ) सात स्वरों के नाम— षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद।

क्षेमराज ने अपनी टीका में ऐसे ही संसार के प्रपञ्च को विश्वप्रपञ्च का नाम दिया है।

२. यहां पर क्षेमराजीय व्याख्या के मूलग्रन्थ में वर्तमान 'एतदामाशत्वात्' इस हेतुवाक्य का तात्पर्य और चलते प्रसङ्ग के साथ सङ्गति स्पष्ट नहीं है। ऐसा लगता है कि यह हेतुवाक्य मूलटीका का न होकर सम्भवतः किसी अर्वाचीन लिपिक ने कहीं से लाकर यहां बीच में घुसेड़ दिया होगा। प्राचीन मातृकाओं में ऐसे प्रमाद बहुधा पाये जाते हैं। साथ ही यहां पर क्षेमराज ने 'भूताः' शब्द का 'प्राप्ताः' यह अर्थ लिखा है जिसका कोई तालमेल नहीं बैठता है। ऐसा लगता है कि यहां पर मूल टीकाग्रन्थ की एकाध पंक्ति का किसी स्तर पर रूपान्तरण हुआ है। वास्तविक टीकाग्रन्थ क्या था? इस संदर्भ में कोई प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं हो सका है।

३. व्याख्या के इस भाग का 'ये च' इस प्रकार आरम्भ करने के उपरान्त 'बुद्ध्वा' इस शब्द के अनन्तर एक ही वाक्य में फिर 'ये' का प्रयोग करना स्पष्ट रूप में पुनरुक्ति है। क्षेमराज जैसे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित एवं व्याख्याकार में ऐसे प्रमाद सम्भव ही नहीं थे। अतः यह भी क़िसी लिपिक का ही प्रमाद प्रतीत होता है।

श्लोक २४

मूलश्लोक

दिव्यं ज्योतिः सलिलपवनैः पूरयित्वा त्रिलोकी–
मेकीभूतं पुनरपि च तत्सारमादाय गोभिः।
अन्तर्लीनो विशसि वसुधां तद्गतः सूयसेऽन्नं
तच्च प्राणांस्त्वमिति जगतां प्राणभृत् सूर्य आत्मा॥

अन्वय— (हे भगवन् चित्सूर्य !) त्रिलोकीं ज्योतिः-सलिल-पवनैः पूरयित्वा, एकीभूतं तत् सारं गोभिः आदाय, पुनः अपि अन्तर्लीनो (भूत्वा) वसुधां विशसि, तद्गतः अन्नं सूयसे, तच्च प्राणान्, इति त्वं सूर्यः जगतां प्राणभृत् आत्मा (कथ्यसे)

अनुवाद— (हे भगवान चित्-सूर्य देव !) आप (भूः, भुवः, स्वः इन) तीनों लोकों को 'ज्योति' अर्थात् अग्नि (प्रकाश, गर्मी), जल और पवन से भर कर उनमें एकत्रित हुए उस लोकोत्तर सार को अपनी किरणों से बार-बार आकर्षित करके और अन्तर्लीन होकर पृथ्वी में स्वरूपतः प्रवेश करते हैं, (फिर) उसमें वर्तमान रहकर अन्न को उत्पन्न करते हैं, उस अन्न से प्राणों को स्थिति प्रदान करते हैं, इस प्रकार आप सूर्य देव समूची जगती के प्राण देने वाले साक्षात् आत्मदेव ही हैं।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे भगवन्, त्वं ज्योतिः-सलिल-पवनैः, चित्प्रकाश-करन्ध्रप्रविशच्छाक्तामृत-प्राणमरुद्भिस्, त्रिलोकीं जागर-स्वप्न-सुषुप्ति-त्रयीं पूरयित्वा, तस्यामेव त्रिलोक्यामेकीभूतं सामरस्यं प्राप्तं, दिव्यं सारं तुर्यानन्द-घनं, गोभिरनुत्तरैर्मरीचिभिः, पुनरिति पुनः पुनर्, आदाय चमत्कृत्य, अन्तरिति अन्तर्मुखे पदे लीनो, वसुधां परां भूमिं, विशसि तन्मयतया स्फुरसि।

अनुवाद— हे भगवान (चित्-सूर्य) आप[1] स्वयं, ज्योति, सलिल और पवन' अर्थात् चित्-प्रकाश, ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने वाले शाक्त-अमृत और प्राणवायु के द्वारा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के रूप वाले तीन लोकों को भरकर, उसी में (त्रिलोकी में) समरसताभाव पर पहुंचे हुए 'लोकोत्तर सार' अर्थात् तुरीयाभाव के रूप वाली आनन्दमयता का बार-बार आत्मरूप में स्वाद लेकर और उस (तुरीयारूपी) अन्तर्मुखता में ही दृढ़ता से अन्तर्लीन होकर, सर्वोत्कृष्ट परा-भूमिका में प्रवेश करते हैं अर्थात् स्वरूपतः स्वयं उस पराभाव के साथ तन्मय होकर स्फुरायमाण बन जाते हैं।

मूलग्रन्थ— तद्गतश्चान्नमदनविषयं वेद्यजातं सूयसे आश्यानीभूय तद्रूपतया स्फुरसि। तच्चान्नं प्राणापानावस्थितिहेतुस्त्वमेव न त्वन्यत् किञ्चिदिति। अनया युक्त्या सूर्यः प्राणभृदात्मा च कथ्यसे। यदाह श्रुतिः—

"अहमन्नम्, अहमन्नदः, अहमन्नादश्च"।

इति।

अनुवाद— उस अन्तर्मुखीन पराभाव में रमते रमते ही 'अन्न' अर्थात् अदन (खाया जाना) का विषय बनाये जाने वाले प्रमेयपदार्थों की प्रसूति करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि स्वयं ही बहिरंग रूप में आंश्यान बन कर अर्थात उत्तरोत्तर स्थूलता[२] का अङ्गीकार करके स्थूल प्रमेय-विश्व के रूप में स्फुरायमाण बन जाते हैं। वह अन्न, जोकि (प्रत्येक प्राणी में) प्राणापान को स्थिति प्रदान करने का (मुख्य) कारण है, भी तो आप स्वयं ही हैं। वह तो आप से भिन्न और कोई पदार्थ नहीं है। इसी अनुसन्धानात्मक युक्ति के द्वारा आप चित्-सूर्यदेव को (सारी जगती के) प्राणों को पुष्टि प्रदान करने वाला परमात्मदेव कहा जाता है। जैसा कि श्रुति (वेद) में कहा गया है—

"मैं स्वयं अन्न हूँ, स्वयं अन्न देने वाला हूँ और स्वयं अन्न का अदन करने वाला (प्राणी) हूँ।"

मूलग्रन्थ— बाह्योऽपि सूर्यो भूर्भुवःस्वस्त्रयीं ज्योतिः-सलिल-पवनैः तत्र तत्र समय आपूर्य समरसीभूतं दिव्यं त्रिलोक्यां रसरूपं सारं रश्मिभिर्ग्रीष्मदावादाय पुनरपि भूमिमन्तस्तापनयुक्त्या लीनः सन् विशति। तद्गतश्चान्नमौषध्याख्य प्राणावस्थितिहेतुं जनयति। ततः स एवान्नमन्नदोऽन्नादश्च॥

अनुवाद— बाहरी (स्थूल) सूर्यदेव भी भूः, भुवः और स्वः इन तीनों लोकों को अपने अपने निश्चित समयों पर प्रकाश-सलिल और वायु से भरकर, ग्रीष्म आदि ऋतुओं में अपनी किरणों के द्वारा उस त्रिलोकी में समरस बने हुए रसरूपी सारभाग का आहरण करके, बार-बार भूमि में, उसके अभ्यन्तरवर्ती तापमान के रूप में, प्रवेश करता है। इस प्रकार उसमें वर्तमान रहकर, प्राणों को बल पहुंचाने का कारण बने हुए औषधिरूपी अन्न को उपजाता है। उस कारण से वह (सूर्य) स्वयं ही वास्तव में, अन्न, अन्नदाता और अन्नभक्षक भी है।

टिप्पणियां

१. टीकाकार क्षेमराज ने इस स्तुतिपद्य के शब्दों से जिस प्रकार के प्रतीकात्मक अर्थ निकाले हैं उनका संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है—

(१) ज्योति, सलिल और पवन = क्रमशः चित्-प्रकाश, शाक्त-अमृत अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र के स्थान पर वर्तमान आन्तरिक चन्द्रकला (अमाकला) से अजस्र रूप में टपकने वाला चित्-रस रूपी अमृत जिसका पान योगी लोग करते रहते हैं और, प्राणवायु (उदान रूप में)

(२) त्रिलोकी = जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति जिनमें "शैवमान्यता— जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभेदे तुर्याभोग सम्भवः। शि० सू० १, ७" के अनुसार 'तुरीया-शक्ति समान रूप से व्याप्त रहती है।

(३) दिव्य-सार = तुरीया भाव में प्रवेश पाने की अवस्था में योगियों के द्वारा अनुभूयमान आनन्दमयता यह आनन्दशक्ति ही बहिरङ्ग सृष्टिप्रसार का मूल हेतु है। "आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते"।

(४) गोः = अनुत्तरीय किरणजाल (शक्तिचक्र) ।

(५) वसुधा = अविनश्वर संपदा (स्वरूपप्रत्यभिज्ञान) को प्रदान करने वाली परा-भूमिका।

(६) अन्न— जिसका अदन किया जाये अर्थात् भक्षण किया जाये उसको अन्न कहते हैं। भक्षण करने से भी किसी बाहरी खाद्य पदार्थ को काया के भीतर डालकर स्वरूप के साथ एकाकार बना देने का अभिप्राय निकलता है। इस दृष्टि से भक्षण केवल मुंह से ही नहीं प्रत्युत प्रत्येक इन्द्रियद्वार से होता रहता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांच प्रमेय विषयों का भक्षण प्रति समय प्रत्येक प्राणी अपने इन्द्रियद्वारों से करता रहता है। फलतः सारा प्रमेय-विश्व ही अन्न है और चित्-शक्ति प्रतिसमय उसका अदन करती रहती है। जैसा कि भगवान उत्पलदेव ने कहा है—

"त्वामगाधमविकल्पमद्वयं
स्वंस्वरूपमखिलार्थधस्मरम्।
आविशन्नहमुमेश सर्वदा
पूजयेयमभिसंस्तुवीय च।"

(शि० स्तो० १३, २०)

धस्मरम् = अदनशीलम्, खाते रहने के स्वभाव वाले।

(७) प्राणभृत् = प्रत्येक प्राणी में चलते हुए प्राणापान को पुष्टि प्रदान करने वाला चित्-देव।

२. आश्यानीभाव— किसी तरल पदार्थ का जमकर ठोस बन जाना आश्यानीभाव कहलाता है, परन्तु इस क्रियात्मकता से उस पदार्थ के मौलिक तरल और स्थूल आश्यानीभूत रूप में स्वभावतः कोई अन्तर नहीं पड़ता है। जल चाहे तरल जलरूप में हो अथवा सघन हिमरूप में हो उसके जलत्व में कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार तरल चित्-रस का ही आश्यानीभूत रूप जगत है और जगत का ही तरल रूप चित्-रस है। पर्यन्ततः जगत् एवं चित्-रस इस प्रकार कहना-सुनना मात्र एक व्यावहारिक औपचारिकता है। सारा विस्तार केवल चित्-रस ही है।

श्लोक २५

मूलश्लोक

अग्नीषोमौ प्रकृतिपुरुषौ बिन्दुनादौ च नित्यौ
प्राणापानावपि दिननिशे ये च सत्यानृते द्वे।
धर्माधर्मौ सदसदुभयं योऽन्तरावेश्य योगी
वर्तेतात्मन्युपरमतिर्निर्गुणं त्वां विशेत्सः॥

अन्वय– (हे भगवान् !) यः योगी, नित्यौ अग्नीषोमौ, प्रकृतिपुरुषौ, बिन्दुनादौ, प्राणापानौ, अपि दिननिशे, च ये द्वे सत्य-अनृते, धर्माधर्मौ, सद्-असद् उभयम्, अन्तर् आवेश्य उपरतमतिर् आत्मनि वर्तेत, सः त्वां निर्गुणं विशेत्।

अनुवाद– (हे भगवान् !) जो योगी, नित्य चलते रहने वाले अग्नि[१]-सोम (प्रकाश-विमर्श), प्रकृति-पुरुष, बिन्दु-नाद, प्राण-अपान, दिन-रात, सच-झूठ ये दो, धर्म-अधर्म, सत्-असत् इत्यादि प्रकार के अनन्त (सांसारिक) द्वन्द्वों को अपने अन्दर पचा कर और अपनी बुद्धि को इनसे निवृत्त करके, केवल आत्माराम अवस्था में रमता रहता है, वह अवश्य आप गुणातीत सत्ता में प्रवेश पा जाता है।

टिप्पणी

१. जैसा कि पहले समझाया गया है कि शैव आगमों में अग्नीषोम शब्द से भिन्न-भिन्न सन्दर्भों के अनुसार— प्रकाश-विमर्श, ज्ञान-क्रिया, प्राण-अपान, इत्यादि प्रकार के अर्थ लिये जाते हैं। प्रस्तुत संदर्भ में तो

स्तुतिकार को इस अर्थवैविध्य से कोई सरोकार नहीं है, प्रत्युत वह इस तथ्य को सामने लाना चाहते हैं कि यद्यपि प्रकाश और विमर्श क्रमशः शिव और शक्ति के परिचायक हैं तथापि जब तक भेदरूप में उनका विमर्श किया जाये तब तक अग्नीषोम, प्रकाश-विमर्श इत्यादि सारे द्वन्द्व ही हैं। परशिवदशा न तो ऐकान्तिक प्रकाश और न ऐकान्तिक विमर्श है अपि तु दोनों का समरसी-भाव है जोकि पूर्णतया द्वन्द्वातीत अवस्था है।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— यो योगी नित्यौ सततवाहिनौ प्राणापानावेव कवलनाप्यायनहेतुत्वादग्नीषोमौ ज्ञान-क्रिया-शक्ति प्राधान्यात् प्रकृतिपुरुषौ, वेदन विमर्शत्वाद् बिन्दुनादौ, प्रसर-विश्रान्ति-पदत्वाद् दिननिशे, विकाससङ्कोच-निमित्तत्वात् सत्यानृते, ऊर्ध्वाधोगतिकारणत्वाद् धर्माधर्मौ, बाह्यानां सत्तासत्तयोर्ज्ञापकत्वात् सदसत्, उभयम्, अन्तरुदानधाम्नि, आवेश्य विलाप्य, आत्मनि चिद्धाम्नि, वर्तेतावतिष्ठेत, स त्वां निर्गुणं सत्त्वादिगुणातीतं परमादित्यं विशत्येव (विशेदेव)।

अनुवाद— जो[१] योगी निरन्तर रूप में प्रवहमाण रहने वाले प्राण और अपान, जो कि क्रमशः—

(बाहरी प्रमेयता का) ग्रास और (आन्तरिक अवयवों की) पुष्टि प्रदान करने के हेतु अग्नीषोम,

ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की मुख्यता के कारण पुरुष-प्रकृति,

आन्तरिक संवदेन और विमर्शमय होने के कारण बिन्दु-नाद,

बहिरङ्ग प्रसार और अन्तरङ्ग विश्राम की भूमिका निभाने के कारण दिन-रात,

(व्यक्तित्व के) विकास और सङ्कोच का कारण बन जाने से सच-झूठ,

(मानव को) प्रगति और अधोगति का पात्र बनाने के कारण धर्म-अधर्म,

बाहरी पदार्थों के अस्तित्व और अनस्तित्व का बोध कराने के हेतु सत्-असत् कहलाये जाते हैं, दोनों को 'उदान धाम' अर्थात् मध्यनाडी में विलीन करके निजी आत्मभूत चित्-रूपता में अविचल भाव से टिका रहता है, वह (साधक) सत्त्व आदि गुणों से अतिगत आप परम-सूर्यदेव (चित्-सूर्य) में अवश्य प्रवेश पाने का पात्र बन जाता है।

टिप्पणी

१. इस स्तुति पद्य का विवेचनात्मक अध्ययन करने पर पाठक के सामने दो परिस्थितियां स्पष्ट रूप में उभर आती हैं—

(क) प्राणाभ्यास इत्यादि अध्यात्म सम्बन्धी प्रक्रियाओं से अपरिचित सर्वसाधारण जनसमाज के संदर्भ में इस पद्य में वर्णित सारे परस्परसापेक्ष युगल अपने अपने स्थान पर अलग अलग द्वन्द्व हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने भी श्रीगीता में इन सुखद या दुःखद शीतोष्णरूपी अनगिणत सांसारिक द्वन्द्वों का संकेत दिया है। संसार में द्वन्द्व ही न हों यह कदापि सम्भव ही नहीं है क्योंकि संसार प्रक्रिया स्वयं द्वन्द्व है। इसको नकारा कैसे जा सकता है? भगवान के कथन के अनुसार ये द्वन्द्व आगन्तुक एवं अस्थिर हैं। हमेशा एक ही रूप में टिक कर नहीं रहते। बुद्धिमान पुरुष को इनके क्षोभ में पड़ने की या इनके वशीभूत होकर हाय-तोबा मचाने की कोई आवश्यकता नहीं है। भगवान नीलकंठ की तरह इस द्वन्द्वरूपी हलाहल को पीकर धीरता से अपने अंतस् में पचा देने से ही आत्मोद्धार हो सकता है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों मं उपदेश दिया है— 'तांस्तितीक्षस्व भारत !'।

(ख) क्षेमराज ने प्राणाभ्यासक्रम को ही दृष्टिपथ में रखकर निजी जानी-मानी व्याख्याशैली के अनुसार पद्य की टीका लिखी है। उनके विचारानुसार प्रत्येक प्राणी में प्राणापान का निरन्तर उतार-चढ़ाव ही मौलिक द्वन्द्व है। अन्य सारे द्वन्द्व उसी की शाखायें और उपशाखायें हैं। अतः प्रधान मल्लनिर्बहण न्याय के अनुसार यदि योगक्रम के द्वारा प्राणापान को ही मध्यनाडी में विलीन करके उदानशक्ति का रूप दिया जाये तो तुरीयभाव में प्रवेश पाने के फलस्वरूप अन्य सारे द्वन्द्वों का उपशम स्वाभाविक रूप में हो जाता है। उसके लिए अलग से कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। यों तो क्षेमराज का सुझाव बहुत ही सरल प्रतीत होता है परन्तु वास्तविकता यह है कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विशेष गुरुकृपा और अनथक साधना की आवश्यकता है जोकि पारमेश्वर शक्तिपात के बिना सम्भव नहीं हो सकती है।

श्लोक २६

मूलश्लोक

गर्भाधानप्रसवविधये सुप्तयोरिन्दुभासा
सापत्न्येनाभिमुखमिव खे कान्तयोर्मध्यसंस्थः ।
द्यावापृथ्व्योर्वदनकमले गोमुखैर्बोधयित्वा
पर्यायेणापिबसि भगवन् षड्रसास्वादलोलः ॥

(क) अन्वय (साधारण) — हे भगवन् ! षट्-रस-आस्वादलोलः (त्वं), गर्भ-आधान-प्रसव-विधये सापल्येन अभिमुखम् इव इन्दुभासा सुप्तयोः कान्तयोः द्यावा-पृथ्व्योः खे मध्य-संस्थः (तयोः) वदन-कमले गोमुखैः बोधयित्वा पर्यायेरा आ-पिबसि ।

(ख) अन्वय (योगक्रमानुसार) — हे भगवन् ! मध्य-संस्थः षट्-रस-आस्वाद-लोलः (त्वं) गर्भ-आघान-प्रसव-विधये, इन्दुभासा कान्तयोः, खे सुप्तयोः, द्यावा-पृथ्व्योः, सापत्न्येन अभिमुखम् इव (कृत्वा, तयोः) वदन-कमले गोमुखैः बोधयित्वा, पर्यायेण आ-पिबसि ॥

(क) अनुवाद (साधारण) — हे भगवान (सूर्यदेव), छः भौम रसों (मीठा, खट्टा, खारा, कड़वा, कसैला और तीखा) का लम्पटता से आस्वाद लेना आपका स्वभाव है । आप (ग्रीष्म आदि ऋतुओं में सारी जगती की) रसमयता को अपने गर्भ में धारण करने, और (वर्षा आदि ऋतुओं में) उसका 'प्रसव' अर्थात् बहिः-विसर्जन करने के लिए, दो सौतों की तरह प्रतिस्पर्धा के भाव से जैसे परस्पर अभिमुख बनकर, और मानो चमकती हुई चांदनी की चद्दर लपेट कर सोई हुई आकाश और पृथिवीरूपी दो सुन्दरियों के बीच में शून्यमंडल में पडे रहकर, उनके मुखकमलों को मानो अपने किरणरूपी मुखों से विकसित बनाकर बारी बारी से उनका (मुखकमलों का) पान करते रहते हैं ।

(ख) अनुवाद (योगक्रमानुसार)— हे भगवान (चित्-सूर्य), आप मध्य-धाम में अवस्थित रहते हुए छे आनन्द भूमिकाओं का (अहं-रूप में) चर्वण करते रहते हैं । आप (अपानचार में सारी विश्वमयता को) आन्तरिक चित्-रूपता के गर्भ में धारण करने, और (प्राणचार में) उसकी 'प्रसूति' अर्थात् बहिर्मुखीन अवभासन करने के (लोकोत्तर) विधान को सम्पन्न करने

के अभिप्राय से, आन्तरिक चन्द्रकला (अमाकला) की दिव्य आभा से प्रकाशित बनाई हुई, निजी बोधमयता से बहुत रमणीय भाव पर पहुँचाई हुई और शून्य प्रमाता में अवसुप्त अवस्था में पड़ी रहने वाली 'द्यावापृथिवी' अर्थात् अन्तः-द्वादशान्तरूपी आकाश और बाह्य-द्वादशान्तरूपी पृथिवी इन दो 'सपत्नियों' अर्थात् परस्पर प्रतियोगिता में ही आपके अभिमुख रहने वाली नायिकाओं के 'मुखकमलों' अर्थात् दोनों द्वादशान्तों पर आधी तुटि की विश्रान्तिरूपी संधियों को, निजी चित्-किरणों से ही विकसित करके, बारी-बारी से उनका पान करते रहते हैं। (तात्पर्य यह कि दोनों संधियों को निजी उन्मेष और निमेषमयी लीला से चमत्कृत करते रहते हैं।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे भगवंश्छिद्भानो! द्यावापृथ्व्योः सर्वद्वादशान्तात्मान्तरिक्षदेहभूम्योः कान्तयोर्निजविज्ञानेनैव रमणीयतां प्रापितयोर्वदनकमले शक्तिनलिने गोमुखैरनुत्तरैर्मरीचिभिर्बोधयित्वा विकास्य असामान्यशाक्तानन्दास्वादनलम्पटः सन् पर्यायेण विचित्रोन्मेषनिमेष क्रमैरापिबसि चमत्कुरुषे।

अनुवाद— हे भगवान चित्-सूर्य ! आप, अन्तःद्वादशान्त और बाह्य-द्वादशान्त नामी आकाश और पृथिवी के रूपवाली, और निजी (स्वाभाविक) बोध (चिद्बोध) के द्वारा रमणीक बनाई गई सुन्दरियों के 'मुखकमलों' अर्थात् शाक्त[१] पद्मों को विकास में लाकर, अलोकसाधारण शाक्त-आनन्दमयता[२] (छः आनन्द की भूमिकायें) का आस्वाद लेने के प्रति लम्पट बनकर, उनका (मुखकमलों का) अपने विचित्र उन्मेष-निमेष के क्रम से पान करते रहते हैं अर्थात् अहंरूप में उनका स्वयं आस्वाद लेते रहते हैं।

मूलग्रन्थ—कीदृशः ? मध्यसंस्थोऽग्नीषोमाधिरूढः

अनुवाद— किस रूप में (आस्वाद लेते रहते हैं? इस शङ्का का शमन करते हुए कहते हैं—) आप 'अग्नीषोम' अर्थात् प्राण एवं अपान पर (अथवा प्रकाश एवं विमर्श के संघट्टभाव पर) अविचल रहकर (आस्वाद लेते रहते हैं)।

मूलग्रन्थ— किमर्थम्? गर्भे स्वान्तर्यदाधानं, प्रक्षेपोऽर्थाद्विश्वस्य प्रसवस्तदौचित्येन भासनं, तद्विधानार्थम्।

अनुवाद– किस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए? (इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—)—

'गर्भ[३]' अर्थात् निजी आन्तरिक चित्-स्वरूप में बहिरंग प्रमेय विश्व को ग्रहण करने (अपानचार में), और उसका 'प्रक्षेप प्रसूति' अर्थात् अपने उचित रूप में बहिरंग स्थूल रूप में अवभासन (प्राणचार में) — इस (अविराम रूप में चलते हुए) विधान को पूरा करने के लिए।

मूलग्रन्थ–कीदृशोर्द्यावापृथिव्योः? खे शून्यप्रमातरि सुप्तयोः–

'कलोद्वलितमेतच्च[४] चित्तत्त्वं कर्तृतामयम्।

अचिद्रूपस्य शून्यादेर्मितं गुणतया स्थितम्॥'

इति नीत्या शून्यप्रधानताश्रयेण निमज्जितपारमार्थिकस्वरूपयोरभिमुखावस्थितयोः।

अनुवाद– कैसी द्यावापृथिवीरूपी (प्रेयसियों के मुखकमलों का पान करते हैं?, इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

जो द्यावा[५]पृथिवी (अन्तः और बाहर के द्वादशान्तों पर वर्तमान संधियुगल) 'खे' अर्थात् शून्यप्रमाताओं में बिल्कुल अवसुप्त अवस्था में पड़ी रहती हैं। (इस सम्बन्ध में—)

अनुवाद– "(शिव के बिना अन्य सारे प्रमाताओं में) व्याप्त रहने वाले चित्-अंश पर अल्पकर्तृतारूपी कला-तत्त्व का आवरण छाया रहता है, अतः वे (अपनी अपनी जीवदशा के अनुपात से) सीमित कर्तृता को निभाते रहते हैं, परन्तु शून्यप्रमाताओं अर्थात् प्रलयाकल आदि प्रमाताओं में वह सीमित चित्-अंश भी जागरूक नहीं रहता है अतः उनमें कर्तृता पूर्णतया गौण बनी रहती है॥"

इस (शास्त्रीय) नीति के अनुसार (ये दोनों) शून्यप्रमातृभाव का आश्रय लेने से, अपने यथार्थ चित्-स्वरूप को गौण बनाकर (निष्क्रिय रूप में) एक दूसरे के अभिमुख पड़ी रहती हैं।

मूलग्रन्थ– कथं सुप्तयोः? सापत्न्येन परस्पर-प्रतियोगितयैव अभिमुखं कृत्वा। उभयानुकूलत्वादाभिमुख्यमाश्रित्येत्यर्थः।

अनुवाद–(शङ्का) किस प्रकार से सोई पड़ी हुई? (समाधान) आपस में सौतें जैसी होने के कारण पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के भाव में जैसी अभिमुख रहकर। तात्पर्य यह कि आप (चित्तत्त्व) के समानरूप में दोनों के अनुकूल होने के कारण दोनों आपकी अभिमुखता का आश्रय लिये हुए ही सोई पड़ी हुई।

मूलग्रन्थ–बाह्योऽप्यर्को द्यावापृथिव्यो रात्राविन्दुभासा सुप्तयोर्मीलितस्वरूपयोरभिमुखावस्थितयोर्मध्ये गोभिर्वदननलिने विकास्य तदीयविचित्ररसास्वादलोल आपिबति भौमान्तरिक्षान् रसान्। गर्भाधानाय ग्रीष्मादौ कर्षण्यादिनिजरश्म्यन्तर्निवेशनाय, प्रावृडादौ च प्रसवाय वर्षण्यादिमरीचिविसर्गतो नानौषध्युप्तये।

अनुवाद– बाहरी (स्थूल) सूर्यदेव भी (नायक जैसा बनकर), रात में चन्द्रिका के प्रकाशरूपी चद्दर के नीचे निजस्वरूप को छिपाकर जैसी सोई पडी हुई, आकाश और पृथिवीरूपी दो प्रेयसियों, जो एक दूसरे के अभिमुख होती हैं, के बीचोंबीच शून्यमण्डल में अवस्थित रहकर, अपनी किरणों से दोनों के मुख-कमलों अर्थात् कमलों के रूपवाले मुखों को विकसित करके, मानो उनके अतिमुग्धकारी प्रेमरस का पान करने के प्रति लम्पट बनकर, सारे भौम एवं अन्तरिक्षीय रसों को (द्रव पदार्थों को) प्रत्येक दिशा से पीता रहता है। इसमें उसका भी गर्भाधान एवं प्रसव का प्रयोजन होता है। तात्पर्य यह कि ग्रीष्म जैसे ऋतुओं में अपनी कर्षिणी नाम वाली किरण में समस्त रसों का आधान (गर्भाधान) करने के उपरान्त, वर्षा आदि ऋतुओं में नाना प्रकार प्रकार की औषधियों की फसल बोये जाने एवं उगाये जाने के लिए, अपनी वर्षिणी नामवाली किरण के द्वारा उनका (रसों का) वृष्टि के रूप में विसर्ग अर्थात् प्रसव करने के प्रयोजन को सिद्ध कर देता है।

मूलग्रन्थ– अथ च सापत्न्येनाभिमुखयोः सुप्तयोरिन्दुभासोपलक्षितयोः कर्पूराच्छुरितयोः कान्तयोर्मध्यसंस्थो नायको वैदग्ध्याद् गोमुखैर्वक्त्रपद्मे पर्यायेण युगपद् बोधयित्वा लोचनपरिचुम्बनपुरःसरमुन्निद्रे विधाय वक्त्रास-वामृतलम्पटो गर्भस्याधान प्रसवनिमित्तमापिबति रतयेऽत्यर्थं परिचुम्बतीति श्लेषालङ्कारः श्लेष-ध्वनिसंसृष्टिश्च।

अनुवाद— इसके अतिरिक्त (इस पद्य में साधारण नायक-नायिका का अर्थ भी ध्वनित होता है जैसे—

कोई विदग्ध नायक दो प्रियतमा नायिकाओं, जो कि आपस में सौतें होने के कारण (दोनों ओर से नायक की ओर) अभिमुख होकर सोई पड़ी, और 'इन्दुभास' अर्थात् कपूर का लेप करने से सुवास विखेरती हुई होती हैं, उन दोनों के बीच में पड़ा रहकर, उनके मुखकमलों को बारी बारी से विदग्धतापूर्वक 'गोमुखों' अर्थात् चुम्बन के लिए आगे की ओर सिमट कर सरकाये हुए मुख से चूमा-चाटी के द्वारा एक साथ उजागर बना कर, और उनकी आंखों से भी उसी चूमा-चाटी के द्वारा नीद को हटाकर, उनके गर्भाधान और प्रसव के प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए बार बार उनके अधरामृतरस का पान लम्पटता से करता रहता है। तात्पर्य यह कि उनके साथ रतिक्रीडा करने के अभिप्राय से उनके अधरों को अधिक मात्रा में चूमता रहता है। इस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों की अभिव्यंजना के कारण पद्य में श्लेष अलङ्कार और श्लेष-ध्वनि की संसृष्टि है।

टिप्पणियां

१. प्राणाभ्यास क्रम में मध्यनाड़ी के स्थान पर अधोकुण्डलिनी और ब्रह्मरन्ध्र के स्थान पर ऊर्ध्वकुण्डलिनी इन दो पदों को क्रमशः अधो-द्वादशान्त और ऊर्ध्वद्वादशान्त कहते हैं। सङ्कोच-विकासशील होने के कारण दोनों को कमलों की संज्ञा दी गई है और शाक्त-पद्म कहलाते हैं। उच्चकोटि के योगाभ्यासी, जिनको मध्यधाम में प्रवेश मिला हो, व्यक्तियों की बाहरी स्थूल एवं सर्वसाधारण प्राणापानगति विलीन हुई होती है। उनकी प्राणशक्ति उदान रूप में अधोद्वादशान्त से ऊर्ध्व-द्वादशान्त तक, मध्यनाडी में ही, आरोह और ऊर्ध्व-द्वादशान्त से अधो-द्वादशान्त तक अवरोह करती रहती है। इसीसे उनकी प्राणापान प्रक्रिया सम्पन्न हो जाती है। चित्-शक्ति स्वयं ही इन दोनों शाक्तकमलों को प्राणभ्यास से विकसित बना देती है।

२. शैवागमों में छः आनन्दभूमिकाओं का वर्णन किया गया है। प्राणाभ्यासी जनों को इनकी अनुभूति स्वयं हो जाती है। इनके नाम हैं— निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द, चिदानन्द। शैवमान्यता के अनुसार ये सारी आनन्द भूमिकायें पूर्ण नहीं हैं क्योंकि इनमें जगत्-रूपता

का पूर्ण बहिष्कार पाया जाता है। वास्तव में सर्वोत्कृष्ट आनन्द भूमिका वही है जिसमें विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता दोनों का समन्वय हो क्योंकि इन दोनों की समरसता ही परिपूर्ण शिवभाव है। ऐसी आनन्दभूमिका का नाम जगदानन्द है। यह अन्य सारी आनन्दभूमिकाओं की विश्रान्ति का पद है। इसका वर्णन भगवान अभिनव ने तन्त्रालोक में निम्नलिखित शब्दों में किया है—

"न च यत्र स्थितिः कापि विभक्ता जडरूपिणी।
यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो नास्ति यद्विश्वतः स्फुरत्॥
यदनाहतसंवित्तिपरमामृतबृंहितम्।
तद्वेव जगदानन्दधामास्माकं गुरुर्जगौ॥"

और भी देखिये तन्त्रसार पांचवां आह्निक।

३. पहले भी इस बात का संकेत दिया गया है कि सर्वसाधारण प्राणिमात्र में अपानचार की वेला में बाहरी प्रमेयता का अन्तःचेतना के साथ सम्पर्क और प्राणचार की वेला में उसी विश्वगर्भित अन्तःचेतना का बाहरी जगत् रूप में प्रसार होता रहता है। इस अन्तः-बहिः संपर्क से ही सारे जीवन-व्यवहार यथार्थ रूप में संपन्न हो जाते हैं। इसी चित्-शक्ति की क्रियात्मकता को प्रस्तुत पद्य में गर्भाधान एवं प्रसूति की संज्ञा दी गई है।

यह स्वाभाविक क्रियात्मकता इतनी वेगी और सूक्ष्म है कि किसी भी प्राणी को इसकी चेतना नहीं होती है। केवल क्रममुद्रा अथवा भैरवीयमुद्रा में अनुप्रविष्ट योगी लोग ही अपने निर्मल संवेदन के द्वारा इसका अनुभव कर लेते हैं।

४. अवरोह की प्रक्रिया में परमेश्वर की असीम स्वातन्त्र्य शक्ति ही माया-शक्ति का रूप धारण कर लेती है। यूं कहिये स्वतन्त्र शिव अपने ही स्वरूप को भेदपूर्ण विश्वरूप में प्रसृत करने के लिए अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति को ही माया-शक्ति का रूप देकर स्वरूप को स्वेच्छा से स्थगित कर लेता है। इसलिए मायाशक्ति उसकी अभिन्न शक्ति ही है—

'माया नाम च देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं . . . . ॥

(७, ९४९ - तं० आ०)

१. स्वरूप स्थगन और २. भेदभाव की सृष्टि ये दो मायाशक्ति के प्रमुख काम हैं— तिरोधानकरी माया (ई० प्र० ३, १, ७), भेदावभास स्वातन्त्र्यम् (तं० आ० ७, १५०)।

अपने इस कृत्य को पूरा करने के लिए वह पांच कञ्चुकरूपी तत्त्वों को जन्म देती है। उनके नाम हैं— कला, विद्या, राग, काल, नियति। शैव परिभाषा में इनको माया-परिवार भी कहते हैं। इनके निम्नलिखित रूप हैं—

कलातत्त्व— जीव में शिव के सर्वकर्तृत्व का संकुचित रूप अल्पकर्तृता।

विद्यातत्त्व— जीव में शिव की सर्वज्ञता का संङ्कुचित रूप अल्पज्ञता।

राग तत्त्व— शिव में स्वभावभूत नित्यतृप्ति का सङ्कुचित रूप अतृप्ति जो कि जीव में– 'यह भी चाहिये, वह भी चाहिए इस प्रकार की विषयों के प्रति रागात्मकता के रूप में विद्यमान रहती है।

कालतत्त्व— शिव के स्वभाव अकालकलितता का परिमित रूप कालकलितता अर्थात् अनित्यता। इसके प्रभाव से जीव भूत, भवत् एवं भविष्यत् के परिच्छेदों में पड़ा रहता है।

नियतितत्त्व— स्वाभाविक सर्वव्यापकता के कारण शिव को विश्व का अणु अणु निजस्वरूप ही भासित होता है। उसके लिए न कुछ सामान्य, न कुछ विशेष, न कुछ ग्राह्य और न कुछ त्याज्य है। इसके प्रतिकूल अव्यापकता के संकोचों में पड़ा हुआ जीव किन्हीं विषयों के प्रति विशेष अभिष्वङ्ग रखने और किन्ही को दुतकारते रहने के पचड़े में प्रतिक्षण पड़ा रहता है। यह ग्राह्यता एवं अग्राह्यता की कुण्ठा ही नियतितत्त्व है।

५. बाह्य एवं आभ्यन्तर द्वादशान्तों पर वर्तमान इन प्राणापानगति से रहित विश्रान्तिमय आधी आधी तुटियों की संधियों को शास्त्रीय परिभाषा में तुटि-अर्धांश भी कहते हैं। योगी लोग इन्हीं तुट्यर्धांशों में स्वरूप-प्रत्यभिज्ञान का साक्षात्कार करके उस भाव पर नित्यस्थिरता प्राप्त करने का अभ्यास करते रहते हैं। केवल इतना ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि अन्तः-द्वादशान्त पर अपानचन्द्रमा परिपूर्ण सोलह कलाओं वाला पूर्ण चन्द्रमा बन कर विश्रान्त हो जाता है और प्राणचार के अभ्युत्थान तक तुटि-अर्धांश होता है। इसको ऊर्ध्व-तुट्यर्धांश कहते हैं। इसी प्रकार प्राणचन्द्रमा बाह्य-

द्वादशान्त पर पहुंचते-पहुंचते एक ही कला के अवशेष वाला अमावस्या का चन्द्रमा बनकर विश्रान्त हो जाता है। अपान के पुनः अभ्युत्थान तक के तुटि-अर्धांश को अधो-तुट्यर्धांश कहते हैं। अवशिष्ट बातों पर पहले ही प्रकाश डाला गया है।

श्लोक २७

मूलश्लोक

सोमं पूर्णामृतमिव चरुं तेजसा साधयित्वा
कृत्वा तेनानलमुखजगत्तर्पणं वैश्वदेवम्।
आमावस्यं विघसमिव खे तत्कलाशेषमश्नन्
ब्रह्माण्डान्तगृहपतिरिव स्वात्मयागं करोषि॥

अन्वय– (हे भगवंश्चिदर्क !) त्वं पूर्ण-अमृतं चरुम् इव सोमं साधयित्वा, तेन अनल-मुख-जगत्-तर्पणं वैश्वदेवं कृत्वा, तत्कलाशेषं आमावस्यं विधसम् इव खे अश्नन्, गृहपतिः इव ब्रह्माण्ड-अन्तः स्वात्म-यागं करोषि।

अनुवाद– (हे भगवान चित्-सूर्यदेव !) जिस प्रकार कोई घरवाला अमावस्या की तिथि पर अमृत जैसे चरु (हव्यान्न) को अग्नि पर पकाकर और उसकी आहुति अग्नि में डालते हुए वैश्वदेव करके पहले सारे जगत का तर्पण कर लेता है उपरान्त उस अग्निहोत्र से अवशिष्ट हव्यान्न का भक्षण करके नियमित रूप से स्वात्मयज्ञ करता रहता है, उसी प्रकार आप भी निजी चित्-शक्तिमयी तेजस्विता से 'सोम' अर्थात् प्राणापान को, (ऊर्ध्व तुट्यर्धांश की संधि वेला में) अमृतमय चरु की तरह परिपूर्ण पूर्णिमाचन्द्र के रूप में परिवर्धित करके, उसके द्वारा, समूचे आन्तरिक जगत् को तृप्ति प्रदान करने वाला वैश्वदेव (उदानवह्नि में प्राणापान की आहुति डालना) करते हैं। उपरान्त अमावस्या (अधोतुट्यर्धांश) की संधिवेला में (उसी प्राण चन्द्रमा की) अवशिष्ट अमाकलारूपी हुतशेष का भक्षण करके 'ब्रह्माण्ड' अर्थात् शक्ति-अण्ड (सारा विश्व) के घर में सर्वोच्च गृहपति के रूप में अवस्थित रहकर शाश्वत रूप में स्वात्मयाग करने के अभ्यस्त हैं।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे चिदर्क ! ब्रह्मरन्ध्रावस्थितशाक्तब्रह्मोपलक्षितस्याण्डस्य अन्तरिति धरा-मूल-माया-शक्त्यण्ड-चतुष्टयस्य मध्ये गृहे स्वात्मयागं करोषि।

अनुवाद— हे भगवान चित्-सूर्य ! आप 'ब्रह्माण्ड' अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र के स्थान पर अवस्थित शक्त-ब्रह्म[1] (पृथिवी-अण्ड, प्रकृति-अण्ड और माया-अण्ड इनको अपने गर्भ में धारण करता हुआ शक्ति-अण्ड) अर्थात् (असीम अनुत्तरीय अवकाश में अवस्थित विश्वविस्तार) के घर में बैठकर 'स्वात्मयाग करते रहते हैं'। (तात्पर्य यह कि अपने ही स्वरूपभूत उदानवह्नि में डालते रहते हैं)।

मूलग्रन्थ— किं कृत्वा?

सोमं रूपादिपञ्चदशात्मकमेयं तेजसा निजमरीचिविस्फुरणेन, पूर्णामृतं चरुमिव साधयित्वा—

"एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता"

(प० त्रिं० भा० पृ० २२३ पर उद्धृत)

इति कृत्वा विश्वात्मनिजशाक्तामृताभासमयं स्वसन्निविष्टं विधाय।

अनुवाद— क्या करके? (इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—)

(क) 'सोम[2]' अर्थात् प्राणापानरूपी और रूप आदि पन्द्रह प्रकार के प्रमेयविषयरूपी पन्द्रह कलाओं वाले चन्द्रमा को, निजी चिति-शक्तिमय तेजस्विता से (ऊर्ध्व-द्वादशान्त पर), अमृतता से परिपूर्ण चरु[3] (प्राणीय पुरोडाश) की भान्ति साधकर (पका कर)। भाव यह कि—

"एक एक तत्त्व भी अपने स्थान पर छत्तीस तत्त्वों का पिण्ड होता है।"

इस शास्त्रवाक्य के अनुसार उस प्राण-चन्द्रमा को, बहिरंग विश्वमयता के रूपवाले आपके अपने ही स्वरूपरूपी शाक्त-अमृत की स्पष्ट आभासमानता से युक्त और स्वरूप में ही प्रतिष्ठित बनाकर।

मूलग्रन्थ— अनल उदानवह्निर्मुखं प्राप्त्युपायो यस्य, ब्रह्माद्यनाश्रितान्तकारणाधिष्ठित धरादि शिवतत्त्वान्ताध्वविस्फारमयस्य जगतः, तस्य तर्पणं यत्तदेव वैश्वदेवं यागं तेन सोमेन चरुणा विधाय, तस्य सोमस्य

कलाशेषं जगत्तर्पणोपयुक्तकलापञ्चदशावशिष्टमूर्ध्वतुट्यर्धाख्यामावस्यासम्बन्धि अमाख्यकलारूपं, विधसमिव कवलिताशेष संस्कार कल्पमिवाश्नन् —

"अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुनः।
पिबन्ति च सुराः सर्वे दश पञ्च परा कलाः॥
अमाशेषगुहान्तःस्थामावस्या विश्वतर्पिणी॥"

इति श्रीकालिकाक्रमादिष्टनीत्या विश्वदेवतापरमार्थे स्वात्मनि चमत्कुर्वन्।

(ख) अनुवाद— 'अनल' अर्थात् उदाशक्तिमयी आन्तरिक तेजस्विता ही जिसको प्राप्त करने का उपाय है ऐसे 'जगत्' अर्थात् ब्रह्मा से लेकर अनाश्रितशिव तक के (पांच) कारणों से अधिष्ठित, पृथिवी-तत्त्व से लेकर शिव-तत्त्व तक फैले हुए छः अध्वाओं (मार्गों) अथवा दो अध्वाओं (मार्गों) के रूप वाले (आन्तरिक विमर्शमय) जगत को तृप्ति प्रदान करने वाले वैश्वदेव याग को, उसी सोमरूपी चरु की आहुति डालने से सम्पन्न करके, उस शाक्तभूमिका के शून्यावकाश में ही समूचे (आन्तरिक विमर्शमय) विश्व को तृप्ति प्रदान करने के उपयुक्त पन्द्रह कलाओं का व्यय होने के उपरान्त शेष बची हुई (अविनश्वर) अमाकला[४], जिसको दूसरे शब्दों में 'ऊर्ध्व-तुट्यर्धांश' कहते हैं, के चरुनैवेद्य का संस्कारों के सहित भक्षण (चित्-रूपता में पूर्ण लयीभाव) करते करते। तात्पर्य यह कि —

"आन्तरिक चन्द्रमा के रूप में अमृत का निर्झर है, सारे देवता (आन्तरिक शक्तिचक्र) इसकी लोकोत्तीर्ण पन्द्रह कलाओं का पान दो रूपों में (अर्थात् ऊर्ध्वसंधि (पूर्णिमा) और अधःसंधि (अमावस्या) इन दो रूपों में) और सोलह रूपों में (अर्थात् शैव-योग में वर्णित कलाग्रास की युक्ति के द्वारा सोलह तुटियों का एक-एक तुटि को कम करने के रूप में) करते रहते हैं। प्रति समय अवशिष्ट रहने वाली अमाकला, जोकि शाक्तधामरूपी गुफा में वर्तमान रहने वाली अमावस्या कही जाती है, (केवल देवताओं को ही नहीं प्रत्युत) सारे विश्व को (अन्तः या बहिः समानरूप से) तृप्ति प्रदान करती है।"

इस कालिका क्रम नामी आगम में वर्णित नीति के अनुसार विश्व के सारे देवताओं अर्थात् नाना रूपों वाली, विश्वभर की सृष्टि संहार आदि क्रीडाओं को सम्पन्न करने वाली शक्तियों को, निजी पारमार्थिक चित्-रूप में चमत्कृत करते हुए अर्थात् चतुर्दिक अहंभाव की आनन्दमयता में विश्रान्त करते हुए (स्वात्मयाग करते रहते हैं)।

मूलग्रन्थ—कीदृक् त्वम्?

गृहपतिरिव। सोऽपि हि पूर्णामृतकल्पमामावस्यं चरुं प्रसाध्य, तेनाग्निप्रमुखसर्वजगत्तर्पणं वैश्वदेवं च कृत्वा तच्छेषमश्नन् स्वात्मदेवतायागं करोति।

अनुवाद— किस प्रकार के रूप वाले आप? (इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं—)

गृहपतिः (घरवाला, गृहस्थी) जैसे बनकर वह गृहपति भी अमावस्या की तिथि पर परिपूर्ण अमृत जैसे चरु (हव्यान्न, पुरोडाश) को पकाकर और उससे अग्नि इत्यादि देवताओं के समेत सारे जगत् को तृप्ति प्रदान करने वाला वैश्वदेव करने के उपरान्त, अवशिष्ट हव्यान्न को खाता हुआ स्वात्मदेवता का ही याग करता रहता है।

मूलग्रन्थ—बाह्योऽपि सूर्यः स्वरश्मितापप्रद्रावितसोमकला पञ्चदशकेन देव-ऋषि-नरात्म-जगत्तर्पणं विधायामाख्यकलाचमत्कारात्म स्वात्मयागं ब्रह्माण्डस्यान्तर्विधत्ते।

अनुवाद— बाहरी स्थूल सूर्यदेव भी अपनी प्रखर किरणों के प्रचण्ड ताप से चन्द्रमा की पन्द्रह कलाओं को (हरेक तिथि पर एक एक कला के क्रम से) पिघला कर उससे देवता, ऋषि और 'नर' अर्थात् सर्वसाधारण• मानव एवं मानवेतर प्राणियों के रूपवाले सारे जगत का तर्पण करके, ब्रह्माण्डरूपी घर में अवस्थित होकर, अवशिष्ट अमाकला को 'चमत्कृत' अर्थात् स्वरूप की आनन्दमयता के साथ एकाकार बनाने के रूप में आत्मयाग ही करता रहता है।

टिप्पणियां

१. शाक्त-ब्रह्म अथवा दूसरे शब्दों में शक्ति-अण्ड सारे विश्वमय विस्तार को द्योतित करता है। इसके विषय में थोड़ा बहुत प्रकाश डाला गया है।

विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए प० त्रि० भा० पृष्ठाङ्क १६९ से १९३ तक देखें।

२. पहले भी समझाया गया है कि शैव योगक्रम में 'सोम' शब्द से प्राणापान का अभिप्राय लिया जाता है। प्राणापान तो वास्तव में चित्-शक्ति का ही बहिरंग स्थूल रूप है। इस सम्बन्ध में भट्टकल्लट का निम्नलिखित सूत्र विचारणीय है —

'प्राक् संवित् प्राणे परिणता'।

इसका तात्पर्य यह है कि पराशक्ति अथवा दूसरे शब्दों में परासंवित् अपने ही बहिरंग प्रसार-रूपी विश्व में जीवनशक्ति को अनुस्यूत करने के लिए, अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा बहिमुखीन विसर्ग के प्राथमिक क्षण पर, स्वरूप को ही प्राणना (सर्वसामान्य जीवनाशक्ति) के रूप में परिणत कर देती है। वही प्राणना अर्थात् सामान्य जीवनाशक्ति अपने सामान्यरूप में समूचे जड़-चेतनमय विश्व और विशेष रूप में प्रत्येक भौतिक पिण्ड को चेतनामय बना देती है। इस विशेषरूप में यह प्राणना स्थूल प्राणापान का रूप धारण कर लेती है जिसके अन्तः-बहिः, अपान एवं प्राण के रूप में संचार करने से भौतिक काया, मूलतः जड़ होने पर भी चेतन की तरह क्रियाशील बन जाती है। इसी प्राणापानरूपी प्राणतत्त्व को पारिभाषिक रूप में सोम कहा जाता है। स्थूल प्राणशक्ति योगाभ्यास के द्वारा व्यानरूपता के अधिगम से पुनः अपने मौलिक परासंवित्-भाव पर पहुंच जाती है।

३. चरु शब्द से हव्यान्न का अभिप्राय है। कश्मीर एवं देश के अन्य भागों में भी कम से कम स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले साग्नि कुलों में नियमित रूप से पक्षयाग करने का प्रचलन था। ऐसे कुलों के गृहपति हर पूर्णिमा और अमावस्या की तिथियों पर, व्यतीत पखवाड़े में जाने या अनजाने में किये गये पापों का प्रायश्चित करने के लिए पक्षयाग (पखवाड़े की समाप्ति पर किया जाने वाला अग्निहोत्र) स्वयं करते थे या पुरोहित के द्वारा करवाते थे। अग्नि में चरु अर्थात् विशेष प्रकार से पकाये गये हव्यान्न की आहुति डाली जाती थी। चरु को दूसरे शब्दों में पुरोडाश भी कहते थे। पुरोडाश चावल के आटे की छोटी छोटी रोटियों को कहते थे। कश्मीर में अधिकतर इन्हीं की आहुति अग्नि में डाली जांती थी। कश्मीरी भाषा में ऐसी रोटियों

को व्रोचिवोर्र कहते हैं। पक्षयाग करने के उपरान्त अवशिष्ट चरु का नैवेद्य खाकर ही गृहपति आगामी पखवाडे का कार्यक्रम आरम्भ करते थे।

प्राणाभ्यास के क्रम में भी दोनों द्वादशान्तों की दो पूर्णिमाओं एवं अमावस्या के रूप वाली संधियों पर आन्तरिक प्राणीय पक्षयाग सम्पन्न हो जाता है। इसमें प्राणशक्ति आन्तरिक चितिशक्तिरूपी आग में अपनी ही आहुति डाल देती है। तात्पर्य यह कि प्राणापान ऊर्ध्व-द्वादशान्त एवं अधो-द्वादशान्त की सन्धियों में चिति-शक्ति में ही लय हो जाते हैं। इस आन्तरिक वैश्वदेव में मूलतः चितिरूपिणी प्राणशक्ति मध्यधाम में अवस्थित चितिशक्ति में ही अपनी आहुति डाल देती है अतः इसका नाम स्वात्मयाग है।

४. ऊर्ध्व-द्वादशान्त पर प्राणीय अमाकला प्रतिष्ठित होती है। यह अविनश्वर कला है। तन्त्रालोक, स्वच्छन्द, परात्रिंशिका इत्यादि उच्चकोटि के शास्त्रों में इस कला का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, परन्तु तथापि योगी लोग ही उसकी अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं। इसके विषय में पहले ही सङ्केतरूप में थोड़ी-बहुत जानकारी प्रस्तुत की गई है। यहां पर केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि इसी अमाकला को गुरुपरम्परा में भगवान चन्द्रमौलि के सिर पर सदा वर्तमान चन्द्रकला अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र के स्थान पर योगिजनों के द्वारा अनुभूयमान सोमकला = अमृतकला कहते हैं।

प्रस्तुत पद्य के सन्दर्भ में भगवान चित्-सूर्यदेव स्वयं ही ब्रह्माण्डरूपी घर, घरवाला, अमाकला, नैवेद्य, शाक्तभूमिका (तुरीया) आत्मयाग करने वाला यजमान, इत्यादि सारे रूपों में स्फुरायमाण है।

श्लोक २८

मूलश्लोक

कृत्वा नक्तन्दिनमिव जगद्बीजमाव्यक्तिकं यत्
तत्रैवान्तर्दिनकर तथा ब्राह्ममन्यत्ततोऽल्पम्।
दैवं पित्र्यं क्रमपरिगतं मानुषं चाल्पमल्पं
कुर्वन्कुर्वन्कलयसि जगत्पञ्चधावर्तनाभिः॥

अन्वय– हे दिनकर ! यत् जगत्-बीजम् इव नक्तंदिनं (तत्) कृत्वा तत्र एव अन्तः जगत्-बीजम्, आव्यक्तिकं तथा ततः अल्पम् अन्यत् ब्राह्मं, च अल्पम् अल्पं क्रमपरिगतं दैवं, पित्र्यं, मानुषं कुर्वन् कुर्वन् जगत् पञ्चधा आवर्तनाभिः कलयसि।

सङ्केत– जैसा कि ऊपर अन्वय में दिखाया गया है, इस पद्य का अर्थ करते समय 'जगत्-बीजम्' इस शब्द की आवृति करके दो बार प्रयोग में लाना आवश्यक है।

अनुवाद– हे भगवान दिनकर ! आप पहले उस रात-दिन के कालविभाग को उपजाते हैं जो कि सारे 'जगत्' अर्थात् असीम विश्व का बीज[१] है। उपरान्त उसी के अन्तर्गत 'जगत्-बीज' अर्थात् संसारभाव के मूलकारण मायीय रात-दिन एवं 'आव्यक्तिक' अर्थात् प्राकृतिक रात-दिन की रचना करते हैं। उसके अन्तर्गत, परन्तु अपेक्षाकृत न्यून परिमाण वाले देवताओं, पितरों और मानवों के रात्रि-दिनों को आभासित करते करते सारे जगत को पांच अवस्थाओं के नियमित आवर्तनों के द्वारा सुचारु ढंग से व्यवस्थित भी करते रहते हैं।

टिप्पणियां

१. सारे विश्व के बहिरवभासन का मूलहेतु बने हुए इस मौलिक (जगत-बीज नामक) रात-दिन से क्रमशः विश्व के प्रलयकाल एवं स्थितिकाल का अभिप्राय है। इस अनगिनत परार्धों वर्षों के आयाम वाले रात-दिन के साथ बीच वाले दो सन्ध्याकालों के आयाम को भी जोड़कर यह, मानुष परिमाण से, संख्यातीत वर्षों के परिमाण वाला रात-दिन बनता है।

२. जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या और तुर्यातीत ये पांच अवस्थायें हैं।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– हे दिनकर विश्वोदयकारिदिवससम्पादक चिद्भानों, जगतः सदाशिवान्तस्य विश्वस्य यद् बीजमारम्भावसानयोरुदयापवर्गकारणं, श्रीस्वच्छन्दादिदिष्टवितततपरार्धात्मकालरूपमहोरात्रं, तत्कृत्वाभास्य, तत्रै-वान्तर्जगतः, कलादिक्षित्यन्तस्याशुद्धाध्वरूपस्य बीजं मायेय (मायीय) महोरात्रं, तदन्तरप्याव्यक्तिकं प्राकृतं, तदन्तरपि ब्राह्मं, तत्रापि दैवं, तत्रापि

पित्र्यं पितृसम्बन्धि, तत्रापि मानुषं, क्रमेणाल्पमल्पं कुर्वन्कुर्वन्निव वैचित्र्यसहस्त्रैराभासयन्निव, जगद्विश्वं, पञ्चधावर्तनाभिर्विचित्रजागरादिदशा-पञ्चकपरावर्तनैः, कलयसि अन्तरवस्थितं बहिः क्षिपसि निर्मिमीषे।

अनुवाद— हे भगवान 'दिनकर' अर्थात् बहिरङ्ग विश्व को उदय में लाने वाले दिन को जन्म देने वाले चित्-सूर्यदेव, आप पहले पृथिवी तत्त्व से लेकर) सदाशिव-तत्त्व तक के विस्तार वाले जगत के 'बीज' अर्थात् उसके आरम्भ और अन्त इन दोनों कोटियों के उदय एवं विश्रान्ति का कारण बने हुए और श्रीस्वच्छन्दतन्त्र में वर्णित उपदेश के अनुसार अगणित परार्धों वर्षों के कालपरिमाण वाले दिन-रात का आभासन करते हैं। उपरान्त उसी (मौलिक दिन-रात) के अन्तर्गत कला-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व तक के विस्तार और अशुद्ध[१]-मार्ग के रूप वाले संसार के मूलकारण बने हुए मायीय दिन-रात को प्रकाशित करते हैं। उसके भी अन्तर्गत 'आव्यक्तिक' अर्थात् प्रकृति के, उसके भी अन्तर्गत ब्रह्माजी के, उसमें भी देवताओं के, उसमें भी पितरों के, उसमें भी मानवों के दिन-रातों को, निश्चित क्रम के अनुसार उत्तरोत्तर छोटे-छोटे परिमाणवाले बनाते बनाते जैसे, अर्थात् हजारों प्रकार के विचित्र रूपों में प्रकाशित करते करते जैसे, उपजाते हैं। इस प्रकार (के अपने अपने निर्धारित काल परिमाण वाले दिन-रातों मे) आभासित किये जाने वाले जगत को अति अद्भुत रूप वाली जाग्रत आदि पांच अवस्थाओं के चक्कर में डालकर कलित करते हैं। तात्पर्य यह कि चित्-विमर्श में पहले से ही विद्यमान होने पर भी इसको बहिरङ्ग (स्थूल एवं स्वरूप से अलग जैसा दिखाई देने वाले) रूप में धकेल देते हैं अर्थात् इसका निर्माण करते हैं।

मूलग्रन्थ— निर्मितं च कलयसि-इदमित्थमिदमिदमिति संख्यानेन स्थापयसि। स्थापितमपि कलयसि अन्तः संहरसि। संहृतमपि कलयसि संस्कारगालनेन विमृशसि। विमृष्टमपि कलयसि स्वात्माभेदेन जानीषे, स्वप्रकाशैक्यमापादयसि तथा पुनरपि स्वरूपात् कलयसि नवं नवमुल्लासयसि। इत्येवं सर्ग-स्थिति-संहति-विलापन-स्वात्मैक्याभासनपर-म्परान्दोलनलीलाक्रान्तं करोषि। अत्र 'जगद्बीजम्' आवर्त्य द्विर्योज्यम्। अल्पमल्पमित्ति वीप्सायाम्।

अनुवाद— (इस निर्माण की प्रक्रिया का क्रियान्वयन इस प्रकार है—)

१. (निजी चित्-विमर्श में) पहले से ही निर्मित होने पर भी उसका (जगत का) कलन करते हैं अर्थात् बहिरंग (स्थूल) रूप में अवभासन करते हैं— सृष्टि।

२. 'यह इस प्रकार है, यह यह है' इस प्रकार अलग अलग रूपों में सुव्यवस्थित करके उसकी स्थापना करते हैं— स्थिति।

३. स्थापित करने पर भी उसका कलन करते हैं अर्थात् निजस्वरूप में फिर समेट लेते हैं— संहार।

४. समेट लेने पर भी उसका कलन करते हैं अर्थात् उसमें वर्तमान (मायीय) संस्कारों को गलाते रहने का विर्मश करते हैं— विलापन।

५. उस रूप में विमर्श का विषय बनाये जाने पर भी उसका कलन करते हैं अर्थात् स्वरूप के साथ अभिन्न जानकर स्वप्रकाशमयता के साथ एकाकार बना देते हैं— अनुग्रह अथवा स्वात्मैक्याभासन।

इसके अतिरिक्त फिर भी निजस्वरूप से पृथक् रूप में उसका (विश्व का) कलन करते हैं अर्थात् नये ही नये आकार-प्रकारों में अवभासित करते हैं।

सार यह कि इस प्रकार से उस जगत को, सृष्टि, स्थिति, संहार, विलापन और स्वात्मैक्याभासन इन पांच पारमेश्वर कृत्यों के पारस्परिक आन्दोलन के रूपवाली लोकोत्तर लीला के वशवर्ती बनाते रहते हैं।

इस पद्य में प्रयुक्त 'जगद्बीजम्' शब्द को (अर्थसङ्गति के लिए) दो बार आवर्तित करके प्रयोग में लाना चाहिये।

साथ ही 'अल्पम् अल्पम्' इस शब्द की पुनरुक्ति 'वीप्सा' अर्थात् भिन्न भिन्न स्तरों पर दिन-रात के परिमाण में धारावाहिक घटौती के भाव को अभिव्यक्त करने के लिए की गई है।

मूलग्रन्थ— अयमाशयः- यद्यस्य यावदहोरात्रं तत्तदीये प्राणचारे तदंशांशिकास्वपि वा श्रीस्वच्छन्दादिष्टमासोदयादिषष्ट्यब्दोदयान्तप्रक्रियया योगिज्ञानापेक्षयातिपरिमितमाभासयति भगवान्, तत्राप्यन्तर्विश्वै-कात्म्यप्रथनात् सदाशिवान्त-काल कलनामशेषामाभासयतीत्याभासमानोऽयं कालो न त्वस्य

वास्तवं किञ्चित्तत्त्वमस्ति। अत एवं कुर्वन्निवेतीवशब्देनायमेवार्थः स्पष्टः। वस्तुतो ह्येतावद्विश्वोदयावस्थान- विलापनाद्यात्मा परमेश्वर एवेति स्फुरति, न तु चिदेकवपुषस्ततोऽतिरिक्तं किमप्यस्ति।

अनुवाद— कहने का तात्पर्य इस प्रकार है— श्रीस्वच्छन्द में वर्णित उपदेश के अनुसार जिस प्रकार के जगत के दिन-रात का जितना काल परिमाण हो उसी अनुपात से (उस जगत के) योगिजनों के ज्ञान की अपेक्षा से उनके एक पूरे प्राणसञ्चार में या उसके (तुटिरूप) अंशों में भी एक मास की अवधि से लेकर साठ वर्षों की अवधि तक के काल परिमाण को आभासित करने की प्रक्रिया के द्वारा भगवान स्वयं ही घटौती करके आभासित करते हैं। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत भी, आन्तरिक रूप में, सारे विश्व की (स्वरूप के साथ) एकाकारिता का अनादि बोध होने के कारण, (पृथिवी-तत्त्व से लेकर) सदाशिव-तत्त्व के अन्त तक के सारे कालविभाग को भी आभासित करते हैं। फलतः जो यह कालविभाग आभासमान है, वास्तव में यह केवल आभासमानता है, इसमें कोई वास्तविक सच्चाई[२] नहीं है। इसी कारण से (प्रस्तुत टीका में) 'कुर्वन्निव' इस प्रकार 'इव' शब्द का प्रयोग करके इसी तथ्य की ओर इशारा किया गया है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि इतने विश्वों के उदय (सृष्टि), अवस्थान (स्थिति) और विलापन (संहार) इत्यादि रूपों में परमेश्वर (चित्-सूर्य) स्वयं ही स्फुरायमाण हैं। ऐसी तो कोई परिस्थिति नहीं है कि उस चित्-स्वरूप से अतिरिक्त और कोई दूसरी सत्ता विद्यमान हो।

मूलग्रन्थ—अत्र च मानुषाद्यहोरात्रप्रमाणं (परिमाणं) श्रीस्वच्छन्दे चोक्तम्—

'मुहूर्तास्तु तथा त्रिंशदहोरात्रस्तु मानुषः।
दक्षिणं चायनं रात्रिरुत्तरं चायनं दिनम्॥
पितृणां तदहोरात्रमनेनाब्दं तु पूर्ववत्।
एवं दैवस्त्वहोरात्रः . . . . .॥" इति।

यत्त्विह दैवं पित्र्यं पृथगुक्तं तत्पितृसम्बन्ध्यहोरात्रो ज्ञेयः। तेषां शुक्ल-कृष्ण रूपो हि सः। किञ्च —

'कल्पो ब्रह्मदिनं प्रोक्तं चतुर्युगसहस्रकम्।
षट्त्रिंशत्तु सहस्राणि ब्रह्मणः प्रलयोद्भवः॥
अव्यक्तस्थेषु रुद्रेषु दिनरात्रिश्च तावती।
प्राधानिक-परार्धेन दशधा गुणितेन तु।
माया संहरते सर्वं पुनश्चैव सृजेज्जगत्॥' इति।

तथा—

'शक्तिकालपरार्धस्य कोटिधा गुणितस्य च।
अनाश्रितस्य देवस्य दिनमेतत्प्रकीर्तितम्॥

इत्येव-मादि। तथैकत्र प्राणचारे घटिकोदयात् प्रभृति षष्ट्यब्दोदयान्तं विततं तत्रादिष्टं ग्रन्थगौरवभयान्न दर्शितम्। एवमहोरात्रकृत्त्वेन जगद्विपरिवर्तकत्वं भगवत उक्तम्॥

अनुवाद— इस सन्दर्भ में श्रीस्वच्छन्द में भी मानव जगत् एवं अन्य जगतों के दिन-रातों का परिमाण इस प्रकार समझाया गया है—

'मानव-जगत के दिन-रात का परिमाण तीस मुहूर्त है। पितृ-लोक की रात मानव-लोक के दक्षिणायन और दिन उत्तरायण के काल परिमाण के बराबर होते हैं और इसी अनुपात से मानवलोक की तरह वहां का भी वर्ष निर्धारित होता हैं। (तात्पर्य यह कि ऐसे ही ३६० दिन का वहां का भी वर्ष होता है)। इसी प्रकार देवलोक के रात-दिन का काल-परिमाण भी (बताया गया है।)'

इस उद्धरण में जो देवलोक और पितृलोक का अलग-अलग उल्लेख किया गया है उससे केवल पितृलोक के साथ सम्बन्धित दिन-रात समझना चाहिये। कारण यह कि देवताओं के दिन-रात का कालपरिमाण (मानव-लोक के) शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के बराबर होता है। और यह बात भी है—

चार हज़ार युगों के परिमाणवाला कल्प ब्रह्मा का एक दिन बताया गया है। (इस हिसाब से) ३६००० दिन अर्थात् १०० वर्ष ब्रह्मा जी के उद्भव और प्रलय की अवधि अर्थात् आयु का परिमाण है।

'अव्यक्त' अर्थात् मूल प्रकृति के क्षेत्र में रहने वाले रुद्रों के लिए उतना अर्थात् ब्रह्मा जी के पूरे आयु का परिमाण एक दिन-रात होता है।

पराधं संख्यक प्राधानिक (प्रकृति के) दिन-रातों को दस से गुणा करने पर बने हुए काल-परिमाण में माया (अपने क्षेत्र में) सारे जगत् का संहार और नई सृष्टि भी करती है।'

इसके अतिरिक्त—

'शक्ति-क्षेत्र के परार्ध संख्यक दिन-रातों के काल परिमाण को करोड़ से गुणा करने पर अनाश्रित देव (शिव की एक अवस्था) का एक दिन बताया गया है।'

इस प्रकार और और बातों का उल्लेख भी वहां पर किया गया है।

साथ ही वहां पर (योगी के) एक ही प्राणचार में एक घडी (२४ मिनट का कालखण्ड) के उदय से लेकर सठ वर्षों के उदय तक का विस्तृत लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया गया है परन्तु यहां पर ग्रन्थ का कलेवर बढ़ जाने के भय से उसको नहीं दर्शाया गया।

फलतः यह बात समझाई गयी है कि इस प्रकार (भिन्न भिन्न काल परिमाण वाले दिन-रातों का अभ्युत्थान करने से भगवान स्वयं जगत-प्रक्रिया का अदभुत परिवर्तन करते रहते हैं।

टिप्पणियां

१. माया-तत्त्व से ऊपर वाले तत्त्व अर्थात् शिव-तत्त्व, शक्ति-तत्त्व, सदाशिव-तत्त्व, ईश्वर-तत्त्व और शुद्धविद्या-तत्त्व ये पांच तत्त्व शुद्धाध्व अथवा शुद्धसृष्टि कहलाते हैं क्योंकि ये माया की वशवर्तिता से बाहर हैं।

माया-तत्त्व से निचले अर्थात् कला-तत्त्व से अन्तिम पृथिवी-तत्त्व तक के तत्त्व अशुद्धाध्व या अशुद्ध-सृष्टि कहलाते हैं क्योंकि इन पर माया का अंकुश रहता है।

२. श्रीपरात्रिंशिका भाषा के पृष्ठाङ्क १३ पर समझाये गये काल विभाग की काल्पनिकता-सिद्धान्त के अनुसार जब प्रत्येक जगत् के काल-विभाग का कोई एक ही निर्धारित रूप नहीं है तो कालविभाग की वास्तविकता कैसे सिद्ध हो सकती? वास्तव में काल-वैचित्र्य मात्र परमेश्वर का क्रिया-वैचित्र्य है और कुछ नहीं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में यह तथ्य अधिक विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

श्लोक २९

अनुक्रमणिका— **ये त्वहोरात्र-प्रशमे-रूढास्ते लोकोत्तरा एवेत्याह—**

अनुवाद— जो (योगाभ्यासी) साधक (प्राणापानरूपी) दिन-रात का उपशम करने में अभ्यस्त हों वे अवश्य संसारभाव से ऊपर उठे हुए व्यक्ति होते हैं— (अब आगे के श्लोक में) इसी तथ्य पर प्रकाश डाल रहे हैं—

मूलश्लोक

तत्त्वालोके तपन सुदिने ये परं संप्रबुद्धा
ये वा चित्तोपशम रजनीयोगनिद्रामुपेताः।
तेऽहोरात्रोपरमपरमानन्दसंध्यासु सौरं
भित्त्वा ज्योतिः परम-परमं यान्ति निर्वाणसंज्ञम्॥

अन्वय— हे तपन! ये तत्त्व-आलोके सुदिने परं सम्प्रबुद्धा, वा ये चित्त-उपशम- रजनी-योग--निद्राम् उपेताः (भवन्ति), ते अहोरात्र-उपरम-परमानन्द-संध्यासु सौरं ज्योतिः भित्त्वा निर्वाणसंज्ञं परमपरमं (पदं) यान्ति।

अनुवाद— हे महान प्रकाश के पुञ्ज चित्सूर्य, जो (योगी) यथार्थ प्रकाश के अनावृत होने के रूप वाले शुभ दिवस पर अत्यन्त सचेत रहते हैं, अथवा जो (योगी) 'चित्त' अर्थात् संकल्प-विकल्पों के क्षोभ का शमन करने के रूपवाली रात में योगनिद्रा में पड़े रहते हैं, वे सारे दिन-रात अर्थात् प्राणापान की निवृत्ति (मध्यनाडी में विलय) होने के रूपवाली और परम आनन्दमयी संध्याओं में स्थूल सूर्य (प्राणापान) के ज्योतिर्वलय का अवभेदन करके निर्वाण नाम वाले परम पद में प्रवेश पाते हैं।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— **हे तपन महाप्रकाशरूप, ये योगिनस्तत्त्वालोकात्मनि शोभनेऽनिशोदितेऽनस्तमिते दिने पारमार्थिके सर्वदशानुस्यूते सर्वतोमुखे चित्प्रकाशे सम्यक् प्राणायामाद्यायासं विना विमर्शयुक्त्या प्रबुद्धा गलिताख्यातितामिस्राः,**

अनुवाद— हे भगवान 'तपन' अर्थात् महान प्रकाशमय (चित्सूर्य) !, जो योगी (अपने अन्दर) तात्त्विक प्रकाशमयता का उन्मेष हो जाने के रूपवाले

अति सुन्दर, नित्य उदीयमान और अस्तरहित 'सुदिन' अर्थात् पारमार्थिक, सब दशाओं में व्याप्त रहने वाले और सर्वव्यापी चित्प्रकाशरूपी शोभायमान दिवस की वेला पर, प्राणायाम इत्यादि आयामों के विना, केवल निजी चित्-विमर्श के बल से, अपने अन्दर स्वरूप-अज्ञान के अन्धेरे को छिन्न-भिन्न करके, प्रबुद्ध प्रमातृभाव पर टिके रहते हैं,

मूलग्रन्थ— ये चान्ये चित्तोपशम एव सर्वबाह्याभ्यास-निवृत्ति-हेतुत्त्वाद् रजनी, तस्यां योगनिद्रामुपेताः प्रशमित-विकल्पसविकल्प-प्रकाशैक्यमापन्नाः ।

अनुवाद— और जो दूसरे प्रकार के योगी (निरन्तर साधना के द्वारा त्रिगुणमय) चित्त को शान्त करने के रूप वाली रात, जिसको सारे बाहरी (दिखावे की साधना के) आयासों को दुतकारने के कारण से ही रात के साथ समानता की गई है, में योगनिद्रा में निमग्न होते हैं अर्थात् सारे विकल्प जालों को शान्त करके आन्तरिक विकल्पहीन आलोकमयता के साथ एकाकार होकर अवस्थित रहते हैं,

मूलग्रन्थ— उभयेऽपि ते प्राग्वर्णित-समस्ता हो रात्रो परम एव परमानन्दरूपसंध्यानिमज्जत्प्राणापान-व्याप्तिशिवसामरस्य-भुवः सर्वतोदिक्क-मुदिताः, तासु सौरमिति प्राणीयमपरमिति स्थूलं ज्योतिः संकुचितं प्रकाशं भित्त्वा निःसंस्कारं विलाप्य परं निर्वाणमार्गं यान्ति सदा परं शाक्तं धामाश्लिष्यन्ते ।

अनुवाद— वे दोनों प्रकार के योगी पूर्वसूत्र में वर्णित प्रत्येक प्रकार के दिन-रातों की निवृत्ति हो जाने पर ही अनुभव में आने वाली और परम आनन्दमयता के रूप वाली संध्या की वेला में, जबकि प्राणापान की व्यापकता के डूबने अर्थात् मध्यधाम में लय हो जाने के तत्काल ही शिवमयी समरसता की भूमिका का चतुर्दिक् उदय हो जाता है, 'सौर' अर्थात् प्राणापान से सम्बन्धित और 'अपर' अर्थात् दूसरे स्थूल एवं सङ्कुचित प्रकाशमण्डल का अवभेदन करके, अर्थात् संस्कारों के सहित स्वरूप में ही विलीन करके, परम उत्कृष्ट 'निर्वाण मार्ग' अर्थात् सर्वोच्च शाक्त तेज के पुञ्ज के साथ हमेशा के लिए एकाकार हो जाते हैं ।

श्लोक ३०

अवतरणिका—न केवलां चित्रां कालकलनाम् अकालकलितस्वरूप-समापत्तिं च दर्शयसि, यावज्जगदुदयापायावपीत्याह—

अनुवाद— अब स्तुतिकार यह बतला रहे हैं कि हे भगवान आप केवल विचित्र प्रकार की काल-कलना और उसका निजी अकालकलित स्वरूप में लयीभाव ही नहीं, प्रत्युत सारे जगत के उदय और अस्त की लीला भी दिखा रहे हैं—

मूलश्लोक

आब्रह्मेदं नवमिव जगज्जङ्गमस्थावरान्तं
सर्गे सर्गे विसृजसि रवे गोभिरुद्रिक्तसोमैः।
दीप्तैः प्रत्याहरसि च लये तद्यथायोनि भूयः
सर्गान्तादौ प्रकट-विभवां दर्शयन्रश्मिलीलाम्॥

अन्वय— हे रवे (त्वं) सर्ग-अन्त-आदौ प्रकट विभवां रश्मिलीलां दर्शयन् आब्रह्म जङ्गम-स्थावर-अन्तम् इदं जगत् उद्रिक्त-सोमैः गोभिः सर्गे सर्गे नवम् इव विसृजसि, लये च तत् दीप्तैः (गोभिः) यथायोनि भूयः प्रत्याहरसि।

अनुवाद— हे भगवान सूर्यदेव! (आप) प्रत्येक सृष्टि के अन्त और आदि (दोनों कोटियों) पर अपनी स्पष्ट रूप में अनुत्तरीय वैभव[१] से परिपूर्ण 'रश्मियों' अर्थात् (पारमेश्वरी) शक्तियों की लीला को दिखाते हुए, ब्रह्मा से लेकर जङ्गम और स्थावरों तक के प्रमेय पदार्थों से भरे हुए विश्व को, प्रत्येक सृष्टिकाल पर, अपनी अमृतमयी किरणों के द्वारा नये नये रूपों में उत्पन्न, और प्रत्येक प्रलयकाल पर अपनी 'दीप्त' अर्थात् (अग्नि के समान) उज्जवल किरणों के द्वारा, अपने अपने कारणों में लय करते हुए, फिर भी संहृत करते हैं।

टिप्पणियां

१. सृष्टिकाल पर इतने असीम एवं अनन्त विचित्रताओं से भरे जगत को, किसी उपकरण संभार के विना केवल इच्छाशक्ति के द्वारा, स्वरूप से पृथक् रूप में जैसे, अवभासित करने, और प्रलयकाल पर फिर इतने अनन्त

रूपविस्तार को, इच्छामात्र से ही, अपने अपने कारण तत्त्वों में लय करके, स्वरूप में संहत करने के रूप वाले अति दुर्घट कृत्य को सम्पन्न करने की लोकोत्तर क्षमता ही चित्-तत्त्व का वैभव है। परमतत्त्व के विना और किसी मानव या देवता में भी ऐसा कल्पनातीत ऐश्वर्य नहीं है।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— आब्रह्मणः शाक्ताद्रूपादाब्रह्म, निजंपरं शाक्तं रूपं वर्जयित्वा, इदं सर्वं सादाशिवादि क्षित्यन्तं , जङ्गम-स्थावरे अन्तौ भागौ यस्य तादृक् जगत् सर्गे सर्गे प्रथमेच्छोन्मेषात्मन्यादिसर्गे, भूयो भूय, उद्रिक्तसोमैः स्फीतशाक्तामृतैर्, गोभिर्मरीचिभिर् विसृजसि-आश्यानीभूतं निजरश्मिरूपं प्रकटयसि।

अनुवाद— हे भगवान सूर्य देव! आप बार बार सृष्टि के आरम्भ पर 'ब्रह्म' अर्थात् (पूर्वोक्त) शाक्त ब्रह्म से लेकर, अर्थात् आपके[१] निजी सर्वोत्कृष्ट शाक्तरूप को छोड़कर, शेष सदाशिव-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व तक के विस्तार और जङ्गम एवं स्थावर योनियों के, अन्तिम भागों से युक्त सारे जगत को, इसके 'आदिसर्ग[२]' अर्थात् बहिरंग रूप में आभासित करने की (पारमेश्वरी) इच्छा के पहले उन्मेष के रूपवाली पहली-सर्जना की वेला पर ही, निर्मल शाक्त-अमृत से भरपूर किरणों (चित्-रश्मियों) के द्वारा उत्पन्न करते हैं। तात्पर्य यह कि (वास्तव में) अपनी चित्-किरणों को ही आश्यानीभूत[३] (जमे हुए ठोस) रूप में प्रकट करते हैं।

मूलग्रन्थ— भूयो दीप्तैरग्निप्रधानैर्गोभिस्तज्जगद्यथायोनि प्रत्याहरसि स्वस्वातन्त्र्यावभासित तत्तत्कारणनिवेशपुरःसंरलये स्वचिदैक्याभासनात्मनि संहारे प्रतीपमाहरसि- चिदेकमयमेव करोषि।

अनुवाद— फिर अपनी ही अग्निमय किरणों (संहार-कला) के द्वारा उस जगत को वापस स्वरूप में संहत करते हैं। इसका आशय यह है कि अपने (निर्बाध) स्वातन्त्र्य के द्वारा अवभासित किये हुए नाना प्रकार के कारण-तत्त्वों में वापस घुसेड़ने के रूप वाले विलय और (उन कारण-तत्त्वों को भी पूर्णतया) निजी चित्-रूपता के साथ एकाकारिता में अवभासित

संहार की दशा में वापस सिमट कर चित्-रूप में ही स्थापित
हैं।

लग्रन्थ– किं कुर्वन्?

र्गस्य सृष्टेरादौ अन्ते प्रकटं-विभवां स्फुटमाहात्म्यां रश्मिलीलां
जमरीचिविलासमाभासयन्॥

नुवाद– क्या करते करते (आप इस क्रियात्मता को संपन्न करते
शङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—)

ष्टि के आंरम्भ और अन्त– इन दोनों कोटियों पर अपने स्पष्ट
रे 'किरणों' अर्थात् अनन्त शक्तियों की लीला (पारमेश्वरी क्रीडा)
शन करते करते॥

टिप्पणियां

इस कथन का तात्पर्य यह है कि शैव मान्यता के अनुसार
और शक्ति-तत्त्व नित्य, कूटस्थ और अपरिणामी हैं। वास्तव में
त्त्व एक ही परमशिवतत्त्व है। केवल शिष्यों को समझाने के
से इनका औपचारिक द्वित्व कहा जाता है। अपरिणामी होने के
दो तत्त्व परिणामी विश्वमयता के अन्तर्गत नहीं माने जाते हैं।
रिणामी विश्वमय सदाशिव-तत्त्व से लेकर अन्तिम पृथिवी-तत्त्व तक
जाती हैं। प्रलय और उदय इसी विश्व के हो सकते हैं, शिव-शक्ति
विशेष जानकारी के लिए स्पन्दकारिका (भाषा के पहले ही सूत्र—
योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः॥'
भाषानुवाद एवं विवरण का अध्ययन करें।

शैव मान्यता यह है कि वास्तव में जगत की सृष्टि उसी समय
रूप में सम्पन्न हो जाती है जिस समय पारमेश्वर विमर्श में जगत
अवभासन की इच्छा का अंकुर फूट पड़ता है। इसी हेतु इस
दशा को ही 'आदिसर्ग' का नाम दिया गया है।

करने के संहार की दशा में वापस सिमट कर चिद्-रूप में ही स्थापित कर देते हैं।

मूलग्रन्थ— किं कुर्वन्?

सर्गस्य सृष्टेरादौ अन्ते प्रकर्ट-विभवां स्फुटमाहात्म्यां रश्मिलीलां प्रकटयन्निजमरीचिविलासमाभासयन्॥

अनुवाद— क्या करते करते (आप इस क्रियात्मता को संपन्न करते हैं? इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—)

सृष्टि के आरम्भ और अन्त— इन दोनों कोटियों पर अपने स्पष्ट महिमा भरे 'किरणों' अर्थात् अनन्त शक्तियों की लीला (पारमेश्वरी क्रीडा) का प्रकाशन करते करते॥

टिप्पणियां

१. इस कथन का तात्पर्य यह है कि शैव मान्यता के अनुसार शिव-तत्त्व और शक्ति-तत्त्व नित्य, कूटस्थ और अपरिणामी हैं। वास्तव में ये दो तत्त्व एक ही परमशिवतत्त्व है। केवल शिष्यों को समझाने के अभिप्राय से इनका औपचारिक द्वित्व कहा जाता है। अपरिणामी होने के कारण ये दो तत्त्व परिणामी विश्वमयता के अन्तर्गत नहीं माने जाते हैं। फलतः परिणामी विश्वमय सदाशिव-तत्त्व से लेकर अन्तिम पृथिवी-तत्त्व तक स्वीकारी जाती हैं। प्रलय और उदय इसी विश्व के हो सकते हैं, शिव-शक्ति के नहीं। विशेष जानकारी के लिए स्पन्दकारिका (भाषा के पहले ही सूत्र—

'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः॥'

का भाषानुवाद एवं विवरण का अध्ययन करें।

२. शैव मान्यता यह है कि वास्तव में जगत की सृष्टि उसी समय अविकल रूप में सम्पन्न हो जाती है जिस समय पारमेश्वर विमर्श में जगत के बहिरंग अवभासन की इच्छा का अंकुर फूट पड़ता है। इसी हेतु इस इच्छात्मिका दशा को ही 'आदिसर्ग' का नाम दिया गया है।

३. शैवमान्यता के अनुसार जगत कोई अलग सत्ता नहीं, प्रत्युत तरल चित्-रस का ही घनीभूत रूप है। इस घनीभाव को आश्यानता कहते हैं। इस पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है।

श्लोक ३१

मूलश्लोक

श्रित्वा नित्योपचितमुचितं ब्रह्मतेजःप्रकाशं
रूपं सर्ग-स्थिति-लयमुचा सर्वभूतेषु मध्ये।
अन्तेवासिष्विव सुगुरुणा यः परोक्षः प्रकृत्या
प्रत्यक्षोऽसौ जगति भवता दर्शितः स्वात्मनात्मा॥

अन्वय— (हे चित्-सूर्य) सर्ग-स्थिति-लय-मुचा भवता नित्य-उपचितम् उचितं ब्रह्म-तेजःप्रकशं रूपं श्रित्वा, सर्वभूतेषु मध्ये, अन्तेवासिषु सुगुरुणा इव, असौ आत्मा जगति स्वात्मना प्रत्यक्षः दर्शितः, यः प्रकृत्या परोक्षः (अस्ति)।

अनुवाद— (हे भगवान चित्-सूर्य !) आप स्वरूपतः सृष्टि-स्थिति और संहार जैसे परिणामों से सर्वथा अतिगत हैं। आप नित्य-परिपुष्ट और निजी स्वरूप के उचित ब्रह्मतेज की प्रकाश-मानता से युक्त रूप को धारण करके, जगत के समूचे प्राणिवर्ग के बीच में (भक्तजनों को) उस आत्मा का 'प्रत्यक्ष रूप में' अर्थात् विमर्श की आंखों के द्वारा स्वयं ही ठीक उसी प्रकार दर्शन करवाते हैं जिस प्रकार एक सिद्धगुरु अपने शिष्यों को करवाते हैं। हालांकि वह आत्मा स्वभाव से ही 'परोक्ष' अर्थात् इन्द्रियबोध से अतिगत है।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे भगवन्, यः प्रकृत्या स्वभावेन परोक्षोऽक्षागोचर आत्मा असौ जगति सर्वभूतेषु मध्ये भवतान्तेवासिषु अनुग्राह्येषु आत्मनैव प्रत्यक्षो दर्शितः स्वप्रकाशतया प्रकटीकृतः।

अनुवाद— हे भगवान (चित्सूर्य) ! आत्मा निजी स्वभाव से ही 'परोक्ष' अर्थात् इन्द्रिय-बोध से परे है। आपने उसी आत्मा को, (आपके ही) अनुग्रह का पात्र बने हुए शिष्यों के समान सब प्राणियों के अन्तस् में,

स्वयं ही, प्रत्यक्षरूप में दिखा दिया अर्थात् (योग्य भक्तजनों में) आन्तरिक स्वरूप ज्योति के रूप में प्रकट किया (अनुभूति का विषय बना दिया)।

मूलग्रन्थ— किं कृत्वा?

नित्योपचितं सदा परिपूर्णम्, उचितं चिदानन्दघनं, रूपं श्रित्वा देहादिनिमज्जनेनोन्मग्नं विधाय।

अनुवाद— क्या करने के उपरान्त? (इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—)

हमेशा हर प्रकार से पूर्ण और 'उचित' चिदानन्दभाव की घनता से ओतप्रोत रूप को धारण करके अर्थात् (किसी विरले भक्तजन के अन्तस् में) कायिक इत्यादि रूपों वाले आत्माभिमान को डुबो कर और चिदानन्द रूप को उन्मग्न बना कर।

मूलग्रन्थ— कीदृग् रूपम्?

ब्रह्मतेजः प्रकाशं बृहत्त्वाद् बृंहकत्त्वाच्च ब्रह्म, द्वैतदाहित्वात्तेजो यस्य तादृशः प्रकाशः प्रथा यस्य।

अनवाद— (शङ्का) कैसे रूप को धारण करके? (समाधान) ब्रह्मतेज की प्रकाशमानता के रूप को धारण करके। वह 'बृहत्' अर्थात् असीम और 'बृंहक' अर्थात् पुष्टिदायक होने के कारण ब्रह्म और द्वैतभावना के इन्धन को जलाने कारण तेज़ोमय कहा जाता है। ऐसे उस ब्रह्मतेज की प्रकाशमानता अर्थात् अनादि-बोध से परिपूर्ण (रूप को धारण करके)।

मूलग्रन्थ— कीदृशेन भवता?

सर्ग-स्थिति-लय-मुचा जननादिशून्येन, यथान्तेवासिषु शिष्येषु, शोभनेन दृष्टतत्त्वेन गुरुणा आत्मा दर्श्यते चिन्मयी सत्ता प्रकटीक्रियते, तथा त्वयान्तः परमात्मतया बहिश्च तेजो विश्वरूपतया स्वयमात्मा प्रकटीक्रियते।

अनुवाद— (शङ्का) कैसे आपने? (समाधान) उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इन तीनों का विषय न बनने वाले अर्थात् जन्ममरण से रहित। जिस प्रकार कोई तत्त्ववेत्ता गुरु अपने शिष्यों में 'आत्मा' अर्थात् चैतन्य से परिपूर्ण आन्तरिक सत्ता का रहस्य खोल देता है, उसी प्रकार आप भी निजी तेजस्विता

के रूपवाले आत्मभाव को, हृदय देश में (सर्वमध्यवर्ती) परमात्मा, और बाहर विश्व के रूप में, स्वयं प्रकट कर देते हैं।

श्लोक ३२

मूलश्लोक

लोकाः सर्वे वपुषि नियतं ते स्थितास्त्वं च तेषा-
मेकैकस्मिन् युगपदगुणो विश्वहेतोर्गुणीव।
इत्थंभूते भवति भगवन्न त्वदन्योऽस्मि सत्यं
किन्तु ज्ञस्त्वं परमपुरुषोऽहं प्रकृत्यैव चाज्ञः ॥

अन्वय— हे भगवन्! ते विश्वहेतोः वपुषि सर्वे लोकाः नियतं स्थिताः, त्वं च तेषाम् एकैकस्मिन् स्थितः, (अतः त्वं) अगुणः गुणी इव युगपत् (प्रतिभासि), भवति इत्थंभूते सति सत्यं (अहं) त्वद् अन्यः न अस्मि, किन्तु त्वं परम पुरुषः ज्ञः (असि), अहं च प्रकृत्या एव अज्ञः (अस्मि) ॥

अनुवाद— हे भगवान! समूचे विश्व को सत्ता प्रदान करने वाले आपके स्वरूप में, सारे लोक (भूः, भुवः, स्वः ये तीनों लोक) नियमित रूप में अवस्थित हैं, और आप भी स्वयं उनमें से प्रत्येक के अन्दर नियमित रूप से एक साथ ही अवस्थित हैं। अतः आप मूलतः गुणातीत होने पर भी सगुण जैसे दिखाई दे रहे हैं। आपके ऐसा होने की परिस्थिति में यह एक तथ्य है कि मैं (श्रीसाम्ब) आपसे भिन्न और कोई सत्ता नहीं हूँ, परन्तु (भेद इतना है कि) आप परमपुरुष सर्वज्ञ हैं, और मैं 'प्रकृति' अर्थात् आपकी ही की मायाशक्ति के प्रभाव से अज्ञान के अंधेरे में भटक रहा हूँ।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे भगवन् परानन्दात्मक स्वातन्त्र्यशक्तिस्वरूप परा-वागालिङ्गितमूर्ते, ते तव, विश्वहेतोरशेषकारणस्य, वपुषि प्रकाशानन्दघने स्वरूपे, सर्वे लोका लोक्यमाना पदार्थाः, लोकयिताश्च रुद्र-क्षेत्रज्ञ-रूपाः प्रमातारः स्थिताः।

अनुवाद— हे भगवान परम आनन्द से परिपूर्ण, स्वातन्त्र्य के स्वरूप वाले, परा-वाणी के द्वारा आश्रित मूर्ति वाले (चित्-सूर्य), सारे विश्व की

आभासमानता का मूलकारण बने हुए आपके 'प्रकाशानन्दघन' अर्थात् प्रकाश-विमर्शमय स्वरूप में, सारे 'लोक' अर्थात् इन्द्रिय बोध एवं अन्तः-करणों के द्वारा ग्राह्य नील एवं सुखरूपी प्रमेय-पदार्थ, और उनका ग्रहण करने वाले रुद्रप्रमाता (शुद्धाध्व पर अवस्थित प्रमाता) और क्षेत्रज्ञ (अशुद्धाध्व पर अवस्थित प्रमाता), ठहरे हुए हैं।

मूलग्रन्थ— त्वच्चिदात्मिकां सत्तां बिना हि कथमेते त्वत्तो विश्वहेतोरुदियुः?

अनुवाद— यदि ये सारे आपकी चित्-प्रकाशमयी सत्ता पर आधारित न होते, तो आप जैसे विश्व के मूलकारण से, इनका 'उदय' अर्थात् अपने अपने बहिरंग रूपों में अवभासमानता ही क्योंकर सम्भव हो सकती?

मूलग्रन्थ— तेषां च लोकानां सम्बन्धिन्येकैकस्मिन् वपुषि त्वं युगपदक्रमेणैव स्थितः, अन्यथा ते त्वत्प्रकाशतां विना हि कथं प्रकाशेरन्? अतश्च त्वं सत्त्वादिगुणहीनोऽपि विश्वात्मताभासगुणाद् गुणीवाभासि।

अनुवाद— इन सारे लोकों के साथ सम्बन्धित हरेक (चेतन या जड) पिण्ड में आप किसी क्रमात्मकता को अपनाये विना सर्वसामान्य रूप में अवस्थित हैं। यदि वैसी वस्तुस्थिति न होती तो वे सारे आपकी प्रकाशमानता के बिना स्वयं किस प्रकार प्रकाशित हो सकते? यही कारण है कि आप मूलतः सत्त्व आदि गुणों से रहित होने पर भी, विश्वमयता को बाहरी रूप में आभासित करने के स्वभाव से युक्त होने के कारण सगुण रूप वाले जैसे दिखाई दे रहे हैं।

मूलग्रन्थ— इत्थमुपवर्णिते विश्वात्मनि भवति सति सत्यमस्मि नान्यः, किन्तु त्वमेवंभूतः परमः पुरुषो ज्ञः परिपूर्णः सार्वज्ञादिधर्मः, अहमिति त्वयैव देहादिषु ग्राहितप्रमातृभावः प्रकृत्या त्वन्मायामाहात्म्यादज्ञः।

अतश्च देहादिप्रमातृतानिमज्जनेनाज्ञतां प्रशमय्य नित्यं स्वात्मसमावेशेन ज्ञतां ममोन्मज्जयेत्यर्थादुक्तं भवति।

अनुवाद— इस उल्लिखित प्रकार से आपको सारे विश्व की आत्मा मानकर वर्णन करने के उपक्रम में यह एक तथ्य है कि मैं (स्तुतिकर्ता साम्ब) आपसे कतई भिन्न नहीं हूँ, परन्तु वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि ऐसी लोकोत्तर विभूत्ति से परिपूर्ण आप परमपुरुष 'ज्ञ' अर्थात् सर्वज्ञता इत्यादि

प्रकार के (पारमेश्वर) स्वभावों से परिपूर्ण हैं, जब कि 'मैं' अर्थात् आपका अपना ही अंश जिसको आपने निजी इच्छा से ही शरीर इत्यादि पर अवलम्बित प्रमातृभाव (अहं-अभिमान) को अपनाने पर प्रेरित किया है, 'प्रकृति से' अर्थात् आपकी ही माया-शक्ति की महिमा से 'अज्ञ' अर्थात् पशुजनोचित सङ्कीर्ण जानकारी से युक्त हूँ।

फलतः यहां पर अर्थापत्ति से इस प्रार्थना की ध्वनि निकलती है कि आप मुझमें कायिक इत्यादि रूपों में बिखरे हुए आत्म-अभिमान को सर्वथा डुबो देने से मेरी अज्ञता को शान्त करके, स्वरूप-समावेश के द्वारा मेरी ज्ञता को उन्मज्जित करने का अनुग्रह करें।

श्लोक ३३

मूलश्लोक

सङ्कल्पेच्छाद्यखिलकरण प्राणवाण्यो वरेण्याः
सम्पन्ना मे त्वदभिनवनाज्जन्म चेदं शरण्यम्।
मन्ये चास्तं जिगमिषु शनैः पुण्यपापद्वयं तद्
भक्ति-श्रद्धे तव चरणयोरन्यथा नो भवेताम्॥

अन्वय– (हे चित्-सूर्य!) त्वद्-अभिनवनात् मे सङ्कल्प-इच्छा-आदि-अखिल-करण-प्राणवाण्यः वरेण्याः सम्पन्नाः, इदं जन्म च शरण्यं (सम्पन्नम्), मन्ये (मम) तत् पुण्य-पाप-द्वयं च शनैः अस्तं जिगमिषु (अस्ति), अन्यथा तव चरणयोः भक्ति-श्रद्धे नो भवेताम्।

अनुवाद– (हे भगवान चित्-सूर्य) एकाग्रभाव से आपकी स्तुति करने से मेरे (मानसिक) सङ्कल्प, कामनायें इत्यादि, सारी इन्द्रियां, प्राण और वाणी वरेण्य बन गये हैं, और मेरा यह जन्म भी शरणदायक बन गया है। मुझे ऐसा लगता है कि मेरे (जन्म-जन्मान्तरों से उपार्जित) पुण्य और पाप– ये दोनों भी अब धीरे-धीरे अस्त होने के प्रति अभिमुख हैं, क्योंकि यदि वैसा न होता तो मुझमें आपके चरणों के प्रति भक्ति और श्रद्धा का उन्मेष कभी न होने पाता।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— इत्थमज्ञस्यापि मे त्वदभिनवनाच्चिदात्मत्वदाभिमुख्य प्रवृत्तत्वत्परामर्शात्मस्तुति-वशात्, सङ्कल्पः स्थूलेच्छा, इच्छा सङ्कल्पकारण-भूता सूक्ष्मविकल्पपरामर्शात्मा, आदिशब्दात् प्रयत्नः, तदनन्तरमालोचनादानादि प्रवृत्तानि वाग्वर्जान्यखिलानि करणानि, सत्सहवृत्तिः प्राणः, सर्वत्रात्र सूक्ष्म-परामर्शरूपतया व्यापकत्वेन स्थिता वाणी, चेत्येते मम वरणे परानुग्रहे साधवो वरेण्या जाताः। तथेदमिति पश्चिमजन्म शरण्यं शरणे साधु अनुग्राह्यानुग्रहैकपरं सम्पन्नम्। अहं हि सर्वदशासु चिदर्कपरामर्शपरः परानप्यनुगृह्ण न् स्थितः।

अनुवाद— इस प्रकार अख्याति के मतिभ्रम में पडे रहने पर भी 'आपकी स्तुति करने से' अर्थात् आप चिदात्मा की ओर सर्वाङ्गीण रूप में अभिमुख बनने की प्रवृत्ति को उजागर करने वाली आपकी विमर्शमयी स्तुति करने के फलस्वरूप मेरे—

१. सङ्कल्प अर्थात् जागतिक स्तर की स्थूल इच्छायें,

२. इच्छा अर्थात् स्थूल सङ्कल्पों का मूल कारण बनी हुई और सूक्ष्म (पारमेश्वर) विकल्प का विमर्श कराने के रूपवाली इच्छा-शक्ति,

३. इत्यादि अर्थात् (स्वरूप अनुसन्धान के आन्तरिक आकस्मिक उन्मेष की दशा में 'अहंरूपी' आत्मबल से उस भाव पर टिके रहने के रूपवाला आन्तरिक) प्रयत्न,

और इनके उपरान्त—

४. १-(स्वरूप के) आलोचन, २- (वास्तविक स्वरूप की) पकड़ जैसी क्रियात्मकता पर लगी हुई, (स्थूल वैखरी) वाणी के बिना शेष १-ज्ञानेन्द्रियां और २-कर्मेन्द्रियां,

५. अस्तित्त्व की सहकारिता करने वाली प्राणशक्ति और

६. वाणी अर्थात् इस सारे प्रपञ्च में 'सूक्ष्मपरामर्श' अर्थात् अभेदमय स्वरूपविमर्श की सूक्ष्म स्पंदना के रूप में व्यापक रहने वाली (पश्यन्ती) वाणी,

ये सारे 'मेरे वरण में' अर्थात् मेरे द्वारा दूसरे जनों पर भी अनुग्रह होने की दिशा में साधक बनने से मेरे वरेण्य बन गये हैं।

इसके अतिरिक्त मेरा यह अन्तिम सांसारिक जन्म भी मेरे लिए 'शरणदायक' अर्थात् मुझ अनुग्रह के पात्र पर निरन्तर अनुग्रहकारक बन गया है। तात्पर्य यह कि मैं निश्चितरूप से सारी (लौकिक या आध्यात्मिक) अवस्थाओं में मात्र चित्-सूर्य का अनुसन्धान करने पर कटिबद्धता से लगा रहकर दूसरों पर भी अनुग्रह करने की स्थिति में अवस्थित हूँ।

मूलग्रन्थ– किञ्च मन्ये स्वानुभवेनैतच्चेतये यत्पुण्यपापद्वयं सुकृतासुकृतजातं सर्वं, तदित्यनन्तजन्मार्जितं, शनैरस्तं जिगमिषु हिमविलायं विलीयमानं स्थितम्। प्राक्संचितसर्वकर्मणां हि ध्वंसेऽपि देहारम्भक-कर्मणां ध्वंसोन्मुखत्वाज्जिगमिष्वित्युक्तम्। अन्यथेति– यदि नैवं स्यात् तत्कथं भवच्चरणयोर्भक्तिश्रद्धे भवेताम्। नैव स्याताम् यदुक्तं नन्दिशिखायाम्–

'यदा शिवेऽभिलाषो वै जायते च नृणां सदा।
तदा शिवाभिमानास्ते जायन्ते परमाणवः॥
मुक्तास्तदैव ते दीक्षां प्राप्नुवन्ति गुरोस्ततः॥" इति।

अनुवाद– साथ ही मैं निजी अनुभव से इतना भी चेत रहा हूँ कि अपने में जन्म-जन्मान्तरों से सञ्चित किये हुए पुण्यकर्म या पापकर्म दोनों धीरे धीरे अस्त हो जाने की ओर अभिमुख बनकर अब (पिघलती हुई) हिमानियों की तरह (अलक्ष्य रूप में) गलते जा रहे हैं।

यहां पर (मूलश्लोक में) 'जिगमिषु'[१] = अस्त होने के प्रति अभिमुख' यह क्रियापद इस अभिप्राय को जताने के लिए लगाया गया है कि यद्यपि मुझमें पहले जन्मों के सञ्चित कर्मों का ध्वंस तो हो ही गया है, तो भी वर्तमान शरीर में आने की वेला से प्रारब्ध कर्म अभी ध्वस्त होने की प्रक्रिया में हैं।

(मूलश्लोक में प्रयुक्त) 'अन्यथा' शब्द से यह तात्पर्य निकलता है कि यदि परिस्थिति अन्यथा होती तो (हे भगवन) आपके चरण कमलों के प्रति सच्ची भक्ति और श्रद्धा मुझ में कैसे उत्पन्न होती? कदापि नहीं होती। जैसा कि नन्दिशिखा नामक शास्त्र में कहा गया है—

'निश्चय से जिस समय मन में शिव को प्राप्त करने की अभिलाषा (तीव्रता से) जागरूक हो जाती है तो तत्काल आणव-वृत्तियों में 'शिवत्व-अभिमान' अर्थात् उत्कृष्ट शिवचेतना का समावेश स्वतः हो जाता है। वास्तव

में वैसे भक्तजन के मुक्त होने का उपक्रम तत्काल हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसको किसी (अज्ञात) सद्गुरु से अवश्य दीक्षा मिल जाती है'।

टिप्पणी

१. शैवमान्यता यह है कि जीवन्मुक्त अवस्था में प्रवेश पाने पर साधक के पूर्व सञ्चित-कर्मों का ध्वंस तो हो जाता है परन्तु उसके प्रारब्ध-कर्मों का ध्वंस तब तक संभव नहीं हो सकता जब तक वह उनके अच्छे या बुरे फल का उपभोग शरीर में रहते हुए ही न करे। तन्त्रालोक में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है।

श्लोक ३४

मूलश्लोक

सत्यं भूयो जननमरणे त्वत्प्रपन्नेषु न स्त-
स्तत्राप्येकं तव नुतिफलं जन्म याचे तदित्थम्।
त्रैलोक्येशः शम इव परः पुण्यकायोऽप्ययोनिः
संसाराब्धौ प्लव इव जगत्तारणाय स्थिरः स्याम्॥

अन्वय– (हे भगवन् !) 'त्वत् प्रपन्नेषु भूयः जनन-मरणे न स्तः'– (एतत्) सत्यम् (अस्ति), तत्रापि (अहं) तव नुतिफलम् एकं जन्म याचे, तत् इत्थं (भवतु) त्रैलोक्य-ईशः शमः इव परः पुण्यकायः अ-योनिः अपि संसार-अब्धौ जगत् तारणाय स्थिरः प्लवः इव स्याम्।

अनुवाद– (हे भगवान चित्-सूर्यदेव) 'आपकी शरण में आये हुए भक्तजनों को फिर दुबारा जीने और मरने के चक्कर में नहीं पड़ता होता है' – यह एक (निश्चित) सत्य है। ऐसी परिस्थिति के होते हुए भी मैं आपसे, इस स्तुति के फलस्वरूप, एक और जन्म की याचना कर रहा हूँ, उस जन्म का रूप ऐसा हो कि मैं तीनों 'लोकों' अर्थात्[१] 'भूः, भुवः, स्वः', अथवा 'भव, अभव, अतिभव', अथवा 'जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति', का अधिपति, लोकोत्तर शन्ति (शिवमय शान्ति) का साकार रूप जैसा, पवित्र शरीर वाला और 'अ + योनिः' अर्थात् चिदानन्दमय शिवत्व का उद्गम, बनकर सारे

जगत को संसार-सागर से पार उतारने के लिए एक दृढ़ 'प्लव' अर्थात् बेडा जैसा बन जावूँ।

टिप्पणी

१. जैसा कि क्षेमराज की व्याख्या पढ़ने से स्वयं स्पष्ट होगा कि उन्होंने श्रीसाम्ब के चलते हुए जन्म को ही पश्चिमजन्म मानकर उसी की अवधि बढाये जाने की याच्ञा किये जाने का अभिप्राय निकाला है, परन्तु उनकी वैसी व्याख्या कुछ मात्रा तक द्राविडप्राणायाम जैसी लगती है। श्रीसाम्ब स्वयं कृत-कृत्य होकर, स्पष्ट रूप में, लोकोपकार के लिए एक और जन्म की याचना कर रहे हैं, अतः इस स्पष्ट अभिप्राय को खींच-खींच कर दूसरे रंग में प्रस्तुत करने में उनका पूर्वाग्रह जैसा साफ नजर आ रहा है। निर्मल स्वभाव वाले सिद्धजन तो जनकल्याण अथवा लोकोद्धार के कार्य करना भूल नहीं जाते हैं। इसके शतशः उद्धरण इस समय भी हमारे सामने वर्तमान हैं।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे देव, यद्यपि त्वत्प्रपन्नेषु, त्वत्समाविष्टेषु, संसार-हेतु-सर्ववासनादाहाद् भूयो जनन-मरणे न स्तः, तथापि त्वन्नुतिस्त्वत्स्तुतिरैव फलं यस्य तादृगिदमेकं पश्चिमजन्म याचे— यथा भवदवमर्शात्मचमत्काराधायि एतन्मागात्।

अनुवाद— (हे परम पुरुष !) यद्यपि (निश्चित वस्तुस्थिति यह है किं) आप चित्-स्वरूप में आत्मिक रूप में एकाकार बने हुए भक्तजनों के लिए फिर से जन्म लेने और मरने का कोई बखेड़ा अवशिष्ट नहीं रहता, क्योंकि उनमें आवागमन का कारण बनी हुई वासनायें जलकर राख हुई होती हैं, तो भी मैं आपसे 'यह' अर्थात् वर्तमान में चलता हुआ अपना एक 'पश्चिमजन्म' अर्थात् अन्तिम सांसारिक जन्म, जिसका मात्र प्रयोजन आपकी स्तुति करना है, मांग रहा हूँ। (मेरी मांग का) तात्पर्य यह कि आपके स्वरूप का विमर्श करने की चमत्कारिता को प्रदान करने वाला यह (मेरा वर्तमान जन्म) अभी समाप्त न हो जाये।

मूलग्रन्थ– तदित्थमनेनैव त्वन्नुति-रसाविष्टेन प्रकारेणास्मिन्नेव देहे परः शङ्करात्मस्वभाव इव, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तात्मनि त्रैलोक्ये ईशः प्रभुः, न तु परतन्त्रः, अत एव पुण्यो दर्शनस्पर्शादिना परानुग्राही कायो यस्य तादृक्, अयोनिरिति नित्योदित-चिदानन्दैकघनः सन्, जगतो विश्वस्य तारणाय संसाराब्धिमध्ये प्लव इव पोत इव, स्थिरः स्यां चिरकालं भूयासम्।

अनुवाद– मेरे इसी पश्चिमजन्म का रूप ऐसा हो कि मैं—

१. इसी आपकी वन्दना करते रहने की रसमयता में निमग्न रहता हुआ,

२. इसी वर्तमान काया में परम उत्कृष्ट 'शम' अर्थात् जिसमें पूरे विश्वात्मक क्षोभ का शमन हो जाता है ऐसा परशिवात्मक स्वभाव जैसा ही बना हुआ,

३. किसी भी प्रकार की परतन्त्रता के बिना जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के रूपवाली त्रिलोकी का स्वेच्छा से संचालन करने की क्षमता से भरपूर,

४. इसी कारण से पवित्र शरीर वाला अर्थात् दूसरे मुमुक्षुजनों को दर्शन देने या स्पर्श इत्यादि करने के द्वारा उन पर भी अनुग्रहकारी काया से युक्त और

५. 'अ-योनि' अर्थात् हमेशा उदित रूप में ही वर्तमान रहने वाले चिदानन्दभाव के प्राचुर्य में निलीन रहता हुआ–

इस संसार रूपी सागर में सामान्य रूप से सारे जनों का बेडा पार लगाने के हेतु, प्लव (काठ की फटियों से बनाया हुआ बेडा) जैसा बनकर, चिरकाल तक दृढता एवं पूरी-क्षमता से कार्य करता रहूँ।

श्लोक ३५

मूलश्लोक

सौषुम्णेन त्वममृतपथेनैत्य शीतांशुभावं
पुष्णास्यग्रे सुर-नर-पितॄन् शान्तभाभिः कलाभिः।

पश्चादम्भो विशसि विविधाश्चौषधीस्तद्गतोऽपि
प्रीणास्येवं त्रिभुवनमतस्ते जगन्मित्रतार्क ॥

अन्वय– हे अर्क! त्वं सौषुम्णेन अमृतपथेन शीतांशु-भावम् एत्य शान्तभाभि: कलाभि: अग्रे सुर-नर-पितृन् पुष्णासि, पश्चात् अम्भ: विविधा: औषधी: च विशसि, एवं तत् गत: अपि प्रीणासि त्रिभुवनम्, अत: ते जगत्-मित्रता (अवितथा वर्तते)।

अनुवाद– हे चित्-अर्क! आप सुषुम्ना-नाडी के रूपवाले पुष्टिदायक (मध्यम) मार्ग के द्वारा अपान-चन्द्रमा के रूप पर पहुंच कर पहले अपनी शीतल (बाहरी संकल्प-विकल्पों से रहित) कलाओं से (अन्त: विमर्शमयी शक्तियों से) देवता, मनुष्य एवं पितरों को तृप्ति प्रदान करते हैं, उपरान्त जल (बहिर्मुखीन प्राणवाहिनियों) और औषधियों (अचल प्रमेय पदार्थों) में प्रविष्ट होकर भी तीनों लोकों को 'प्रीणन' अर्थात् तृप्ति, पुष्टि प्रदान करते हैं। इस कारण से आप सारे जगत् के सच्चे मित्र हैं— (संस्कृत भाषा में सूर्य को मित्र भी कहते हैं)।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– हे अर्क ! अतो हेतोस्ते जगतो मित्रता यौगिकमित्र-शब्दाभिधेयत्वम्—यतस्त्वं सौषुम्णेन मध्यमेन, अमृतपथेन आप्यायिना मार्गेण, शीतांशुभावम् अपानचन्द्रत्वम्, एत्यागत्य, अग्रे प्रथमं सुरादीन् सर्वान् प्रमातृन्, पुष्णासि लब्धावस्थितीन् करोषि।

अनुवाद– हे भगवान अर्क देव! आपको इन (निम्नलिखित) कारणों से जगत का 'मित्र' अर्थात्— यौगिक व्युत्पत्ति के द्वारा— 'मिद्यति स्निह्यति इति मित्र:, मित्रं वा = जो स्नेह करे उसको मित्र कहते हैं'— बोध में आने वाला सच्चा स्नेही मित्र कहा जाता है—

(क) आप सुषुम्णा[१] नामवाली मध्यनाडी के 'अमृतमय[२]' अर्थात् पुष्टिदायक मार्ग से शीतल किरणों से युक्त अपानचन्द्रमा की पदवी पर पहुंचकर सब से पहले, देवता इत्यादि सारे प्रमाताओं को पुष्टि प्रदान करते हैं अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप से परिचित करा देते हैं।

मूलग्रन्थ– केन?

शान्तभाभिरन्तर्मुखीभावेनोपसंहृतबाह्यप्रथाभि:, कलाभिरादिविसर्गान्त-स्वाभाविमर्शशक्तिभि: (स्वाभाविक-विमर्शशक्तिभि:) ।

अनुवाद— किसके द्वारा (पुष्टि प्रदान करते हैं)? (इस शंका का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—)

ऐसी 'कलाओं' अर्थात् अ-कला से लेकर अः-कला तक की (सोलह) स्वाभाविक (पारमेश्वरी) विमर्श-शक्तियों के द्वारा जिनकी किरणमाला शान्त बनी होती है। कहने का तात्पर्य यह कि जिन्होंने अपने बहिर्मुखीन ज्ञानों के रूपवाले प्रसार को, स्वयं अन्तर्मुखीन आत्मभाव की दिशा में मुड़े जाने के कारण, अपने साथ उस अन्तर्मुखभाव में ही संहृत किया होता है।

(ख) मूलग्रन्थ— पश्चादनन्तरमम्भ इति बहिः प्रसर प्रवृत्तान् सर्ववाहान्, विशसि स्वामृताच्छुरितान् करोषि। विविधा-श्चौषधीर्विशसि स्थावरादिसर्वबाह्याभासान् स्वप्रकाशापूरितान् विधत्से। तद्गतो मेयपञ्चात्मतया स्फुरितोऽपि त्रिभुवनं विश्वम्, एवमिति तदाभासन-विमर्शन-युक्त्यैव चन्द्रत्वमेत्य पूर्वोक्तनीत्या सुरादीन् प्रीणासि तर्पयसि।

अनुवाद— इसके उपरान्त (आप) 'अम्भस्' अर्थात् बहिरंग विश्वात्मकता की दिशा में ही प्रसार करने वाली सारी प्राणावाहिनियों में प्रवेश करते हैं। तात्पर्य यह कि उनको भी निजी अमृतरस से सराबोर कर देते हैं।

साथ ही सारे औषधिवर्ग में प्रवेश करते हैं। तात्पर्य यह कि स्थावर सृष्टि के रूप में वर्तमान रहने वाले सारे बहिरंग आभासों को भी निजी प्रकाशमानता से परिपक्व बना देते हैं।

इन इन पदार्थों में प्रवेश करने पर भी अर्थात् इसी प्रक्रिया के द्वारा (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश) इन पांच स्थूल प्रमेय-पदार्थों के रूप में स्पन्दायमान होते हुए भी (पूर्वोक्त) आभासन (सृष्टि), विमर्श (स्थिति) इत्यादि युक्तियों के द्वारा, (आन्तरिक प्राणीय) चन्द्रकला का रूप धारण करके, उल्लिखित नीति के अनुसार, देवता इत्यादि रूपों वाले जागतिक प्राणिवर्ग को तृप्ति प्रदान करते हैं।

मूलग्रन्थ— बाह्योऽप्यर्कः सुषुम्णामार्गेणामृतसंक्रमणयुक्त्या चन्द्रत्वमेत्य पूर्वोक्तनीत्या सुरादीन् पुष्णाति। शान्त-भाभिर्निवृत्तदीप्तिभिः कलाभिः शक्तिभिरम्भो विशति-दक्षिणायने आसाररूपतां स्वीकरोति। औषधीश्च विशति-सरसाः करोति। तद्गतश्च वैश्वदेवयागानुयाग-क्रमेण त्रिभुवनं पुष्णन् जगन्मित्रत्वमेव दर्शयति॥

(ग) अनुवाद— बाहरी स्थूल सूर्य भी—

१. सुषुम्णा नामवाली अपनी एक विशेष रश्मि के मार्ग से (कृष्णपक्ष में घटे हुए चन्द्रमा में नये सिरे से) अमृत का संक्रमण करने की युक्ति के द्वारा, वास्तव में स्वयं ही, चन्द्रमा का रूप धारण करके, पूर्वोक्त रीति से, देवता इत्यादिकों को पुष्टि प्रदान कर देता है।

२. अपनी 'कलाओं' अर्थात् रश्मिरूपी शक्तियों की (गर्मियों में जलाने वाली) प्रखरता को शान्त करके जल में प्रवेश करता है अर्थात् दक्षिणायन के दिनों में वर्षाकाल के रूप को स्वीकारता है।

साथ ही औषधिवर्ग में भी प्रविष्ट होता है अर्थात् उसमें रस भरकर प्रभावोत्पादक बना देता है।

इस प्रकार जगत में वर्तमान रहते हुए भी, मानो वैश्वदेव, याग और अनुयाग इत्यादि कर्मकांडीय अनुष्ठानों के क्रम को अपनाकर जैसे, तीनों लोकों को तृप्ति एवं पुष्टि प्रदान करता हुआ, जगत की मित्रता को ही निभाता रहता है।

टिप्पणियां

१. पहले भी इस बात पर यथासम्भव प्रकाश डाला गया है कि योगियों के परिप्रेक्ष्य में अपान-वायु सुषुम्णा नामवाली मध्यनाडी के मार्ग से ऊर्ध्वकुण्डलिनी के पद पर पहुँचकर परिपूर्ण चन्द्रमा बन जाता है। समाधिकाल में इसी प्राण-चन्द्रमा की अमृत-रसमयता से आन्तरिक आध्यात्मिक शक्तिवर्गरूपी देवताओं को उन्मिषित होने वाली पुष्टि प्राप्त होती है। उपरान्त व्युत्थान की वेला पर वही प्राणचन्द्रमा प्राणवायु के रूप में फिर बाहर आकर सारी प्राणवाहिनियों और बहिरंग प्रमेयवर्ग को भी रसमय बना देता है। योगी लोग ही इस प्राणीय प्रक्रिया को क्रियान्वित कर सकते हैं।

बाहरी स्थूल सूर्य की हजार किरणों में से एक विशेष किरण का नाम सुषुम्णा है— 'सुषुम्णा सूर्यरश्मिः'। भारतीय विश्वास के अनुसार अमावस्या का कलारहित चन्द्रमा इसी सुषुम्णा किरण से धीरे धीरे अमृतरस प्राप्त करके पूर्ण चन्द्रमा के रूप को फिर से प्राप्त कर लेता है। उसके अमृतस्राव से फिर देव, ऋषि, मनुष्य, पितर इत्यादि सारे प्राणी तृप्ति प्राप्त कर लेते हैं। औषधिवर्ग परिपक्वता प्राप्त कर लेता है। स्थावर सृष्टि को जीवन मिलता है। इस प्रकार सूर्य दोनों रूपों में जगत का सच्चा स्नेही मित्र बना हुआ है।

२. शैव योगक्रम की परिभाषा में मध्यनाडी के बीच में वर्तमान तुरीयामयी शाक्त-भूमिका को अमृतपथ कहते हैं क्योंकि यही वह मार्ग है जहाँ से प्राणाभ्यासी लोग तुरीयातीत भाव में प्रवेश कर सकते हैं।

श्लोक ३६

मूलश्लोक

मन्दाक्रान्ते तमसि भवता नाथ दोषावसाने
नान्तर्लीना मम मतिरियं गाढनिद्रां जहाति।
तस्मादस्तंगमिततमसा पद्मिनीवात्मभासा
सौरीत्येषा दिनकर परं नीयतामाशु बोधम्॥

अन्वय– हे नाथ दिनकर, (भवता) तमसि मन्द-आक्रान्ते दोषावसाने (दोष-अवसाने, दोषा-अवसाने) मम इयम् अन्तर्लीना, मतिः गाढनिद्रां न जहाति, तस्मात् अस्तंगमित-तमसा भवता एषा सौरी पद्मिनी इव आत्मभासा परं बोधम् आशु नीयताम्।

(क) अनुवाद– (कमलिनी रूपिणी-नायिका के पक्ष में) हे जगत् के स्वामी! यद्यपि आप ने रात के प्रगाढ अन्धेरे को धीरे धीरे आक्रान्त किया है, और रात भी कब की ढल चुकी है, तो भी यह आपकी, अपने ही अन्दर खोई हुई बेसुध प्रियतमा कमलिनी, अभी तक गहरी नींद को छोड नहीं रही है। अतः हे अन्धेरे का नाश करने वाले दिवाकर! आप इसको 'सौरी' अर्थात् सूर्यदेव की निजी प्रणयिनी समझकर, अपने प्रकाशविस्फार से तुरन्त पूरी तरह विकसित कीजिये।

(ख) अनुवाद– (साधक के पक्ष में) हे स्वामी 'दिनकर' अर्थात् आन्तरिक चित्-प्रकाशरूपी दिन को प्रकाशित करनेवाले चित्-सूर्यदेव, आपकी अनुकम्पा से (मेरे अन्दर स्वरूप-अपरिचय का) अन्धेरा धीरे धीरे गलता जा रहा है, (राग, द्वेष, भेददृष्टि इत्यादि) दोषों का पूरा अवसान होने के फलस्वरूप मेरी यह बुद्धि भी अन्तर्मुखता में लीन हो चुकी है। परन्तु अभी भी यह (मेरी बुद्धि) 'प्रगाढ निद्रा' अर्थात् माया-ममता की गहरी नींद से जग नहीं रही है। अतः तामसिक प्रवृत्तियों को सदा-सर्वदा के लिए शान्त करने वाले आप (चित्-सूर्यदेव) मेरी इस बुद्धि को, कमलिनी के समान ही 'सौरी' अर्थात् अपने प्रिय चित्-सूर्यदेव की ही आराधना करने वाली समझकर, इसको तुरन्त निजी प्रकाश-विस्फार से उजागर (प्रातिभ-उन्मेषमयी) बना दीजिये।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे नाथ दिनकर स्वामिन् चिदर्क, त्वया तमस्यज्ञाने मन्दाक्रान्ते निर्मूलनायाघ्राते (निर्मूलनायाक्रान्ते) सति, इयं मदीया, मतिर्धी, राग-द्वेषाणामवसाने जातेऽपि, अन्तर्लीनान्तर्मुखी-भूतापि, गाढनिद्रां त्वद-भेदा-ख्यातिं, न जहाति।

अनुवाद— हे मेरे स्वामी चित्-सूर्यदेव! आपने मेरे अन्तर्हृदय में वर्तमान घने अन्धेरे को पूर्णतया उन्मूलित करने के लिए धीरे धीरे आक्रान्त करके रखा है और मुझ में भी अब राग, द्वेष इत्यादि प्रकार के दोषों का प्राय: अवसान हो चुका है। इसके फलस्वरूप मेरी यह बुद्धि भी आन्तरिक आत्मचेतना में लीन हो चुकी है। परन्तु खेद इस बात का है कि ऐसी परिस्थिति होने पर भी यह मेरी बुद्धि अभी तक 'प्रगाढनिद्रा' अर्थात् आपके साथ अभेद भाव की विस्मृति-रूपिणी नीद से छुटकारा नहीं पा रही है।

मूलग्रन्थ— तस्मादेषा त्वया, अस्तंगमितं तमो यया तादृश्यात्मभासा स्वदीप्त्या कारणभूतया, आश्वविलम्बितमेव, परं बोधं प्रशान्ताख्यातिनिजज्योति-रात्मतां, नीयतां प्राप्यताम्।

अनुवाद— अत: हे भगवान! आप इस मेरी (अवसुप्त) बुद्धि को, तामसिक प्रवृत्तियों का पूरा शमन करने के प्रति सक्षम निजी चित्-ज्योतिपुञ्ज के द्वारा, तत्काल, पारमेश्वर बोध की पदवी पर पहुंचा दीजिये अर्थात् इसमें वर्तमान स्वरूप अख्याति को शान्त करके निजी चित्-ज्योति के साथ इसको एकाकार बना दीजिये।

मूलग्रन्थ— सूर्यो देवता यस्या सा सौरीति कृत्वा पद्मिनीव नलिनीव। सापि त्वया दोषावसाने प्रभाते तमसि मन्दाक्रान्ते, अन्तर्लीना कर्णिकासंश्लिष्टदला, गाढनिद्रां न जहातीत्यस्तं-गमिततमसा स्वात्मभासा गाढीभूतज्योतिषा प्रबोध्यते त्वया।

अनुवाद— (यह मेरी बुद्धि) 'सौरी' अर्थात् केवल सूर्यदेव (चित्-सूर्य) को अपना आराध्यदेव (प्रणयी) मानने वाली कमलिनी जैसी है।

(बाहरी स्थूल सूर्य के रूप में) आप उस पद्मिनी को भी, जिसकी पंखुडियां रात भर अन्दर की कर्णिका के साथ चिपकी रहती हैं और उसी कारण से सहसा प्रगाढ निद्रा को छोड़ नहीं सकती अर्थात् विकसित नहीं होने पाती, प्रभात की वेला पर, धीरे-धीरे रात के अन्धेरे को हटाकर, अपने प्रकाशविस्फार से जगा देते हैं।

श्लोक ३७

मूलश्लोक

येन ग्रासीकृतमिव जगत्सर्वमासीत्तदस्तं
ध्वान्तं नीत्वा, पुनरपि विभो तद्दयाघ्रातचित्तः।
धत्से नक्तंदिनमपि गती शुक्लकृष्णे विभज्य
त्राता तस्माद्भव परिभवे दुष्कृते मेऽपि भानो॥

अन्वय— हे विभो ! येन सर्वं जगत् ग्रासीकृतमिव आसीत् तत् ध्वान्तम् अस्तं नीत्वा, पुनः अपि तत् दया-आघ्रात-चित्तः शुक्ल-कृष्णे गती विभज्य नक्तं-दिनम् अपि धत्से। तस्मात् हे भानो ! मे दुष्कृते परिभवे अपि त्राता भव।

(सङ्केत— इस पद्य में 'येन— नीत्वा' तक का पद्यभाग प्राणापान-विरति रूप समाधिकाल, और 'तद्दया— विभज्य' तक का भाग साधारण व्युत्थान काल और 'त्राता— भानो' तक का भाग अपने लिए आशीर्वाद का वर्णन है)

अनुवाद— हे सर्वव्यापक (चित्त्-सूर्यदेव), जिस 'अन्धकार' अर्थात् प्राणापान सञ्चार के क्षोभरूपी अन्धेरे ने सारे जगत् का ग्रास किया था उसको आपने (समाधिकाल में) पूरी तरह शान्त कर दिया। अनन्तर (व्युत्थानकाल पर) मानों फिर उस अन्धकार पर दया करने के भाव से भरे हृदयवाले आप, नये सिरे से प्राणीय शुक्ल पक्ष और कृष्णपक्ष (अपानचार एवं प्राणचार) की गतियों का विभाग करके, उसी (अन्धकाररूपी = प्राणापानरूपी) रात-दिन को फिर प्रत्युज्जीवित करके धारण करते हैं।

(स्पष्ट है कि आपके सौजन्यपूर्ण हृदय में अन्धकार के प्रति भी करुणा का भाव भरा हुआ है)

अतः हे दिव्य आभा के पुञ्ज। इस प्रकार से जो यह मेरे लिए पूर्ण तिरस्कार की वेला (व्युत्थान वेला) है, जो कि अवश्य मेरे पापों का ही फल है, उसमें भी आप मेरे रक्षक बने रहें।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– **हे विभो भानो चिन्मरीचिमालिन्, येन तमसाज्ञानेन जगदिदं ग्रासीकृतमासीत्, तदनुगृहीतान् प्रत्यस्तं नीत्वा विनाश्य, तद्दयाघ्रातचित्त इव तदनुकम्पयैव, शुक्ल-कृष्ण-गती विभज्य व्युत्थानावसरे प्राणापान-भूमिकामवरुह्य, तद् ध्वान्तं पुनरपि धत्से पुष्णासि।**

अनुवाद– हे सर्वव्यापक चित्-प्रकाश की किरणमाला से शोभायमान चित्-सूर्यदेव, आप अनुग्रह के पात्र भक्तजनों के हृदयों में उस तामसिक अज्ञान का नाश कर देते हैं, जिसने इस जगत का ग्रास किया था। (तात्पर्य यह कि आप सच्चे भक्तजनों के प्राणापानमय क्षोभ को समाधिकाल में शान्त करके अर्थात् तुरीयारूप मध्यधाम में दोनों का लयीभाव करके उनके उस हार्दिक अन्धकार को ध्वस्त कर देते हैं जिसने उनके जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तिरूपी जगत का ग्रास किया था।) उपरान्त उस अन्धेरे पर भी दयालुता के भाव से, व्युत्थानदशा की वेला पर फिर से शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष का विभाजन करके अर्थात् फिर भी (सर्वसाधारण) प्राणापान (श्वास-प्रश्वास) की भूमिका पर उतर कर, मानो उस (प्राणापानमय) अन्धेरे को नये सिरे से जीवनदान देते हैं।

मूलग्रन्थ– **निर्व्युत्थानं समाधिं झगिति न वितरसीत्यर्थः।**

अनुवाद– इस उल्लिखित कथन का सीधा अर्थ यह है कि आप उनको (सच्चे भक्तों को) भी सहसा निर्व्युत्थान-समाधि की अवस्था का वितरण नहीं कर देते हैं।

मूलग्रन्थ– **यथा बाह्यो भानुर्ग्रासीकृतजगत्तिमिरं विनाश्य पुनर्दययेव नक्तंदिनं निशादिने विभज्य धत्ते पुष्णातीति श्लेषोपमा।**

अनुवाद– इस पद्य में श्लेषमूलक उपमा अलङ्कार से यह ध्वनि निकलती है कि (चित्सूर्य की) यह उल्लिखित क्रियात्मकता ठीक उसी प्रकार चलती रहती है जिस प्रकार बाहरी सूर्य प्रातःकाल पर उस रात के अन्धेरे को नष्ट कर देता है जिसने मानो रातभर सारे जगत का ग्रास किया होता है। फिर मानो उस अन्धेरे पर भी अनुकम्पा करने की कामना से दुबारा रात-दिन का विभाग करके उसको पुष्टि देता है।

मूलग्रन्थ– यत एवं दुरात्मनि तमस्यपि त्वमनु-कम्पावानिव ततो मे मम परिभवे व्युत्थानात्मनि कलेशेऽपि त्राता रक्षिता भव।

अनुवाद– फलतः जिस कारण आप इस दुरात्मा अन्धकार पर भी कारुणिक जैसे हैं, उस कारण मेरी तिरस्कार की अवस्था में अर्थात् समाधि से फिर व्युत्थान में आने की संकटपूर्ण अवस्था में, मेरी रक्षा करने वाला बनने की कृपा कीजिये।

मूलग्रन्थ– कीदृशे परिभवे?

दुष्कृते दुष्टं कृतं करणं विषयहानादानादि परिभवो यत्र। निर्व्युत्थान-समावेशरसास्वादिनं मां कुर्वित्यर्थः।

अनुवाद– कैसी तिरस्कार की अवस्था में? (इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—)

यह ऐसी अवस्था है कि इसमें मुझे केवल सांसारिक विषयों का त्याग एवं ग्रहण करने के रूपवाले कुत्सित कृत्यों को करते रहने के तिरस्कार का पात्र बनना पड़ता है। मेरी प्रार्थना यह है कि मुझे निर्व्युत्थान-समाधि का समावेश प्राप्त करने की रसमयता का निरन्तर आस्वाद करने वाला (रसिक) बना दीजिये[१]।

टिप्पणी

१. सिद्धजन अनथक योगसाधना के द्वारा प्राणापान के क्षोभ से सर्वथा रहित महाव्योमरूपिणी शाक्त-भूमिका (तुरीया) में पारमेश्वर अनुग्रह एवं गुरुकृपा से सहसा प्रवेश पाकर और उस पद में अलौकिक आनन्दमयता का रसपान करने के उपरान्त फिर व्युत्थान में आना नहीं चाहते हैं। जिस अनाख्य रसमयता की चर्वणा वे करते हैं उसके सामने संसार भाव की बड़ी से बड़ी सुखानुभूति भी उन्हें फीकी लगती है। भगवान उत्पलदेव का कथन है—

'ये मनागपि भवच्चरणब्जोद्भूतसौरभलवेन विमृष्टाः
तेषु विस्रमिव भाति समस्तं भोगजातममरैरपि मृग्यम्।

(शि० स्तो० ११, ६)

ऐसे भगवद्भक्त निर्व्युत्थान-समाधि (तुर्यातीत पद में प्रवेश) प्राप्त करने के लिए कितना कराहते रहते हैं इसकी भी एक झलक भगवान उत्पल के ही निम्नलिखित पद्य में मिलती है—

'नाथ विद्युदिव भाति विभा ते या कदाचन परामृत-दिग्धा।
सा यदि स्थिरतरैव भवेत्तत् पूजितोऽसि विधिवत्किमुतान्यत्॥
(शि० स्तो० ४, ८)

हे चिरस्पृहणीय स्वामी ! जो कोई अवर्णनीय और अमृतरस से सनी हुई आपकी लोकोत्तर आभा मुझे क्षणमात्र के लिए कभी किसी समाधिकाल में सहसा प्रकाशित हो जाती है वही अगर अधिक स्थिर बन जाती अर्थात् व्युत्थान में' भी नित्योदित रूप में प्रकाशमान रहती तो मैं समझता कि मेरे द्वारा आपकी अर्चना यथार्थ में पूरी हो गई और मेरे लिए फिर कोई करणीय काम अवशिष्ट न रह जाता।

प्रस्तुत पद्य में भी भगवान साम्ब अपने इष्ट चित्-देव से इसी निर्व्युत्थान अथवा नित्योदित समाधि की अवस्था का वितरण करने के लिए, व्यंग्य रूप में, प्रार्थना कर रहे हैं।

श्लोक ३८

अवतरणिका— **व्युत्थितः समावेशमप्राप्नुवन् व्युत्थान-दशानिर्भर्त्सनपरः समावेशपरं भगवन्तं प्रार्थयितुमाह—**

अनुवाद— व्युत्थान की अवस्था में समावेश अर्थात् समाधिकालीन स्वरूपनिष्ठता न पा सकने के कारण इस अवस्था की भर्त्सना (निन्दा) करते हुए, नित्य-समावेश के रसिक भगवान (चित्-सूर्य) से प्रार्थना कर रहे हैं—

मूलश्लोक

आसंसारोपचितसदसत्कर्मबन्धाश्रिताना-
माधिव्याधिप्रजनमरणक्षुत्पिपासार्दितानाम्।
मिथ्याज्ञानप्रबल-तमसा नाथ चान्धीकृतानां
त्वं नस्त्राता भव करुणया यत्र तत्र स्थितानाम्॥

अन्वय— हे नाथ ! आसंसार-उपचित-सत्-असत्-कर्म-बन्ध-आश्रितानाम्, आधि-व्याधि-प्रजन-मरण-क्षुत्-पिपासा-अर्दितानाम्, मिथ्या-ज्ञान-प्रबल-तमसा च अन्धीकृतानां, यत्र तत्र स्थितानां नः करुणया त्राता भव।

अनुवाद— हे अत्यन्त वाञ्छनीय भगवान ! जब से हम इस संसृतिपथ (आवा-गमन) के पथिक बने हुए हैं तब से केवल (सांसारिक) पुण्य कर्मों

एवं पापकर्मों का ही प्रचुर-मात्रा में आश्रय लेते आये हैं। तब से ही हम मानसिक संताप एवं कायिक रुग्णता, बार-बार जन्म लेना, मरना, भूख, प्यास इत्यादि कष्टों से रोन्धे जा रहे हैं। तब से ही हम 'मिथ्याज्ञान' अर्थात् वास्तविक आत्मा पर अनात्मबुद्धि और अनात्मा शरीर इत्यादि पर आत्मबुद्धि रखने के रूपवाले सूची-भेद्य अन्धकार के द्वारा अन्धे बनाये जा रहे हैं। अतः (हे स्वामी !) आप, स्वभावतः करुणाशील होने के नाते, सदैव हमारे रक्षक बने रहें चाहे हम किसी भी प्रकार के देश, काल एवं परिस्थिति में ही क्यों न पडे हों।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– सत् पुण्यम्, असत् पापं, यत्र तत्र स्थितानामिति देशे, काले, अवस्थावैचित्र्ये च, त्राता समावेशप्रथनेन रक्षकः। शिष्टं स्पष्टम्।

अनुवाद– 'सत्' शब्द का अभिप्राय पुण्यकर्म और 'असत्' शब्द का अभिप्राय पाप कर्म है। 'जहां कहीं भी ठहरे हुए' इन शब्दों से जिस किसी भी प्रकार की, देश, काल और परिस्थिति की विचित्रता में पड़े हुए (जनों का अभिप्राय है)। 'त्राता' इस शब्द से 'समावेश' अर्थात् सार्वकालिक स्वरूप-निष्ठता (निर्व्युत्थान-समाधि) का विकास करने के रूप में रक्षा करने वाले (चित्-सूर्य) का अभिप्राय है। शेष सारा पद्य स्पष्ट ही है।

श्लोक ३९

मूलश्लोक

सत्यासत्यस्खलितवचसां शौचलज्जोज्झिताना-
मज्ञानानामफल सफल प्रार्थना कातराणाम्।
सर्वावस्थास्वखिलविषयाभ्यस्त कौतूहलानां
त्वं नस्त्राता भव पितृतया भोगलोलार्भकाणाम्॥

अन्वय– (हे चित्-सूर्य !) सत्य-असत्य-स्खलितवचसां, शौच-लज्जा-उज्झितानाम्, अज्ञानानाम्, अफल-सफल-प्रार्थना-कातराणां, सर्व-अवस्थासु अ-खिल-विषय-अभ्यस्त-कौतूहलानां, भोग-लोल-अर्भकाणां नः त्वं पितृतया त्राता भव।

अनुवाद— (हे भगवान चित्-सूर्य !) हमारी वाणी (नैतिकता को भूल कर) सच या झूठ कुछ भी बोलती हुई पग पग पर अटक जाती है। हममें न मानसिक और न शारीरिक पवित्रता है। हम नितरां निर्लज्ज हैं (क्योंकि आये दिन जैसे कुकर्म हम करते रहते हैं उनसे हमें लज्जित होना चाहिये था परन्तु नहीं होते है)। हम निरा अज्ञानी हैं। हम तो केवल अधीरता से अपनी मांगें पेश करते रहते हैं, चाहे उनसे कोई फल निकलता- हो या न भी निकलता हो। हम चाहे किसी भी (जाग्रत, स्वप्न अथवा सुषुप्ति) अवस्था में हों, केवल (कामिनी-काञ्चनरूपी हेय) विषयों का उपभोग करने के प्रति लालायित रहते हैं। हम तो (अज्ञानी बनकर) विषयोपभोग करने के पीछे बचकानी लोलुपता में पड़े रहते हैं। अतः (हे भगवान !) आप हमारे पूर्वज (कुल के मूलपुरुष) होने के नाते हमारे रक्षक बने रहिये।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— भोगेषु विषयसुखेषु लम्पटानामस्माकमर्भकाणां बालानामिव त्वं पितृतया जनकत्वेन त्राता भवेति प्राग्वत्। त्वं ह्यस्माकं तत्त्वदृष्ट्या जनकः।

अनुवाद— (हे भगवान चित्-सूर्य !) हम निरा बच्चे जैसे बनकर मात्र (कामिनी रूप) विषय सुख का उपभोग करने के प्रति आसक्त हैं। आप हमारे पिता हैं अतः हमारे रक्षक बने रहिये, इसी प्रकार ऊपर वाले पद्य की तरह ही इसका भी अर्थ लगाना है। (व्यावहारिक अथवा) तत्त्वदृष्टि से देखने पर भी आप हमारे (अथवा सारे जगत के) सृष्टिकर्ता हैं।

मूलग्रन्थ— सत्यासत्येत्युभयत्र समम्, स्खलितं प्रमादि (प्रमादादि) एकत्र, अन्यत्रास्पष्ट-वर्णत्वम्, एवं शौचं चैत्तं शारीरं च, अफला सफला च या प्रार्थना तया कातराणामधीराणां— यत्तत्प्रार्थयमानानामिति। सुबोधमन्यत्॥

अनुवाद— 'एकत्र' अर्थात् अध्यात्मदृष्टि से 'सत्यासत्यस्खलित' इतने पद्य खण्ड का अर्थ इस प्रकार लगाना है— 'सत्य' अर्थात् चित्-प्रकाश, 'असत्य' अर्थात् जगत् की आभासमानता इन दोनों में सत्यता अथवा असत्यता का निर्णय करने में हम प्रमाद बरत रहे हैं 'अन्यत्र' अर्थात्

व्यावहारिक दृष्टि से 'सत्यासत्यस्खलित वचसाम्' इतने सारे समस्तपद का अर्थ इस प्रकार लगाना है— सच या झूठ कुछ भी बतियाते समय हम स्पष्ट वक्तृता से काम नहीं लेते हैं। इसी प्रकार 'शौच' इस शब्द से चित्त की (मानसिक) पवित्रता और कायिक पवित्रता दोनों का अभिप्राय है।

हमारी प्रार्थना निष्फल हो या सफल दोनों रूपों में हम उसको मनवाने के लिए अधीर हो रहे हैं— (तात्पर्य यह कि जो कुछ भी अनाप-शनाप मन में आता है मांगने के आदी बन गये हैं)। शेष पदों का अर्थ सरल ही है।

श्लोक ४०

मूलश्लोक

यावद्देहं जरयति जरा नान्तकादेत्य दूती
नो वा भीमस्त्रिफण भुजगाकार-दुर्वार-पाशः।
गाढं कण्ठे लगति सहसा जीवितं लेलिहान-
स्तावद्भक्ताभयद सदयं श्रेयसे नः प्रसीद॥

अन्वय— हे भक्त-अभयद! यावत् जरा अन्तकात् दूती (इव) एत्य देहं न जरयति, वा यावत् भीमः त्रिफण-भुजग-आकार-दुर्वार-पाशः जीवितं लेलिहानः कण्ठे सहसा गाढं न लगति, तावत् (एव) सदयं नः श्रेयसे प्रसीद॥

अनुवाद— हे भक्तों को अभयवर प्रदान करने वाले चित्-सूर्य, जब तक बुढापा महाकाल (मृत्यु) के संदेशवाहक के रूप में आकर हमारी कायाओं को जर्जरित न बना दे, साथ ही जब तक अतीव भयोत्पादक, तीन फणों वाले विषधर के आकार वाला और किसी भी युक्ति से निवारण न किया जा सकने वाला (महाकाल का) फन्दा हमारे जीवन का अन्त करने के लिए लपलपाता हुआ सहसा आकर हमारे गलों के साथ प्रगाढता से चिपक न जाये, तब तक ही दयालुतापूर्वक हमारा कल्याण करने के लिए (स्वरूप-स्मृति दिलाने के लिए) हम पर प्रसन्न होने की कृपा करें।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ—हे भक्ताभयद ! यावद्व्युत्थितामरणावसानां दुर्दशां नाप्नुमस्तावन्नोऽस्माकं प्रसीद देहादिसंस्कारकालुष्यप्रशमनेन निर्मलीभव।

निर्व्युत्थानप्रकाशानन्दघनपरमसमावेशामृतरसास्वादसुखितानस्मान् संपादयेत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्।

अनुवाद— हे भक्तों को अभयवर देने वाले ! जब तक इस व्युत्थान की दशा में पड़े हुए हम मर जाने की अन्तिम दुर्दशा में न पड जायें तब तक ही हम पर अनुग्रह करिये। तात्पर्य यह कि हमारे शरीर आदि (प्राण, बुद्धि, पुर्यष्टक एवं शून्य) की अभिमानिता के संस्कारों की कालिख पोत कर निर्मल रूप में प्रकट हो जाइये। सारे श्लोक का तात्पर्यार्थ इस प्रकार है—

निर्व्युत्थान-समावेश, जिसमें प्रकाश एवं आनन्दघनता के अविभाज्य संघट्टरूपी पर-उत्कृष्ट समाधि का प्राधान्य होता है, के अमृतरस का आस्वाद करवा कर हमें शाश्वतिक सुख के भागी बना दीजिये शेष श्लोकार्थ स्पष्ट ही है।

श्लोक ४१

मूलश्लोक

विश्वप्राणग्रसनरसनाटोप-कोपप्रगल्भं
मृत्योर्वक्त्रं दहननयनोद्दामदंष्ट्राकरालम्।
यावद् दृष्ट्वा व्रजति न भिया पञ्चतामेषकाय-
स्तावन्नित्यामृतमय रवे पाहि नः कान्दिशीकान्॥

अव्य— हे नित्य-अमृतमय रवे ! विश्व-प्राणग्रसन-रसना-आटोप-कोप-प्रगल्भं, दहन-नयन-उद्दाम-दंष्ट्रां-करालं मृत्योः वक्त्रं दृष्ट्वा यावत् एष कायः भिया पञ्चतां न व्रजति, तावत् कान्दिशीकान् नः पाहि।

अनुवाद— हे शाश्वतिक आनन्दघनता के स्वरूप वाले चित्-सूर्यदेव, जब तक यह काया, विश्वभर के जीवधारियों के प्राणों का ग्रास करने के लिए अपरिमित क्रोध से लपलपाती हुई जीभ वाले और अंगारे बरसने वाली आंखों एवं उत्कट दाडों से निष्ठुर महाकाल के मुख को देखकर, डर के मारे, पांचवी अवस्था पर न पहुंच जाये अर्थात मर न जाये, तब तक ही हम 'कान्दिशीकों' अर्थात् दिग्भ्रम में पडे हुए लोगों की रक्षा कीजिये।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— मृत्योरन्तकस्य वक्त्रं दृष्ट्वा यावदेष काय इति सपुर्यष्टको देहो, भिया भीत्या, पञ्चतां मृत्युं न व्रजति, तावदेव रवे चिदर्क, नित्यामृतमय अनस्तमित परमानन्दैकघनस्वभाव, नोऽस्मान्, कान्दिशीकान् व्युत्थाने त्वत्समावेशप्राप्तिं विना कां दिशं कायतः का दिक्का दिगस्माकमिति क्रन्दतः, पाहि निर्व्युत्थानसमावेशान् संपादय।

अनुवाद— जब तक यह 'काया' अर्थात् पुर्यष्टक की सहकारिता से युक्त पाञ्चभौतिक शरीर, महाकाल के मुख को देखते ही भयभीत होकर 'पांचवीं दशा' अर्थात् मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, तब तक ही, हे भगवान 'रवि' अर्थात् कभी भी अस्त न होने वाले अत्युत्कृष्ट आनन्द की प्रचुरता से परिपूर्ण स्वभाव वाले चित्-सूर्य, हम 'कान्दिशीकों' अर्थात् व्युत्थान की दशा में आपका (चिद्भाव का) समावेश न पा सकने के कारण— 'हमारी सही दिशा कौन है?, हमारी सही दिशा कौन है?— इस प्रकार बिलखते-कलपते लोगों की रक्षा कीजिये अर्थात् व्युत्थानरहित समाधि के भागी बना दीजिये।

मूलग्रन्थ— कीदृङ् मृत्योर्वक्त्रम्? विश्वेषां प्राणग्रसनो जीवितभक्षको, रसनाटोपो लोलरसनाव्यापारो यस्य तादृशि कोपे प्रगल्भं प्रौढम्। तथा दहनानि प्लोषकाणि नयनानि यस्य तादृक्। तथा उद्दामाभिरूर्जिताभिर्दंष्ट्राभिः करालम्।

अनुवाद— (शङ्का) महाकाल के कैसे मुख को (देखकर)?

(समाधान—) ऐसे क्रोध से तमतमाता हुआ जिसमें उसकी जीभ लम्बी होकर सारे विश्व के प्राणिवर्ग के जीवन का सर्वग्रास करने की लोलुपता से लपलपाती रहती है, जिसकी आंखें मानो आग बरस रही हैं और जो उखड़ी लम्बी दाडों से विकराल दिखाई दे रहा है।

श्लोक ४२

मूलश्लोक

शब्दाकांर वियदिव वपुस्ते यजुःसामधाम्नः
सप्तच्छन्दांस्यपि च तुरगा ऋङ्मयं मण्डलं च।

एवं सर्वश्रुतिमयतया मद्दयानुग्रहाद्वा।
क्षिप्रं मत्तः कृपणकरुणाक्रन्दमाकर्णयेमम्॥

अन्वय– (हे भगवन् चित्-सूर्य !) साम-धाम्नः ते यजुः शब्द-आकारं वपुः वियत् इव (वर्तते), अपि च सप्त च्छन्दांसि (ते) तुरगाः (सन्ति), च (तव) ऋङ्मयं मण्डलं (अस्ति), एवं सर्वश्रुतिमय-तया मत्-दया-अनुग्रहात् वा मत्तः इमं कृपण-करुण-आक्रन्दं क्षिप्रम् आकर्णय।

अनुवाद– (हे भगवान चित्-सूर्य !) सामवेदमयी तेजोराशि से शोभायमान लगने वाले आप का, शब्दों के आकार वाला यजुर्वेदरूपी शरीर, नभोमण्डल की तरह व्याप्त है, (गायत्री आदि) सात च्छन्द भी आपके घोड़े हैं और सारा ऋग्वेद आपका मण्डल है। इस प्रकार या तो सारे वेदों का स्वरूप होने के कारण अथवा दयालुता से मुझ पर अनुग्रहकारी होने के कारण, शीघ्रातिशीघ्र, मेरी इन दीनताभरी करुण पुकार को सुन लीजिये।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– हे भगवन् ते तव निर्णीतदृशा सामवेदात्मकं धाम तेजो यस्य तादृशः। यजुर्वेदात्मकं शब्दाकारं वपुः शरीरं वियदिव व्यापकम्–तदपि शब्दाकार-मिति शब्दानाकरोति समस्तशब्दाश्रयः। अपि च गायत्र्यादि सप्त च्छन्दांसि ते तुरगाः, मण्डलं प्रभापरिवेषोऽपि ऋग्वेदमयः।

अनुवाद– हे भगवान (चित्सूर्य) ! (तत्त्ववेत्ता सिद्धजनों के द्वारा) निश्चित दृष्टिकोण के अनुसार वह शब्द ब्रह्म के आकार को धारण करने वाला यजुर्वेद, जिसका सामवेदीय[1] तेज प्रकाशमान है, आपका साकार स्वरूप बनकर आकाश की भान्ति व्यापक है। वह आकाश भी तो शब्दाकार है अर्थात् सारे शब्दों को स्वात्मसात् कर लेता है अतः सारे शब्दों का आश्रय बनकर वर्तमान है।

इसके साथ ही गायत्री आदि सात छन्द आपके (वाहन) घोडे और आपकी प्रभा का परिवेष ऋग्वेदमय है।

मूलग्रन्थ– इत्येवं सर्वश्रुतिमयत्वात्, यद्वा अनुकम्पाप्रधानादनुग्रहान्मत्तो मत्सकाशादुक्तवक्ष्यमाणंप्रार्थनापरत्वात् कृपणं विरसं, संसार-विभावकत्वाच्च करुणं करुण-रसप्रधानमिममाक्रन्दं त्वत्प्रसाद-प्रार्थनापरं प्रलपितं, क्षिप्रमुदीरणानन्तरमेवाकर्णय करुणयाऽस्मदनुजिघृक्षयाऽवधारय।

अनुवाद—इस प्रकार से या तो समूचे वैदिक वाङ्मय का स्वरूप होने के कारण अथवा स्वाभाविक दयालुता से अनुग्रहमय होने के कारण, आप, मेरे इस करुण विलाप को, जोकि यहां तक कही हुई और आगे भी कही जाने वाली प्रार्थनाओं को दोहराने के कारण अतीव रसहीन परन्तु संसार भाव का दुखड़ा रोने के कारण अति करुणा से भरा हुआ है, मेरी अभिव्यक्ति के तत्काल ही सुनिये अर्थात् करुणाशील होने और हम पर अनुग्रहकारी होने के नाते मन में धारण कीजिये।

टिप्पणी

१. यहां पर पाठकों का ध्यान इस बात की ओर आर्कषित करना आवश्यक है कि मूलश्लोक में 'सामधाम्नः' शब्द षष्ठी विभक्ति का एक वचन है अतः व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार इसको 'ते' का विशेषण बनाना ही युक्तियुक्त है जैसा कि अन्वय के अनन्तरवर्ती अनुवाद में किया गया है। इसके प्रतिकूल क्षेमराज ने इसको 'यजुः' (प्रथमा एकवचन) शब्द का ही विशेषण बनाकर व्याख्या की है। हालांकि अर्थ की दृष्टि से इससे कोई अन्तर नहीं पड़ने का, तथाकपि यह बात विचारणीय है।

श्लोक ४३

मूलश्लोक

नाशं नास्मच्चरणशरणा यान्त्यपि ग्रस्यमाना
देवैरित्थं सितमिव यशो दर्शयन्स्वं त्रिलोक्याम्।
मन्ये सोमं क्षततनुममागर्मवृद्धया विवस्वन्
शुक्लच्छायां नयसि शनकैः स्वां सुषुम्णांशुभासा ॥

अन्वय—हे विवस्वन्! मन्ये (त्वम्) इत्थम्—'अस्मत्चरण-शरणाः देवैः अपि ग्रस्य-मानाः नाशं न यान्ति'

स्वं सितं यशः त्रिलोक्यां दर्शयन् (इव) क्षत-तनुं सोमं सुषुम्णा-अंशु-भासा अभा-गर्भ-वृद्ध्या स्वां शुक्ल-च्छायां शनकैः नयसि।

अनुवाद—हे चित्-सूर्यदेव! मेरा मानना है कि आप अपने इस (निम्नलिखित)—

'हमारे चरणों की शरण में आनेवाले (भक्तजन) देवताओं के द्वारा खाये जाने पर भी नष्ट नहीं हो जाते हैं ?

उज्ज्वल यश को तीनों लोकों में प्रदर्शित करने के अभिप्राय से जैसे, (कृष्णपक्ष में) कलाओं की घटौती होने के कारण क्षीण बने हुए चन्द्रमा को, अपनी सुषुम्णा नाम वाली किरण की प्रभा से, उसकी अवशिष्ट अमाकला को (शुक्लपक्ष में) धीरे-धीरे बढ़ाने के क्रम को अपनाकर, (पूर्णिमा के दिन) फिर भी अपनी शुक्लपक्ष की पूर्ण ज्योतिर्मयता पर पहुंचा देते हैं।

(संङ्केत—इस पद्य का आभ्यन्तर अर्थ क्षेमराज की टीका से स्पष्ट होगा)

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ—हे भगवन् विवस्वन् चिद्धानो, 'अस्मच्चरणशरणा देवैरपि ग्रस्यमाना नाशं न यान्ति'—इत्येवं सितं शुभ्रं, यशस्त्रिलोक्यां दर्शयन्निव, सोमं क्षततनुं देवैरपि ग्रस्तसमस्तकलं, सुषुम्णाख्यमध्यनाड्या अंशवो मरीचयस्तद्भासा दीप्त्या हेतुभूतया स्वां शुक्लां च्छायां सम्पूर्णसितां कान्तिं नयसि प्रापयसीति मन्ये जानामि।

अनुवाद—हे भगवान चित्-प्रकाशमय सूर्य देव, मेरी मान्यता यह है कि आप अपने इस निर्मल यश को कि—

'हमारे चरणों का आश्रय लेने वाले (भक्त) देवताअें के द्वारा ग्रस्त हो जाने पर भी समूल नाश को प्राप्त नहीं होते हैं।'

तीनों लोकों में प्रदर्शित करने के अभिप्राय से जैसे, सारे देवताओं के द्वारा सारी कलाओं का उपभोग किये जाने के फलस्वरूप विक्षत शरीर वाले चन्द्रमा को, सुषुम्णा नामवाली (सूर्यरश्मि अथवा) मध्यनाडी में नित्योदित रहने वाली किरणमाला (शक्तिवर्ग) की प्रभा के द्वारा, अमा नामवाली (सोलहवीं अविनश्वर) कला के गर्भ में (ऊर्ध्व-द्वादशान्त पर तुट्यर्धांशरूपिणी संधिवेला में) धीरे-धीरे पुष्ट बनाकर, फिर भी निजी अविकल श्वेत छवि (पूर्ण चन्द्रमाभाव) प्राप्त करवाते रहते हैं।

मूलग्रन्थ—अत्र रहस्यदृशा देवा इन्द्रियाणि, सोमोऽपानयुक्त्यान्तः प्रविष्ट षोडशकला-रूपात्मा मेयवर्गः, सर्ववाहोल्लासयुक्त्या कलाग्रासेन

क्षीण-कलः सन्, सुषुम्णांशुभासा मध्यधामस्फारेणोन्मिषच्छुभाख्यतुर्य-प्रकाश-दीप्त्या, अमाया अन्ततुट्यर्धस्फुरच्छक्तेर्गर्भेऽन्तर्या वृद्धिः प्राणादिप्राधान्यनिमेषोन्मिषच्छाक्तवीर्यभाभिः स्फुरिता, तया शुक्लां चिदेकघनां नयसि प्रापयसीत्यर्थः ।

बाह्यस्तु स्पष्टः ।

अनुवाद—रहस्यदृष्टि से इस पद्य के (पारिभाषिक) शब्दों के तात्पर्य इस प्रकार हैं —

देवता—सारे इन्द्रिय (अर्थात् अंदर की और बाहर की इन्द्रिय शक्तियां = करण शक्तियां)

सोम—अपानचार के रूप में मध्यनाड़ी में प्रवेश करने वाला सोलह कलाओं के रूपवाला प्रमेय पदार्थों का समूह (प्राणीय शुक्लपक्ष का चन्द्रमा)

क्षततनुः—(अन्तः-द्वादशान्त से फिर प्राणचार के रूप में बाह्य-द्वादशान्त की ओर सरकने की वेला पर) काया की समूची प्राणवाहिनियों में शक्ति-संचार करने की प्रक्रिया में कलाओं का ह्रास (प्राणाचार में हरेक तुटि पर एक एक कला की घटौती) हो जाने से क्षीण कलाओं वाला प्राण-चन्द्रमा ।

सुषुम्णांशुभासा—(शैव योगक्रम में) मध्यधाम अर्थात् सुषुम्णा नाडी का विकास होने से उन्मिषित होती हुई शुभा नामवाली तुरीय-अवस्था के प्रकाश की चमक से ।

अमागर्भवृद्धिः —'अमा' अर्थात् अन्तकोटि (ऊर्ध्व द्वादशान्त) पर तुट्यर्धांशरूपिणी संधि में स्वभावतः नित्य-स्पदायमान रहने वाली आत्मशक्ति के गर्भ में वृद्धिः पाना—तात्पर्य यह कि उस विश्रान्तिमयी आधी तुटि के कालखण्ड में प्राण एवं अपान दोनों की निमेष-अवस्था अर्थात् गति का विश्राम होने के कारण स्पष्टरूप में उन्मेष में आये हुए 'शाक्त-वीर्य' अर्थत् विशुद्ध अहंरूपिणी आत्मशक्ति की (लोकोत्तर) किरणमाला से स्पन्दायमान बनना ।

शुक्लच्छाया—परिपूर्ण प्राणीय चन्द्रमा की स्वच्छ प्रकाशमानता (निर्मल चित्-प्रकाश की सर्वतोमुखीघनता) ।

नयसि—(उस प्रकाशमयी स्वरूपज्योति की अवस्था पर आप) पहुंचा देते हैं।

बाहरी स्थूल सूर्य के पक्ष में श्लोकार्थ स्पष्ट ही है।

टिप्पणी

१. व्याख्याकार ने यहां पर मूलश्लोक में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है उस विषय में, संङ्केत-रूप में, पहले ही जानकारी प्रस्तुत की गई है।

श्लोक ४४

मूलश्लोक

आस्तां जन्मप्रभृति भवतः सेवनं तद्धि लोके
वाच्यं केनापरिमितफलं भुक्ति-मुक्ति-प्रकारम्।
ज्योतिर्मात्रं स्मृतिपथमितो जीवितान्तेऽपि भास्वन्
निर्वाणाय प्रभवसि सतां तेन ते कः समोऽन्यः॥

अन्वय—हे भास्वन् ! जन्म-प्रभृति भवतः सेवनम् आस्ताम्—तत् हि भुक्ति-मुक्ति-प्रकारम् अपरिमित-फलं लोके केन वाच्यम् ? (परं त्वं) सतां जीवित-अन्ते-अपि ज्योतिः-मात्रं स्मृति-पथम् इतः निर्वाणाय प्रभवसि, तेन ते समः अन्यः कः अस्ति ?

अनुवाद—हे नित्य प्रकाशमान चित्-सूर्य ! आजन्म आपकी सेवा करते रहने की बात तो रहने दीजिये, क्योंकि अनन्त फलों का वितरण करने और सुखभोग एवं मुक्ति दोनों को साथ साथ ही प्राप्त करने का अचूक साधन होने के कारण इस संसार में उसका वर्णन ही कौन कर सकता है ? (परन्तु) आप तो सत्पुरुषों के स्मृति-पटल पर, उनके जीवन के अन्तिम क्षण में भी, मात्र एक स्वयं प्रकाशमान ज्योतिपुञ्ज के रूप में अङ्कित होकर, उनको निर्वाणपद देने में समर्थ हैं, अतः आप के समान और दूसरा (परमेश्वर) कौन है ?

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ—हे भास्वन्, जन्मप्रभृति यत्त्वत्सेवनं तदपरिमितफलं केन वाच्यं केन वक्तुं शक्यम्-इयत्तया परिच्छेद्यत्वाभावात्।

अनुवाद—हे चित्-प्रकाशमय सूर्यदेव! आजन्म आपकी सेवा करते रहने का फल मापा नहीं जा सकता है। उसका शब्दों में वर्णन कौन कर सकता है ? क्योंकि उसको किसी भी प्रकार की इयत्ता के चौखट्टे में बन्द करके ससीम नहीं बनाया जा सकता।

मूलग्रन्थ—तद्यस्माद् भुक्ति-मुक्ति-प्रकारं, 'भुक्तिर्विषयोपभोग एव ? स्वात्मानन्दविश्रान्ति-दत्वेन जीवच्छिवत्वाभिव्यक्तात्मा (व्यक्त्यात्मा) मुक्तिरेव च चिच्चमत्कारावेशरूपा भुक्तिः, न तु विषयासक्तिरूपा'—तां भुक्तिं मुक्तिं प्रकाशयति सेवकांस्तन्मयान् संपादयति।

अनुवाद—इसका यह भी कारण है कि वह (आजन्म-सेवन) भुक्ति और मुक्ति दोनों का साथ साथ ही (पारस्परिक विरोध के बिना) प्राप्त करवाने का साधन है—

'भुक्ति के संदर्भ में यहां यह प्रश्न उठता है कि) क्या सांसारिक विषयसुख के उपभोग को ही भुक्ति मान लिया जाये? असल में तो (आध्यात्मिक संदर्भ में) जीते जी ही अपने में शिवभाव प्रकट हो जाने के रूपवाली मुक्ति ही, परिपूर्ण चित्-भाव की 'चमत्कारिता' अर्थात् विशुद्ध अहंरूप में आस्वादमयता का समावेश हो जाने, और स्वरूप-प्रत्यभिज्ञा की आनन्दघनता में पूर्णविश्रान्ति प्रदान करने के रूपवाली होने के कारण सच्ची भुक्ति (सुखभोग) है। सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति के रूपवाली भुक्ति तो कतई सच्ची भुक्ति नहीं मानी जा सकती।

(आजन्म सेवन) ऐसी ही भुक्ति-मुक्ति को प्रकाशित करता है अर्थात् (दास्यभाव की भक्ति करने वाले) सेवकों को तन्मय बना देता है।

मूलग्रन्थ— जीवितान्ते निर्वाणावसरेऽपि ज्योतिर्मात्रात्मा त्वं सतां स्मृतिपथं प्राप्तो निर्वाणाय मुक्तये प्रभवसि। अतस्ते समः कोऽन्यः — असामान्यमहिमाऽसीत्यर्थः।

अनुवाद— (दूसरे पक्ष में तो) आप सत्पुरुषों की स्मृति के पथ पर, उनके जीवन की अन्तिम घड़ी अर्थात् उनके परनिर्वाण के मौके पर भी, मात्र चित्-ज्योति के रूप में स्वत: उपस्थित होकर, उनको निर्वाणपद वितरित करने के लिए सामर्थ्यशाली हैं, अत: आप जैसा और कौन (देवता) है? कहने का तात्पर्य यह कि आपकी महिमा अतीव असाधारण है।

श्लोक ४५

मूलश्लोक

अप्रत्यक्षत्रिदशभजनाद्यत्परोक्षं फलं तत्
पुंसां युक्तं भवति हि समं कारणेनैव कार्यम्।
प्रत्यक्षस्त्वं सकलजगतां यत्समक्षं फलं मे
युष्मद्भक्तेः समुचितमतस्तत्तु याचे यथा त्वाम्॥

अन्वय—(हे भगवन् !) अप्रत्यक्ष-त्रिदश-भजनात् पुसां यत् परोक्षं फलं तत् युक्तं, कार्यं हि कारणेन एव समं भवति। त्वं सकल-जगतां प्रत्यक्ष: अत: युष्मत्-भक्तेः यत् मे समक्षं फलं (स्यात्) तत् तु याचे यथा त्वाम्।

अनुवाद—(हे भगवान !) इन्द्र आदि ऐसे देवताओं, जो कि प्रत्यक्ष रूप में दिखाई नहीं दे रहे हैं, का भजन करने वाले लोगों को जो परोक्षफल (मरणोपरान्त स्वर्गादि मिलने के रूप वाला परोक्षफल) मिलता है वह बिल्कुल तर्कसङ्गत है — क्योंकि (कारण-कार्यभाव नियम के अनुसार), निश्चित रूप में, प्रत्येक कार्य अपने कारण के ही अनुरूप होता है। (इसके प्रतिकूल चितिशक्तिमय होने के कारण) आप सारे जगत को प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं (चेतनाशक्ति की क्रियाशीलता किसको प्रत्यक्ष नहीं दिखाई दे रही है?), अत: आप जैसे प्रत्यक्ष देवता की उपासना करने से जो (निर्व्युत्थान-समाधि के रूपवाला) प्रत्यक्ष एवं उचित फल मुझे मिलना चाहिये मैं उसी की याच्ञा कर रहा हूँ। मैं ऐसे (प्रत्यक्ष) फल की याचञा आप जैसे (प्रत्यक्ष) देवता से ही कर रहा हूँ (और किसी परोक्ष देवता से नहीं)।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ—अप्रत्यक्षेन्द्रचन्द्रादिदेवताराधनादाराधकानां यत्स्वर्गप्राप्त्यादि परोक्षं कालान्तरे भावि फलं तद्युक्तम् यतो मृद इव मृण्मयो घटः कारणोचितमेव कार्यं भवति।

अनुवाद— (हे भगवान चित् सूर्य !) प्रत्यक्ष रूप में दिखाई न देनेवाले इन्द्र, चन्द्रमा और ऐसे ही इतर देवताओं की आरधना करने वाले आराधकों को जो स्वर्ग-प्राप्ति इत्यादि रूपों वाला 'परोक्ष' अर्थात् कालान्तर (मरणोपरान्त) में प्राप्त होने वाला फल मिलता है, वह बिल्कुल तर्कसङ्गत है। कारण यह कि प्रत्येक कार्य अपने कारण के अनुगुण ही होता है जिस प्रकार मिट्टीरूपी कारण से बना हुआ घड़ारूपी कार्य हर हालत में मिट्टी का ही बना रहता है।

मूलग्रन्थ—त्वं तु चिदर्कः सर्वेषां प्रत्यक्षः स्वप्रकाशः - चिदर्कस्वप्रकाशात्मतां बिना कस्याप्यप्रकाशादिति।

अनुवाद—आप तो चितिशक्तिमय सूर्यदेव होने के कारण (अणु अणु में) निजस्वभाव से ही प्रकाशमान हैं अतः सबों को प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। चितिशक्तिमय सूर्य की स्वयं-प्रकाशमानता को छोड और कोई पदार्थ (स्वयं) प्रकाशमान है ही नहीं।

मूलग्रन्थ—त्वद्भक्तेर्हेतोर्मम नित्योदितत्वत्समावेशात्मफलं समुचितम्। अतो हेतोस्तत्फलं याचे प्रार्थये।

अनुवाद—आप (प्रत्यक्षदेवता) की आराधना करने के कारण मुझे प्रतिसमय उदीयमान रहनेवाला आपके समावेश का फल मिल जाना भी औचित्यपूर्ण है। (प्रत्यक्षदेवतारूपी कारण से प्रत्यक्ष अनुभूति से गम्य समावेशरूपी कार्य ही तो जन्म ले सकता है)। यही कारण कि मैं उसी फल की मांग कर रहा हूँ।

मूलग्रन्थ – यथाकृतिमतीषु देवतासु सतीषु त्वामेव याचे तथा निर्व्युत्थानसमावेशात्मैव फलं याचे, न तु मितं किञ्चित्।

अनुवाद—सारांश यह कि जिस प्रकार मैं इतर साकार रूपवाले देवताओं में से केवल आपसे ही याच्ञा कर रहा हूँ उसी प्रकार केवल (आपके अनुगुण) निर्व्युत्थान-समाधि का ही फल मांग रहा हूँ , उससे कम कुछ भी मुझे स्वीकार्य नहीं है।

श्लोक ४६

मूलश्लोक

ये चारोग्यं दिशति भगवान्सेवितोऽप्येवमाहु
स्ते तत्त्वज्ञा जगति सुभगा भोग-योग-प्रधानाः।
भुक्तेर्मुक्तेरपि च जगतां यच्च पूर्णं सुखानां
तस्यान्योर्कादमृतवपुषः कोहि नामास्तु दाता॥

अन्वय—'भगवान् सेवितः आरोग्यं दिशति' ये च एवम् आहुः , ते अपि जगति तत्त्वज्ञाः सुभगाः भोग-योग-प्रधानाः (सन्ति), हि जगतां भुक्तेः मुक्तेः अपि च यत् पूर्णं सुखानां (वर्तते) तस्य अमृत-वपुषः अर्कात् अन्यः कः नाम दाता अस्तु।

अनुवाद—(आरोग्यं भास्करादिच्छेत् इस शास्त्रनिर्देश के अनुसार जिन लोगों की मान्यता यह है कि—'भगवान सूर्यदेव उपासना किये जाने पर अरोग्य देते हैं — वे भी इस जगत में, अपने स्थान पर, तत्त्वदर्शी, सौजन्यपूर्ण और मुख्यतया भोग और योग के मार्ग पर, एक साथ ही, चलने वाले लोग हैं। (इस का तात्पर्य यह कि युगपत् भोग एवं योग के मार्ग को अपनाने वाले जनों के शरीर नीरोग होने ही चाहिये अतः वे उसी दृष्टि से उपासना करते हैं)। भला इस संसार में आप अमृतस्वरूप चित्-सूर्य देव के अतिरिक्त, भुक्ति, मुक्ति और 'पूर्णसुख' अर्थात् नीरोग जीवन प्रदान करने वाले और किस दूसरे दाता के होने की सम्भावना है?

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— येऽपि च कोचिदविमृष्ट-समावेशात्म-मुख्य-फला— 'भगवान्सेवित आरोग्यं दिशति'— इत्याहुस्तेऽपि जगति तत्त्वज्ञाश्च सुभगाश्च— यतो भोग-योग-प्रधाना भोगाय योगाय चारोग्यं वाञ्छन्ति।

अनुवाद— (हे भगवान चित्-सूर्य!) ऐसे भी लोग हैं जो निर्व्युत्थान-समावेश के रूपवाले मुख्य फल की ओर तनिक भी ध्यान न देकर केवल यह कहते हैं कि— 'भगवान (सूर्यदेव) आराधना किये जाने पर नीरोगता का फल देते हैं'। मेरे विचार में वे लोग भी, अपने स्थान पर, तत्त्ववेत्ता और सद्विचारों वाले हैं, क्योंकि भोग एवं योग के मार्ग को प्रधानता देने वाले योगी, एक साथ ही, भोगसिद्धि और योगसिद्धि प्राप्त करने के लिए आरोग्य की कामना करते ही हैं।

मूलग्रन्थ— **युक्तं चैतत्, यतोऽमृतवपुषः परानन्दप्रकाशघनाच्चिदर्कादन्यः को नाम भोग-मोक्षयोः तदाश्रयस्य पूर्णसुखात्मन आरोग्यस्य च दाता? न कश्चित्।**

'पूरणगुणसुहितार्थ'— इति तृप्त्यर्थैः सह षष्ठी समास निषेधाज्ज्ञापकात् 'सुखानां पूर्णम्' इत्यत्र षष्ठी।

अनुवाद— यह तर्कसंङ्गत भी है क्योंकि अमृतमय स्वरूप वाले और परम उत्कृष्ट (लोकोत्तर) आनन्द एवं प्रकाश की घनता से युक्त चित्-सूर्यदेव के अतिरिक्त ऐसा और कौन है जो कि भुक्ति, मुक्ति और इन दोनों का आधार बने हुए, पूर्णसुखरूपी आरोग्य का वितरण करने वाला हो? निःसंशय ऐसा और कोई नहीं है।

'पुरणगुणसुहितार्थ' इत्यादि व्याकरणसूत्र के अनुसार तृप्ति का अर्थ अभिव्यक्त करने वाले शब्दों की सहकारिता में षष्ठी समास लगाये जाने का निषेध एक ज्ञापक है जिसके अनुसार यहां पर मूलश्लोक में 'सुखानां पूर्णम्' यहां पर (षष्ठी-समास का प्रयोग करने के विना ही) षष्ठी-विभक्ति लगाई गई है।

श्लोक ४७

मूलश्लोक

हित्वा हित्वा गुरुचपलतामप्यनेकान्निजार्था-
न्यैरेकार्थीकृतमिव भवत्सेवनं मत्प्रियार्थम्।
तेषामिच्छाम्युपकृतिमहं स्वेन्द्रियाणां प्रियाणा-
मादौ तस्मान्मम दिनपते देहि तेभ्यः प्रसादम्॥

अन्वय— हे दिनपते ! यैः गुरु-चपलतां अनेकान् निज-अर्थान् अपि हित्वा हित्वा, मत्-प्रिय-अर्थं भवत्-सेवनम् एक-अर्थीकृतम् इव (वर्तते), अहं तेषां प्रियाणां स्व-इन्द्रियाणाम् उपकृतिम् इच्छामि, तस्मात् मम आदौ तेभ्यः प्रसादं देहि।

अनुवाद— हे दिनपति ! जिन्होने (आजन्म) अपनी (स्वाभाविक) प्रबल चञ्चलता और अपने (शब्द, स्पर्श आदि विषयों का उपभोग करते रहने

की प्रवृत्ति के रूपवाले) प्रयोजनों को, बार-बार, तिलाञ्जलि देकर, मेरा ही प्रिय करने के हेतु, आपकी सेवारूपी एक ही प्रयोजन को अपना मात्र ध्येय जैसा बना दिया, उन अपनी प्यारी इन्द्रियों का मैं (बदले में) अवश्य उपकार करना चाहता हूँ अतः मुझे सबसे पहले उन्हीं के लिए अनुग्रह का वरदान दीजिये।

(यहां पर स्तुतिकार की प्रार्थना का यह तात्पर्य है कि मेरी इन्द्रियों की बहिर्मुखीन वृत्तिरूपता का शमन करके उन्हें अन्तर्मुखीन स्वतन्त्र करणेश्वरी चक्र (अन्तर्हृदय में अधिष्ठित शक्तिचक्र) के रूप में उन्मिषित कीजिये।)

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ— हे दिनपते चिद्धानो, यैरिन्द्रियैरन्तर्बहिः करणैर्गुर्वीं चपलतां महतीमनवस्थितिं, पुनः पुनः प्रवृत्तामपि तथाऽनेकान्निजार्थान् विषयविश्रान्त्यात्मकानि नाना स्वप्रयोजनानि, हित्वा त्यक्त्वा, भवत्सेवनमन्तर्मुखीभावयुक्त्या त्वत्परिशीलनं, मम प्रियार्थम्, एवैकार्थीकृतमभिनिवेशेनाश्रितम्।

अनुवाद— हे दिनपति चित्-सूर्य, जिन मेरी बाहरी इन्द्रियों और अन्तः करणों ने बार-बार प्रवृत्तिशील बनी हुई भी अपनी प्रबल चञ्चलता अर्थात् मानसिक असन्तुलन के जोरदार झटके को और अपने अनेक सांसारिक विषयोपभोग के निहित स्वार्थों को तिलाञ्जलि देकर, मात्र आपकी सेवावृत्ति अर्थात् अन्तर्मुखीभाव की युक्ति का आश्रय लेकर अन्तर्हृदय में आपका अनुसन्धान करते रहने का एक ही लक्ष्य मेरा उपकार करने की कामना से आग्रहपूर्वक अपना लिया।

मूलग्रन्थ—तेषां प्रियाणां स्वेन्द्रियाणामहमुपकारमिच्छामि। तस्मान्ममादौ तेभ्यः प्रसादं देहि मायीय देह परिहारेण निजमरीचिचक्रात्मतां प्रकटयेत्यर्थः।

अनुवाद— मैं उन अपनी प्यारी इन्द्रियों का प्रत्युपकार करना चाहता हूँ। अतः आप मुझे, सब से पहले, उन्ही के लिए प्रसाद का वरदान दीजिये। तात्पर्य यह कि उनके मायामय शरीरभाव की अभिमानिता का परिहार करके उनमें आपकी अपनी ही शक्तियों का चक्र होने का वास्तविक स्वरूप प्रकटाइये।

श्लोक ४८

मूलश्लोक

किं तन्नामोच्चरति वचनं यस्य नोच्चारकस्त्वं
किं तद्वाच्यं सकलवचसां विश्वमूर्ते न यत् त्वम्।
तस्मादुक्तं यदपि तदपि त्वन्नुतौ भक्तियोगा-
दस्माभिस्तद्भवतु भगवंस्त्वत्प्रसादेन धन्यम्॥

अन्वय– हे विश्वमूर्ते! किं नाम तत् वचनम् उच्चरति यस्य त्वं न उच्चारकः सकल-वचसां किं तत् वाच्यं यत् त्वं न, हे भगवन्, तस्मात् त्वत् नुतौ भक्तियोगात् यत्-अपि तत्-अपि अस्माभिर्ः उक्तं तत् त्वत् प्रसादेन धन्यं भवतु।

अनुवाद– हे असीम विश्व की मूर्ति को धारण करने वाले, वैसे कौन से बोल (वाणी के द्वारा) बोले जाते हैं जिनका उच्चारण आप स्वयं नहीं करते? सारे 'वचनों' अर्थात् वाचक पदों के द्वारा वे कौन से वाच्य अर्थात् सङ्केतित अर्थ अभिव्यक्त किये जाते हैं जो आप स्वयं नहीं हैं? इसलिए हे ऐश्वर्यशाली, मैने भी आपकी स्तुति करने में भक्तिवश जो कुछ भी सङ्गत या असङ्गत बता दिया वह आपके अनुग्रह से धन्य बन जाये।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– हे विश्वमूर्ते अनवच्छिन्न, त्वन्नुतिविषये इदन्तावच्छेद-प्रधानतया असमञ्जसप्रायं किमप्यस्माभिस्त्वद्भक्तित उक्तं तद्विश्वस्य वाच्यवाचकात्मनस्तव प्रसादादन्तर्नैर्मल्यप्राप्तेर्धन्यमस्तु त्वद्रूपतयैव स्फुरतु।

अनुवाद– हे विश्वमूर्ति अर्थात् इयत्ताओं से अतिगत (चित्सूर्यदेव), आपकी स्तुति करने के परिप्रेक्ष्य में जो कुछ भी मैने कहा उसमें मुख्यतः इदन्ता (संसार भाव) की इयत्ताओं का ही भाव झलक रहा है और वह सारा ऊल-जलूल ही है। परन्तु वह सारा मैंने आपकी भक्ति से कहा। अतः मैं यह आशीर्वाद मांग रहा हूँ कि वह मेरा कथन, समूचे शब्दों और अर्थो का स्वरूप धारण करने वाले आपके प्रसाद से अर्थात् अपने हृदय

के निर्मल हो जाने से धन्य बन जाये अर्थात् आपका ही स्वरूप बनकर स्पन्दायमान बन जाये।

श्लोक ४९

मूलश्लोक

या पन्थानं दिशति शिशिराद्युत्तरं देवयानं
या वा कृष्णं पितृपथमथो दक्षिणं प्रावृडाद्यम्।
ताभ्यामन्या विषुवदभिजिन्मध्यमा कृत्यशून्या
धन्या काचित्प्रकृतिपुरुषावन्तरा मेऽस्तु वृत्तिः॥

अन्वय– या (प्राणवृत्तिः) देवयानं शिशिरादि– उत्तरं पन्थानं दिशति, वा या (अपानवृत्तिः) प्रावृट् आद्यं दक्षिणम् कृष्णम् अथो पितृपथं दिशति, ताम्याम् अन्या विषुवत् अभिजित् मध्यमा कृत्यशून्या प्रकृति-पुरुषौ अन्तरा काचित् मे वृत्तिः अस्तु।

अनुवाद– जो (प्राणवृत्ति) 'देवयान' अर्थात् शिशिर-ऋतु से आरम्भ होने वाले उत्तरायण के मार्ग का सङ्केत देती है, अथवा जो (अपानवृत्तिः) वर्षा-ऋतु से आरम्भ होने वाले दक्षिणायन मार्ग, जिसके दूसरे नाम कृष्ण और पितृपथ भी हैं, का सङ्केत देती है, इन दोनों वृत्तियों से भिन्न, विषुवत् अथवा अभिजित् नाम वाली, बीच की संधिरूपिणी, प्राण एवं अपान की गति से रहित और प्रकृति और पुरुष अथवा इडा एवं पिङ्गला नाम वाली बायें और दायें पार्श्वों की प्राणवाहिनियों के बीच में अवस्थित कोई शब्दों में अवर्णनीय एवं सौभाग्यपूर्ण मध्यमा-वृत्ति की भूमिका मुझे सदा के लिए प्राप्त हो जाये।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ– प्रकृतिपुरुषौ वामदक्षिणवाहौ, अन्तरा तन्मध्ये, काचिदसामान्या, धन्या संपन्मयी, मे वृत्तिः स्थितिरस्तु।

अनुवाद– प्रकृति और पुरुष क्रमशः बायें ओर की प्राणवाहिनी (पिङ्गला-नाड़ी) और दायें ओर की अपानवाहिनी (इडा-नाड़ी) इन दोनों के

मध्य में अवस्थित, कोई असाधारण और धन्य अर्थात् मोक्ष की विभूति से परिपूर्ण (मध्यमा) वृत्ति मुझे सदा के लिए प्राप्त हो जाये।

मूलग्रन्थ— कीदृशी?

विषुं व्याप्तिमर्हतीति विषुवत्, अभिजयति द्वैतप्रशमनात् सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यभिजित्, सर्वमध्यवर्तित्वान्मध्यमा, स्वानन्दविश्रान्तिसारत्वात् कृत्यैः सौम्यक्रूरादिभिः कार्यैः शून्या।

अनुवाद— (शङ्का) कैसी (मध्यमावृत्तिः)? (समाधान)—

विषुवत्—विषु सर्वव्यापकता को कहते हैं, उसके योग्य, अर्थात् सर्वव्यापिनी सत्ता के रूपवाली,

अभिजित्—सर्वतोमुखी विजय को प्राप्त करने वाली सत्ता। द्वैतभाव का पूर्णतया शमन करने से सब से उत्कृष्ट पदवी पर अवस्थित,

मध्यमा—विश्व में प्रत्येक पदार्थ का मध्यवर्ती हृदय बनी हुई, अथवा प्राणसंचार और अपानसंचार दोनों के अन्तराल में पाई जाने वाली विश्रान्तिमयी संधि के रूपवाली और—

कृत्यशून्य—विशुद्ध आत्मिक आनन्दमयता का सार-सर्वस्व होने के कारण प्रत्येक प्रकार के सात्त्विक, तामसिक इत्यादि कर्त्तव्यों से रहित, अथवा प्राण और अपान की गति से रहित।

मूलग्रन्थ—तथा देवप्रीतिकारित्वाद्देवयानंहृदो द्वादशान्तं यावत् प्रसरणरूपं शिशिरवसन्त-ग्रीष्म-स्वभाव मुत्तरपन्थान-मुत्तरायणम् या प्राणाख्या वृत्तिर्दिशति प्रथयति।

अनुवाद— 'देवयान' शब्द प्राणीय उत्तरमार्ग अर्थात उत्तरायण को सूचित करता है। प्राणवृत्ति इसका निर्देश करती है। देवताओं को प्रिय लगने के कारण इस अयन को देवयान की संज्ञा दी गई है। (प्राणभ्यास क्रम में) हृदय अर्थात् ऊर्ध्व-द्वादशान्त (हृदय) से प्राण वृत्ति बाह्य-द्वादशान्त तक संचार करती हुई, (अपने छत्तीस अंगुल के चार में) शिशिर-ऋतु, वसन्त-ऋतु और ग्रीष्म-ऋतु इन तीन ऋतुओं (छः महीनों) की अवधि को अपने में समाकर, उत्तरपथ अर्थात् उत्तरायण का विकास करती है।

मूलग्रन्थ—या वा अपानाख्या वृत्तिर्द्वादशान्ताद्धृत्प्रवेशरूपा प्रावृट्-शरत्-हेमंत-रूपं दक्षिणं पन्थानं दक्षिणायनं, भोगप्रदत्वात्कृष्णं, पितृप्रीति हेतुत्वात्पितृपथं दिशति।

अनुवाद— 'पितृपथ' शब्द प्राणीय दक्षिणमार्ग अर्थात् दक्षिणायन को ध्वनित करता है। पितरों को प्रीतिकर होने के कारण इस अयन को पितृपथ कहा गया है। अपानवृत्ति इसका निर्देश करती है। अपानवृत्ति बाह्य-द्वादशान्त से हृदय (अन्तः-द्वादशान्त) तक संचिरत होती हुई (अपने चार के छत्तीस अंगुलों में) वर्षा-ऋतु, शरत्-ऋतु और हेमन्त ऋतु इन तीन ऋतुओं के कालमान को अपने में समाकर दक्षिणपथ अर्थात् दक्षिणायन को पूरा कर लेती है। दक्षिणायन को कृष्ण-अयन इसलिये नाम पड़ा है कि इसमें प्राणत्याग करने पर भोग अर्थात् स्वर्ग आदि ही मिल सकते हैं (मुक्ति नही)।

मूलग्रन्थ—ताभ्यामन्या व्यतिरिक्ता जीवन्मुक्तिप्रदा, उन्मनाख्येत्यर्थः। षट्त्रिंशदङ्गुलेऽङ्गुलषट्के हृदः प्रभृति मकरादिराश्युदय इत्यर्थः श्रीस्वच्छन्दादिशास्त्रेष्वस्ति॥

अनुवाद— 'ताभ्यामन्या' यह शब्द इन दोनों वृत्तियों (प्राणापान) से इतर अर्थात् जीवन्मुक्ति प्रदान करने वाली (मध्यमा-वृत्ति) को सूचित करता है। (शैवागमों में) इसको उन्मनावृत्ति कहते हैं।

श्री स्वच्छन्द आदि आगम-शास्त्रों में हृदयदेश से आरम्भ होने वाले प्राणचार के छत्तीस अंगुलों में से हरेक छः छः अंगुल के अन्तर पर मकर आदि राशियों का उदय होने की प्रक्रिया को समझाया गया है।

टिप्पणी

१. पाठकों का ध्यान इस बात की ओर पहले ही आकर्षित किया जा चुका है कि शैवगमों में वर्णित प्राणाभ्यास क्रम में योगी पुरुष के एक प्राणचार और अपानचार के आवर्तन में एक घडी, एक तिथि, एक मास, एक वर्ष, दस वर्ष, सठ वर्ष इत्यादि रूपों वाले काल-विभागों का समावेश माना गया है। इस प्राणीय प्रक्रिया का बहुत ही लम्बा-चौड़ा एवं पेचीदा लेखा-जोखा वहां प्रस्तुत किया गया है। उतने सारे वर्णन का यहां पर उल्लेख करने में कोई लाभ नही क्योंकि एक तो उससे प्रस्तुत भक्तिरस

से भरा हुआ स्तुति ग्रन्थ आनावश्यक रूप में बोझिल होगा और दूसरा सर्वसाधारण पाठकों को उस अनावश्यक गोरख-धन्धे में धकेलने में भी कोई सार नहीं है। उत्सुक पाठक तो स्वयं ही उन ग्रन्थों का अध्ययन करके इस विषय की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

प्रस्तुत स्तुतिग्रन्थ में भगवान साम्ब ने आठवें और सताईसवें पद्य में योगी के एक प्राणापान के आवर्तन में एक मास (दो पखवाडे) के उदय की ओर संकेत करके अब इस ४९वें पद्य में एक वर्ष (दो अयन) के उदय का उल्लेख किया है। एक मास के उदय की प्रक्रिया के सन्दर्भ में यह बात पहले ही समझाई गई है कि अपानचार के ३६ अंगुलों में से हर सवा दो अंगुल के अन्तर पर एक एक तिथि का उदय मान कर प्राणीय शुक्लपक्ष की पंद्रह और इसी प्रकार प्राणचार में कृष्णपक्ष की पंद्रह तिथियों का उदय मानकर और दो संधिस्थानों पर की आधी आधी तुटि मिलाकर एक मासोदय पूरा हो जाता है। इसी प्रकार प्रस्तुत स्थल पर भी हृदयदेश से आरम्भ होने वाले प्राणचार के ३६ अंगुलों में से प्रत्येक छठे अंगुल पर मकर आदि ६ राशियों (अर्थात् मकर से मिथुन तक की ६ राशियों) का उदय और बाह्य-द्वादशान्त से आरम्भ होने वाले अपानचार में इसी गणना से शेष ६ राशियों (अर्थात् कर्क से धनु तक की ६ राशियों) का उदय मानकर दो अयनों (अर्थात् उत्तरायण के ६ मास = तीन ऋतु, और दक्षिणायन के ६ मास = तीन ऋतु) का समावेश करके, एक पूरे प्राणापान आवर्तन में— १२ राशियों = १२ मासों = ६ ऋतुओं और तीन तीन ऋतुओं वाले दो अयनों अर्थात् एक पूरे वर्ष (३६० दिन) के उदय-क्रम की ओर सङ्केत किया गया है। तन्त्रसार में भगवान अभिनव ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

'अथ वर्षोदयः। तत्र कृष्णपक्ष एव उत्तरायणं षट्सु षट्सु अङ्गुलेषु संक्रान्तिः मकरात् मिथुनान्तं . . . . एवं प्रवेशे दक्षिणायनं . . . . इति वर्षोदय :'।

(त० स० आ० ६)

अस्तु, प्राणीय प्रक्रिया के बारे में जितना कुछ कहा जाता है अथवा शास्त्रों में लिखा जा चुका है वह अपने स्थान पर ठीक है। परन्तु जब

तक प्राणापान का संचार सक्रिय है तब तक सारी साधनायें और सारे उपाय व्यर्थ हैं। प्राणापानसंचार तो क्षोभपूर्ण संसारभाव ही है। स्वरूप-प्रत्यभिज्ञान तो प्राणापानसंचार के क्षोभ से मुक्त मध्यमावृत्ति में ही संभव हो सकता है। उसी अवस्था को शास्त्रीय शब्दों में तुरीया-साक्षात्कार की अवस्था कहते हैं। सिद्ध गुरुजन अपने शिष्यों को इस अवस्था का साक्षात्कार दोनों द्वादशान्तों की संधियों अर्थात् प्राणापान-वृत्तिहीन तुट्यर्धांशों में करवाते हैं। फिर उसी भाव पर स्थिरता पाने का अभ्यास करने से निर्व्युत्थान-समाधिलाभ = तुरीयातीतरूपिणी उन्मना अवस्था प्राप्त हो जाती है और साधक कृतकृत्य हो जाता है। यही कारण है कि हमारे प्रस्तुत स्तुतिकार को प्राणापान वृत्तियां मान्य नहीं हैं। वह तो केवल मध्यमा-वृत्ति पर स्थिर रहना चाहता है। उसको संसार नहीं परमशिवभाव चाहिये।

श्लोक ५०

मूलश्लोक

स्थित्वा किञ्चिन्मन इव पिबन् सेतुबन्धस्य मध्ये
प्राप्योपेयं ध्रुवपदमथो व्यक्तमुद्दाल्य तालु ।
सत्यादूर्ध्वं किमपि परमं व्योम सोमाग्निशून्यं
गच्छेयं त्वां सुरपितृगती चान्तरा ब्रह्मभूतः ॥

अन्वय— तालु व्यक्तम् उद्दाल्य, अथो उपेयं ध्रुवपदं प्राप्य, सेतुबन्धस्य मध्ये स्थित्वा किञ्चित् मनः पिबन् इव, सुर-पितृगती च अन्तरा ब्रह्म-भूतः (सन्) अहं सत्यात् ऊर्ध्वं सोम-अग्नि-शून्यं किम् अपि परमं व्योम त्वां गच्छेयम्।

(सङ्केत— इस स्तुतिपद्य में असाधारण योगानुभूतिपरक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। साधारण रूप में उनके अर्थ इस प्रकार हैं—)

मन—समनाभाव तक पिंड न छोड़ने वाले, मानसिक विकल्पों के संस्कार।

सेतुबन्ध—समनाभाव से निरामय भूमिका उन्मना में उत्क्रान्ति का मार्ग, ब्रह्मरन्ध्र-मार्ग।

उपेय—सर्वोच्च स्वरूपज्योति जिसको साधनात्मक उपायों के द्वारा आन्तरिक रूप में उन्मिषित किया जाता है।

ध्रुवपद—कूटस्थ एवं विभागवर्जित महाशिवप्रकाशमय बिन्दु।

तालु—तालु के मध्य में वर्तमान लम्बिकाचतुष्पथ।

सत्य—ओं भू:, ओं भुव:, ओं स्व:, ओं मह:, ओं जन:, ओं तप:, ओं सत्यम्– इन सात महाव्याहृतियों में से सब से उपरितनवर्ती सत्यलोक।

व्योम—महाशिवमय चिदाकाश।

सोमाग्निशून्य—प्राणापानचार के क्षोभ से रहित।

सुर-पितृ-गती—देवयान एवं पितृयान, दूसरे शब्दों में प्राणीय उत्तरायण और अपानीय दक्षिणायन साधारण शब्दों में प्राणापान-चार।

अन्तरा—हृदय (ऊर्ध्व-द्वादशान्त) और बाह्य-द्वादशान्त पर योगियों के द्वारा अनुभव की जाने वाली आधी तुटि की संधि जिसमें प्राणापान की गति पूर्णतया विश्रान्त होती है अत: चित्शक्ति की प्रकाशमानता विशुद्ध रूप में अवभासमान रहती है। ऐसी ही संधि की वेला में।

ब्रह्मभूत—इयत्ताओं और सङ्कोचों की प्राचीरों को तोड़कर असीम ब्रह्मसत्ता के साथ एकाकार बनी हुई योगी की आत्मा।

अनुवाद— (हे भगवान चित्-सूर्यदेव !) मैं, (आपके ही अनुग्रह से) तालु के स्थान पर वर्तमान लम्बिका का सफलतापूर्वक अवभेदन करने के फलस्वरूप उपेय (महाप्रकाशमय बिन्दु की) अविचल पदवी पर पहुंचकर, ब्रह्मरन्ध्र-मार्ग के रूपवाले सेतुबन्ध पर अवस्थित रहकर सारे मानसिक सङ्कल्पों को संस्कारों के साथ ही 'पीता हुआ जैसा' अर्थात् आत्मभाव में ही पूरी तरह लीन करता हुआ, देवयान और पितृयान के अन्तराल में वर्तमान संधिवेला में सांसारिक इयत्ताओं से निकलकर और सर्वव्यापी ब्रह्मसत्ता के साथ एकाकार बनकर, आपके अवर्णनीय, सत्यलोक से ऊपर और प्राणापान के क्षोभ से रहित परम व्योममय स्वरूप में (सदा के लिए) समा जाऊँ।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ – सुरपितृगती अन्तरा ऊर्ध्वाधः प्रवेशात्मनिर्णीत देवपितृमार्गयोर्मध्ये, चकारात् सर्ववाहानामप्यन्तः, ब्रह्मभूतोऽनवच्छिन्नतां प्राप्तः, त्वां गच्छेयं परतत्त्वात्मचिदर्करूपः स्याम्।

अनुवाद– (हे भगवान चित्-सूर्यदेव !) पहले वर्णित ऊर्ध्व-प्रवेश अर्थात् अपानचार और अधःप्रवेश अर्थात् प्राणचार के रूपवाले देवयान और पितृयान के मध्य में अथवा ('अन्तरा' शब्द के साथ) चकार लगाने से यह भाव भी अभिव्यक्त होता है कि सारी प्राणवाहिनी नाडियों के मध्य में, परब्रह्मसत्ता के साथ एकाकार बना हुआ अर्थात् अवच्छेदों से रहित सर्वव्यापकभाव पर पहुंचा हुआ मैं, आपमें ही समा जावूँ अर्थात् अर्थात् परम उत्कृष्ट तत्त्व चित्-सूर्य के ही रूप में लय हो जावूँ।

मूलग्रन्थ–कीदृशं त्वाम्? सत्याद्विश्वसत्ताप्रदात् सामरस्याद् धाम्न ऊर्ध्वमुत्कृष्टं प्रकाशानन्दैकघनं, किमपि परमं व्योमेत्यनुत्तरचिदाकाशरूपं, सोमाग्निशून्यं प्रशान्तप्राणापानसंस्कारम्।

अनुवाद– (शङ्का) किस प्रकार के स्वरूप वाले आप में (समा जाऊँ)?

(समाधान—) समूचे अन्तर्गत विश्व को अस्तित्व प्रदान करने वाले समरसता रूपी परमधाम सत्यलोक से भी उत्कृष्ट अर्थात् परिपूर्ण प्रकाशानन्द की घनता से युक्त, किसी वर्णनातीत परम नभोमण्डल[१] अर्थात् चिदाकाश का रूप धारण करने वाले और प्राणापान की गति के संस्कारों से भी विहीन।

मूलग्रन्थ–किं कृत्वा?

तालुलम्बिकाख्यरौद्रग्रन्थिधामव्यक्तिं कृत्वा–दिव्यकरणबन्धाश्रयत उद्घाल्य निर्भिद्य, अथो अनन्तरं ध्रुवपदं प्राप्य समस्त वेद्याविभाग प्रकाशात्म–बिन्दुस्थानमासाद्य, सेतुबन्धस्य मध्य इति निरोधकोर्ध्वशक्त्या तटद्वयान्तर्वाहि प्राणापानाद्युत्तरणोपायनादनादात्मसृष्टिनिरूद्धसमस्तकरन्ध्रमार्गे स्थित्वाऽधिरुह्य, किञ्चिन्मनः पिबन्निव समनान्तसविकल्पकमनःसंस्कारं प्रशमयन्।

अनुवाद– (शंका) क्या करने के उपरान्त? (समाधान) पहले तालुप्रदेश में वर्तमान लम्बिका[२] नामवाली परम दुर्भेद्य गांठ (निरोध) का दिव्यकरण बन्ध नामी (पूर्वोक्त) योगयुक्ति के द्वारा सफलतापूर्वक अवभेदन करके, इसके

उपरान्त सारे प्रमेय-पदार्थों की मूलभूत, विभागों से रहित अवस्था अर्थात् चतुर्दिक् प्रकाशमय बिन्दु के रूपवाले 'ध्रुवपद' अर्थात् अविचल परशिव भूमिका पर पहुंचकर और 'सेतुबन्ध के बीच में' अर्थात् (प्राणापान की गति को) निरुद्ध करने वाली ऊर्ध्वशक्ति के द्वारा इडा और पिङ्गला नामी दो पार्श्वों में संचरण करने वाले प्राण एवं अपान के क्षोभ को पार करने का उपाय बनी हुई ऊर्ध्वनादात्मकता- दूसरे शब्दों में परनाद– को उजागर बनाकर उसके द्वारा व्याप्त किये हुए ब्रह्मरन्ध्रमार्ग नामी सेतु पर अवस्थित होकर कुछ मात्रा में मन को 'पीता हुआ जैसा' अर्थात् समनाभाव[३] से निकलकर उन्मनाभाव में उत्क्रान्ति करने के प्राथमिक क्षण तक भी साथ न छोडने वाले विकल्पपूर्ण मानसिक संस्कारों को पूरी तरह शान्त करता हुआ।

टिप्पणियां

१. 'परम व्योम' से शैव संदर्भ में परम शिवप्रकाशमय अनन्त शून्यावकाश का अभिप्राय लिया जाता है। शैव मान्यता के अनुसार 'शून्य' शब्द से सर्वतोमुखी असद्भाव जैसी किसी परिकल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है। चित्शक्ति का कभी भी, किसी भी परिस्थिति में अभाव या असद्भाव नही होता है। कार्यरूप प्रमेय-विश्व का सद्भाव रहे या न रहे कोई अन्तर नहीं पड़ता है परन्तु कारणभूत चितिशक्ति का अस्त कभी नहीं होने पाता क्योंकि वह तो स्वयंसिद्ध अनादि एवं अनन्त अस्तित्त्व है। उसी स्वयंसिद्ध सत्ता के उन्मेष-निमेष से कार्यजगत के प्रलय एवं उदय होते रहते हैं परन्तु स्वयं वह एक अविनश्वर एवं अपरिणामी सत्ता है—

'यस्योन्मेष-निमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ'।

(स्व० का० १, १)

फलतः शैवशस्त्रियों के अनुसार परम शून्य एक अशून्यात्मक शून्य है—

'अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यश्चाभाव इष्यते।
अभावः सतु विज्ञेयो यत्र भावा लयं गताः'।

तात्पर्य यह कि शैव-परिभाषा में अशून्यमय शून्य ही शून्य कहा गया है, शून्य शब्द से (किसी सर्वतोमुखी अभाव का नहीं प्रत्युत अ-भाव अर्थात् 'अ = शिवकला का भाव अर्थात् शाश्वतिक सद्भाव) समझा जाता है।

फलतः अ-भाव रूपी अभाव का अभिप्राय वह परम व्योम है जिसमें समूचा कार्यरूप प्रमेय-विश्व अर्थात् समूचा भावमण्डल लय होकर अवस्थित है।

ऐसे ही परम-व्योम को शैवमान्यता में चिदाकाश अर्थात् वह अनन्त अवकाश जिसमें केवल चतुर्दिक् चित्-प्रकाश की अवभासमनता हो, का अभिप्राय लिया जाता है।

स्पन्द-शास्त्र के अनुसार परम व्योम से तुर्यारूप शाक्त-भूमिका के अनन्त अवकाश का अभिप्राय लिया गया है—

'तदा तस्मिन्महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे'।

(स्व० का० भा० पृ० १०७)

वहां पर इस स्पन्द-सूत्र का पर्याप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, वहीं से देख लेवें।

२. परम श्रद्धेय शिवलोकवासी सद्गुरु स्वामी ईश्वरस्वरूप महाराज जी के उपदेशामृत के अनुसार तालु प्रदेश में प्राणापान के प्रवेश-निर्गम के चार मार्ग हैं। इनमें से दो प्रत्येक साधारण प्राणी के लिए खुले रहते हैं और इनमें से होकर सर्व-साधारण प्राणापान गति चलती रहती है। अवशिष्ट दो मार्ग साधारण मानवों के लिए हमेशा अवरुद्ध एवं अदृश्य रहते हैं। केवल योगाभ्यासी जनों के लिए ही ये कभी-कभार विशेष गुरुकृपा से खुलते हैं। इनमें एक ऐसा द्वार है जो अवर योगियों के लिए खुलता है और वे लोग इसमें से अपने प्राणापान को मूलाधार में प्रवेश करवाते हैं। चौथा द्वार केवल तीव्रतम शक्तिपात के अधिकारी साधकों के लिए खुलता है। वे लोग इसमें से अपने प्राणापान को मध्यनाडी में प्रवेश करवाने के बिना सीधे ही ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचा देते हैं। इसी रहस्यमय मार्ग का नाम लम्बिका है। इस मार्ग का अवच्छेदन पूर्वोक्त (देखिये उल्लिखित पद्याङ्क २१ की टिप्पणी) दिव्यकरण नाम वाली शाम्भव-मुद्रा से ही संभव हो सकता है। इन चारों मार्गों को इकट्ठे रूप में लम्बिका-चतुष्पथ कहते हैं।

३. उन्मना-समना—अनुत्तर-तत्त्व की स्वभावभूत चेतना-शक्ति, जिसकी पारमेश्वर विमर्शमयी क्रियाशीलता द्वन्द्वात्मक संकल्प-विकल्पों के घात-प्रतिघातों से नहीं प्रत्युत सारे द्वन्द्वों से रहित अनादि स्वभाव से ही चलती रहती है,

उन्मना कहलाती है। भगवान अभिनव ने दो शब्दों में इसका चित्रण किया है—

'अत्र तु परसंविदि यथैव भासा तथैव व्यवहारमयोऽपि विमर्शः। तेन जल इव जलं, ज्वालायामिव ज्वाला, सर्वथा अभेदमया एव भावा भासन्ते, न तु प्रतिबिम्ब कल्पेन अपि'।

(प० त्रिं० भा० पृ० २०८)

तात्पर्य यह कि उस लोकोत्तर अनामय भूमिका में जैसी विशुद्ध एवं सर्वव्यापी चित्-प्रकाश की प्रकाशमानता का ही साम्राज्य है, तद्रूप सृष्टि-संहार आदि लीला की विलसमानता के व्यवहार को संपन्न करने वाला विमर्श भी है। अतः उस पदवी में सारे भाव जल में जल और ज्वाला में ज्वाला की तरह ही अपेक्षाओं और देश, काल आदि की इयत्ताओं से वर्जित बिम्बात्मक अभेदभाव में ही आभासमान हैं, और भेदपूर्ण प्रतिबिम्बात्मकता का नगण्य स्पर्श भी उनको होने नहीं पाता।

श्रीस्वच्छन्दतंत्र में उन्मना की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की गई है—

'आत्मतत्त्वं ततस्त्यक्त्वा विद्या तत्त्वे नियोजयेत्।
उन्मना सा तु विज्ञेया, मनः सङ्कल्प उच्यते ॥
सङ्कल्पात् क्रमतो ज्ञानम्, उन्मनं युगपत्स्थितम्।
तस्मात्सा च परा विद्या यस्मादन्या न विद्यते ॥'

इस कथन का तात्पर्य यह है कि साधना के सन्दर्भ में आत्मभाव की दो अवस्थायें हैं। एक का नाम आत्मव्याप्ति और दूसरे का नाम शिवव्याप्ति है। आत्मव्याप्ति में साधक अपनी आत्मा का ही, शेष विश्व से कतई अलग-थलग रूप में, स्वरूप-चेतना समझकर, अन्तरावलोकन, करने में अपनी कृतकृत्यता समझता है। शैवमान्यता के अनुसार ऐसी आत्मव्याप्ति तक ही सीमित रहने वाली स्वरूप प्रत्यभिज्ञा को एकदेशीय प्रत्यभिज्ञान समझा जाता है क्योंकि ऐसे प्रत्यभिज्ञान में आत्मा केवल अपने में ही सीमित, विश्वात्मक क्रियाशीलता से रहित, निष्क्रिय पिण्ड जैसा अवशिष्ट रह जाता है। उसमें सारे विश्व का समावेश नहीं होने पाता। अतः साधक को यह शिक्षा दी जाती है कि—

'आत्मव्याप्ति को छोडकर अपने को विद्यातत्त्व अर्थात् शिवविद्या अथवा शिवचेतना के साथ जोड़ देना चाहिये। उस 'शिव चेतना' अर्थात् अनादिबोध का ही नाम उन्मना है। मन तो केवल सङ्कल्प-विकल्पों की धारावाहिता का ही नाम है। इस धारावाहिता में सारे ज्ञान भी धारावाही (सक्रम) रूप में ही अधिगत होते हैं। परन्तु उन्मना में सारे ज्ञान युगपत ही अर्थात् अक्रम रूप में ही अवस्थित हैं। यही कारण है कि उस उन्मनारूपी अखण्डबोधात्मकता, जिसमें सारे विश्व का उस बोधरूपता में ही अन्तर्भाव है, को परा-विद्या कहते हैं। इसको विद्या क्यों कहते हैं इस सन्दर्भ में तन्त्र का कथन है—

"विन्दते ह्यत्र युगपत् सार्वज्ञादिगुणान् परान्।
वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्वबोधना।
वर्जनापरमात्मत्वे तस्माद्विद्येति चोच्यते।"

इस उन्मनाभाव में प्रवेश पाने के तत्काल ही आत्मा सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता इत्यादि पारमेश्वर गुणों की अनुभूति प्राप्त कर लेता है। परमेश्वर के सर्वज्ञता आदि माहेश्वर धर्मों की अनुभूति प्राप्त करने को ही परमात्मभाव का बोध होना कहते हैं। इस भाव में अपरमात्मभाव का स्वयं परिहार हो जाता है। इन्ही कारणों से उन्मना को पराविद्या अथवा शिवबोध कहते हैं।

पाठकों को यहां पर एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि इस उन्मनारूपी विद्या-तत्त्व का, तत्त्वक्रम में वर्तमान शुद्धविद्या-तत्त्व अथवा कला-तत्त्व के अनुगामी विद्या-तत्त्व के साथ कोई सम्बन्ध नही है। यह सब से उत्कृष्ट शिवचेतनारूपी विद्या-तत्त्व है। फलतः शिवभाव एवं शक्तिभाव का सामरस्य अर्थात् परमशिव अवस्था ही उन्मना-अवस्था अथवा सर्वातीत निरामय अवस्था है।

यह उन्मना ही जिस अवस्था में अनन्त अपेक्षाओं, घात-प्रतिघातों, सङ्कल्प-विकल्पों चतुर्दिक् वर्जनाओं और स्वीकृतियों एवं अपेक्षाओं पर पग पग पर आधारित रहने वाले संसार भाव का प्रदर्शन करने के लिए स्वयं अवरोह करके त्रिगुणमय मन की भूमिका पर उतरती है तो समना कहलती है। इस समना का विस्तार पृथिवी-तत्त्व से लेकर सदाशिव-तत्त्व तक की

कल्पनातीत विश्वमयता के छोरों तक विस्तृत है अतः इसमें जन्मजन्मान्तरों तक आत्मा को दुर्गति के कैदखाने में बन्द रखने वाले पाश कितने हैं इस परिप्रेक्ष्य में तन्त्र का दावा है—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्'

पग पग पर, सांस सांस में माया ने जाल बिछाकर रखे हैं, निस्तार पाना धीर पुरुषों का ही काम है। यह कितना कठिन संघर्ष है इसको हमारे स्तुतिकार ने एक ही शब्द में समझाया है—

'स्थित्वा किञ्चिन् मन इव पिबन्'

स्तुतिकार की आत्मा सेतुबन्ध अर्थात् उत्क्रान्ति के मार्ग पर पहुंचकर भी 'स्थित्वा' अभी अटकी हुई है। लक्ष्य सामने है परन्तु समना के पाशजाल छलांग मारने नहीं देते। कितनी विकट परिस्थिति है? अश्वघोष के शब्दों में—

'तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः॥

(सौं० नं०)

यहां पर भगवत्पाद श्रीसाम्ब की पञ्चाशिका समाप्त होती है।

उपसंहार पद्य

श्लोक ५१

मूलश्लोक

सर्वात्मत्वं सवितुरिति यो वाङ्मनः कायबुद्धया
रागद्वेषोपशमसमतायोगमेवारुरुक्षुः ।
धर्माधर्मग्रसनरशनामुक्तये युक्तियुक्तां
स श्रीसाम्बः स्तुतिमिति रवेः स्वप्रशान्तां चकार ॥

अन्वय— यः वाक्: मनः- काय-बुद्धया सवितुः सर्वात्मत्वं राग-द्वेष-उ-पशम-समता-योगम् एव आरुरुक्षुः (आसीत्), स श्रीसाम्बः धर्म-अधर्म-ग्रसन-रशना-मुक्तये रवेः इति युक्तियुक्तां स्वप्रशान्तां स्तुतिं चकार।

अनुवाद— वाणी (स्तुति), मन (चिन्तन), शरीर (प्रह्वता) और बुद्धि (अध्यवसाय) इन चार साधनों के द्वारा भगवान चित्-सूर्यदेव के विश्वात्मभाव की अनुभूति और अपने आप में राग और द्वेष इन दोनों का उपशम अर्थात् संस्कारों के सहित शमन हो जाने के फलस्वरूप विकास में आये हुए साम्यभाव इन दोनों (की समन्विति) के रूपवाले योग की भूमिका पर आरूढ़ हो जाने की अभिलाषा वाले श्रीसाम्ब ने– 'यह धर्म है, यह अधर्म है'— इस द्वन्द्व के द्वारा ग्रस्त होने के रूपवाले बन्धन से अपने आप को मुक्त कराने के हेतु भगवान चित्-सूर्य की इस प्रकार की युक्तियुक्त और आत्मिक विश्रान्ति को प्रदान करने वाली स्तुति की रचना की।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ—श्रयन्त्येतां योगिन इति श्रीस्तया मोक्षलक्ष्म्या सहितः साम्बो भगवद्वासुदेवसुत, इत्येवंरूपां, रवेश्चिदर्कस्य, स्तुतिं, स्वप्रशान्तामात्मविश्रान्ति परामकरोत्। 'सुप्रतिष्ठाम्' इति वा पाठः।

अनुवाद— प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'श्री' मोक्षलक्ष्मी को कहते हैं क्योंकि सारे योगी जन इसी का आश्रय लेते हैं। उसी मोक्षलक्ष्मी से परिपूर्ण 'श्रीसाम्ब' अर्थात् भगवान वासुदेव के पुत्र ने, भगवान चित्-सूर्य की, इस (पञ्चाशिका) के रूपवाली आत्मविश्रान्तिपरक स्तुति की रचना की। (यहां पर मूलश्लोक में 'स्वप्रशान्ताम्' के स्थान पर) 'सुप्रतिष्ठाम्' अर्थात् भक्तजनों में ख्यातिप्राप्त— यह वैकल्पिक पाठ भी प्रचलित है।

मूलग्रन्थ—कीदृशीं स्तुतिम्?युक्त्या परस्वरूपविश्रान्त्यात्मना योगेन युक्तां– तत्ख्यापयित्रीमित्यर्थः।

अनुवाद— (शंका) कैसी स्तुति (की रचना की)? (समाधान) जो कि परस्वरूप अर्थात् चित्-प्रकाशमयी परम उच्च भूमिका में पूर्ण आत्मिक शान्ति प्रदान करने वाली योग की युक्तियों से भरी हुई है। तात्पर्य यह कि उन योगयुक्तियों को अच्छी प्रकार प्रकाश में लाने वाली है।

मूलग्रन्थ—'स' इत्यस्य विषयं दर्शयति– यः सवितुर्विश्वकारणस्य चिद्भानोः, सर्वात्मत्वं वैश्वरूप्यमेव– 'योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना'। इत्याम्नायदृशा, योगं परैक्यमित्युक्तदृशारोढुमिच्छुः स्वीचिकीर्षुः, न त्वन्यत्किञ्चित्।

अनुवाद— 'स = वह' इस शब्द से द्योत्य विषय को दिखाते हैं—

जो (श्रीसाम्ब) 'सविता' अर्थात् विश्व की आभासमानता का मूल कारण बने हुए चित्-सूर्य की सर्वात्मता अर्थात् विश्वरूपता के ही रूपवाले—

"(शैव सन्दर्भ में) एक वस्तु (जीव भाव) का दूसरी वस्तु (शिव भाव) के साथ एकाकारिता को ही योग कहते हैं"

इस आगमिक दृष्टिकोण के अनुसार परतत्त्व के साथ एक होने की परमोच्च योग की भूमिका पर अधिरूढ़ होने को स्वीकारने का इच्छुक है। इससे और कोई भी वरदान उसको स्वीकार्य नहीं है।

मूलग्रन्थ—कीदृशं योगम्? सर्वदोषमूर्धन्ययो रागद्वेषयोः प्रशमे सति या समता साम्यं तद्रूपम्।

अनुवाद— (शंका) कैसे योग की भूमिका पर? (समाधान) सारी कुत्साओं का सिरताज बने हुए राग और द्वेष का शमन हो जाने पर अन्तर्हृदय में जो समता का भाव उदित हो जाता है, वही जिसका लक्षण है।

मूलग्रन्थ—केन ?

वाङ्-मनः-कायसहितया बुद्ध्या। वाचा स्तुतिभिः, मनसोनुसन्धानतः, कायेन कायप्राधान्येन निमज्जनात्मक प्रणामेन, बुद्ध्याऽध्यवसायेन।

अनुवाद— किस (साधनसम्पत्ति) के द्वारा (योग की उच्च पदवी पर चढने के इच्छुक हैं? इस शंका का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं–)

वाणी, मन और शरीर के सहित बुद्धि के द्वारा। तात्पर्य यह कि 'वाणी' अर्थात् स्तुति वाक्यों, 'मन' अर्थात् मानसिक अनुसन्धान, 'काया' अर्थात् कायिक अभिमानिता को डुबा देने वाले प्रणाम और 'बुद्धि' अर्थात् दृढ़ निश्चय के रूप वाली साधन सम्पत्ति के द्वारा।

मूलग्रन्थ—किमर्थमिमां स्तुतिमकरोदित्याह—धर्माधर्माभ्यां यद् ग्रसनमर्थादबुद्धस्य जगतस्तदेव रशनाबन्धनरज्जुस्तस्या मुक्तये। एतत्स्तोत्रपाठावमर्शाभ्यां जना जीवन्मुक्तिमायान्त्वित्याशयादित्यर्थः।

अनुवाद— किस अभिप्राय को लेकर इस स्तुति की रचना की? इस शंका का स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

अबोध जगत को ग्रसते रहने वाले धर्म और अधर्म का पचडा ही एक बन्धन की रस्सी है, उससे छुटकारा पाने के अभिप्राय से। कहने का आशय यह कि इस स्तुति का पाठ और विमर्श करने वाले जनगण जीवन्मुक्ति की अवस्था पर पहुंच पायें[१]।

टिप्पणी

१. इस उपसंहार पद्य में भक्तशिरोमणि श्रीसाम्ब ने इस पञ्चाशिका-स्तोत्र के नियमित पाठ एवं विमर्श करते रहने के प्रयोजन का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने के साथ-साथ, अनुगामी पीढ़ियों के लिए व्यंग्यरूप में एक संदेश भी दे रखा है। योग की परम उच्च भूमिका पर अधिरूढ़ होना ही मानव-जीवन का प्रधान एवं पार्यन्तिक लक्ष्य है। योग के सन्दर्भ में भी, जैसा श्रीक्षेमराज ने पूर्वश्लोक की टीका में 'योगमेकत्वमिच्छन्ति' इस आगमवाक्य के आधार पर सिद्ध किया है, यह समझना आवश्यक है कि विश्वात्मरूपिणी चित्-शक्ति में आत्मा का पूर्ण लयीभाव ही योग है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि साधक की सङ्कुचित आत्मा में दैवी अनुग्रह से विश्वात्मभाव का अनुस्यूत होना ही योग की उच्चतम भूमिका का अधिगम है। विश्वात्मभाव की अनुस्यूतता भी केवल उसी सूरत में संभव है जिसमें वाणी इत्यादि के द्वारा अपने इष्ट के प्रति पूर्ण प्रह्वतारूपिणी भक्ति एवं पाखण्डरहित साधना के द्वारा राग-द्वेषमयी वासनाओं का, संस्कारों के सहित, उपशम हो जाने के फलस्वरूप, अपने आप में सच्चा समताभावरूपी स्वभाव उदित हुआ हो।

संक्षेप में परिस्थिति इस प्रकार है कि आत्मा में विश्वात्मभावरूपी पारमेश्वर धर्म की अभिव्यक्ति होना साधक के अपने किसी भी प्रकार के पुरुषकार से संभव नहीं है। इस सन्दर्भ में शैव मनीषियों की अवधारणा भी कुछ ऐसी ही है—

'उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत् घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः'।

स्तुतिकार ने स्वयं भी प्रस्तुत उपसंहार-पद्य में 'सर्वात्मत्वं सवितुः' इस प्रकार 'सवितुः' शब्द का प्रयोग करके इसी तथ्य की ओर इशारा किया है कि अपने में विश्वात्मभाव की अनुभूति प्राप्त करने के लिए पारमेश्वर शक्तिपात, वह भी तीव्रतम चाहिये। इसके प्रतिकूल अपने में समताभावरूपी

स्वभाव की अभिव्यक्ति अवश्य साधक की निजी भक्ति, श्रद्धा, योगसाधना इत्यादि प्रकार के उपायों से हो सकती है। विश्वात्मभावरूपी बीज के फलित होने के लिए साम्यभावरूपी उर्वरक से परिष्कृत आत्मारूपी वसुन्धरा चाहिये। जब तक साधक के मन में राग-द्वेष आदि कुत्सित प्रवृत्तियों के संस्कारों का नगण्य अंश भी कहीं अवशिष्ट हो, तब तक विश्वात्मत्व की प्राप्ति मात्र एक शशिश्रृंग की कल्पना अथवा एक मृगमरीचिका है। तब तक उन्मना के अनन्त में घुल-मिल जाने की आशा रखना पहले अपने आपको और अनन्तर सारी दुनिया को धोखे में रखना है।

फलतः यहां पर भगवान योगेश्वर वासुदेव के प्रिय पुत्र व्यंग्यरूप में यह संदेश भी छोड़ गये हैं कि भक्तियोग के मार्ग पर चलने वाले प्रबुद्ध साधकों को अपनी जन्म-जन्मान्तर की वासनाओं से कलुषित आत्मा के ही परिष्कार के लिये ही कटिबद्ध रहकर प्रयत्न करते रहना चाहिये, परमेश्वर का अनुग्रह अवश्य स्वयं ही प्राप्त होगा क्योंकि उस अपेक्षाओं से सर्वथा वर्जित लोकोत्तर स्वभाव में कहीं कोई गतिरोध नहीं है। केवल साधक के मन में सच्ची श्रद्धा-भक्ति दृढ़ विश्वास और आत्म-उद्धार की तीव्रतम इच्छा होनी चाहिये।

श्लोक ५२

मूलश्लोक

भक्तिश्रद्धाद्यखिलतरुणीवल्लभेनेदमुक्तं
श्रीसाम्बेन प्रकट गहनं स्तोत्रमध्यात्मगर्भम्।
यः सावित्रं पठति नियतं स्वात्मवत्सर्वलोकान्
पश्यन् सोऽन्ते व्रजति शुकवन्मण्डलं चण्डरश्मेः॥

अन्वय— भक्ति-श्रद्धा-आदि-अखिल-तरुणी-वल्लभेन श्री साम्बेन उक्तम् इदं प्रकट-गहनम् अध्यात्मगर्भं सावित्रं स्तोत्रं यः स्वात्मवत् सर्व-लोकान् पश्यन् नियतं पठति, सः अन्ते शुकवत् चण्डरश्मेः मण्डलं व्रजति।

अनुवाद— भक्ति, श्रद्धा इत्यादि सारी सात्त्विक प्रवृत्तियों के रूपवाली तरुणी रमणियों के प्रिय श्रीसाम्ब के द्वारा कहे गये इस, अतिसरल शब्दार्थ

वाले परन्तु अध्यात्म के रहस्यों से गर्भित, सूर्यस्तोत्र का, जो व्यक्ति, संसार के सारे प्राणियों को स्वात्मरूप में ही देखता हुआ, नियमित रूप से पाठ (अनुसंधान) करता रहे, वह संसारी जीवन के अन्त पर, भगवान शुकदेव की तरह, चित्सूर्यदेव के 'प्रकाशमय मण्डल' अर्थात् लोकोत्तर समरसता की (परमोच्च) भूमिका में लय हो जाता है।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ—इदमध्यात्मगर्भं क्रोडीकृतरहस्यम्, प्रकटं बाह्यार्थदृशा, गहनं चाध्यात्म (त्मि) कार्थयोगात्, सावित्रं चिद्भानुसम्बन्धि, स्तोत्रं, श्रीसाम्बेनोक्तं, यः कश्चित्, स्वात्मानमिव सर्वलोकान् पश्यंश्चिदभेदात्मविश्वं स्तोत्रार्थं भावयन् नियतं निश्चयेन पठति अनवरतं विमृशति, सोऽन्ते चण्डरश्मेर्द्वैत ग्रासिनश्चिदर्कस्य, मण्डलं लीढविश्वसमरसीभूतमरीचिचक्रमेति–तन्मयो जायते।

अनुवाद— यह अध्यात्मसम्बन्धी रहस्य बातों से भरपूर, बाहरी (स्थूल) अर्थ की दृष्टि से अतिसुगम परन्तु साथ साथ आध्यात्मिक रहस्य अर्थों से गर्भित होने के कारण अत्यन्त गहन, चित्सूर्यदेव के साथ सम्बन्ध रखने वाला स्तोत्र श्रीसाम्ब के द्वारा रचा गया है। जो कोई भी व्यक्ति, सारे लोगों को स्वरूपमय ही देखता हुआ अर्थात् (उच्चतम) चित्-शक्ति के साथ सारे विश्व के अभेदभाव रूपी अर्थ, जो कि इस स्तोत्र में अन्तर्निहित है, का दृढ अनुसन्धान करता हुआ, इस स्तोत्र को नियमित रूप से पढ़ने का और विचारने का अभ्यासी हो, वह अन्त पर, द्वैत-भावनाओं का ग्रास करने वाले चित्सूर्य देव के मण्डल में पहुंच जाता है। तात्पर्य यह कि विश्वव्यापी भेदभाव का आस्वाद लेने से अर्थात् ग्रास करने से समरस बनी हुई ईश्वरीय शक्तियों के चक्र के साथ तन्मयीभाव को प्राप्त कर लेता है।

मूलग्रन्थ—शुकवद् भगवद्व्याससुतवत्। कीदृशेन साम्बेन? भक्ति-श्रद्धे आदी यासां तत्त्वार्थचिन्तादीनां ता एवाखिलास्तरुण्यो नवनवाः सुन्दर्यस्तासां वल्लभेन क्षणमपि परिहर्तुमशक्येन प्रेयसा, न तु रूपलावण्यातिशयमात्रात् समस्तबाह्यरमणीस्पृहणीयेन। इत्यनेन व्यतिरेकलभ्येनार्थेन भगवद्वासुदेव-सुतत्वमात्मनः प्रकटयति ।

अनुवाद— भगवान श्रीवेदव्यास के पुत्र श्रीशुकदेव की तरह ही (उल्लिखित भक्तजन सूर्यमण्डल में प्रवेश पाता है)। (शंका) कैसे स्वरूप वाले साम्बजी ने (इस स्तोत्र की रचनाकी ?) (समाधान) तात्त्विक अर्थ का धारावाहिक चिन्तन इत्यादि प्रकार की साधनात्मक प्रवृत्तियां, जिनमें भक्ति और श्रद्धा का पहला मुख्य स्थान है, ही नित नई सुन्दरियां कही जाती हैं, उनके 'वल्लभ' अर्थात् क्षणभर के लिए भी अपने संसर्ग से दूर न किये जा सकने वाले प्रियतम जैसे। इस कथन का कदापि यह अभिप्राय नही है कि (साम्बजी) स्वयं रूपवान और लावण्य की अतिशयता से युक्त होने के कारण सर्वसाधारण सांसारिक कामिनियों की आसक्ति का विषय बने थे।

यहां पर स्तुतिकार ने इसी व्यतिरेक ध्वनि से, स्वयं भगवान वासुदेव का पुत्र होने के भाव को भी अभिव्यक्त किया है।

श्लोक ५३

अनुक्रमणिका— उपसंहारभङ्ग्या जनाननुजिघृक्षुराशास्ते—

अनुवाद— अब (अगले अन्तिम पद्य में) स्तोत्रकार अपनी रचना का उपसंहार करने के साथ साथ सर्वसाधारण जनगण पर अनुग्रह करने की लालसा से अपना आशीर्वाद दे रहे हैं—

मूलश्लोक

इति परमरहसयश्लोकपञ्चाशदेषा
तपननवनपुण्या सागमा बह्मचर्चा।
हरतु दुरित मसमद्दर्णिता कर्णिता वो
दिशतु च शुभसिद्धि मातृवद्धक्ति भाजनम्॥

अन्वय— इति एषा तपन-नवन-पुण्या, स-आगम-ब्रह्मचर्चा, अस्मत्-वर्णिता, वः आकर्णिता, परमं-रहस्य-श्लोक-पञ्चाशत् भक्तिभाजां मातृवत् दुरितं हरतु शुभसिद्धिं च दिशतु।

अनुवाद— इस प्रकार की यह भगवान चित्-सूर्य की स्तुतिपरक होने के कारण परम पावन, आगमशास्त्रों पर आधारित परब्रह्म की चर्चा से भरपूर मेरे द्वारा वर्णन की गई, आप भक्तजनों के द्वारा श्रवण की गई और

अलोकसामान्य रहस्यों से गर्भित श्लोकों की पञ्चाशिका, (स्नेहपूर्ण) माता की तरह, भक्तजनों के दुःखों को दूर करे और मङ्गलमय सिद्धि (मुक्ति) प्रदान करे।

क्षेमराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ—इत्युक्त क्रमान्महारहस्यार्थयुक्ता– "स्थित्वा किञ्चिन्मन इव पिबन्"– इत्यन्तश्लोकानां पञ्चाशदेषा, तपनस्य विश्वविचित्राखण्डितप्रतापस्य भगवतश्चिदर्कस्य नवनेन स्तुत्या पुण्या पवित्रा तथा सागमा विश्वोपनिषद्रूपमाहेश्वरशास्त्रार्थसतत्त्वगर्भा, ब्रह्मचर्चा पराद्वयविमर्शो यस्यां तादृशी, अस्मद्वर्णिता सती आकर्णिता, वो युष्माकं सर्वेषां, दुरितं हरतु दुरध्यवसायं च नाशयतु, भक्तिभाजां च शुभसिद्धिं दिशतु अभीष्टां भोग-मोक्ष-लक्ष्मीं घटयताम् ।

इति शिवम् ॥

अनुवाद— इस प्रकार उल्लिखित क्रम के अनुसार 'स्थित्वा किञ्चिन्मन इव पिबन्' इस पद्य की समाप्ति तक के ये अतिगहन रहस्यार्थों से गर्भित पच्चास श्लोक (पञ्चाशिका) जहां एक ओर विश्वभर में अति अद्भुत और अखण्डित प्रतापशाली भगवान चित्-सूयदेव के स्तुतिपरक होने के कारण परम पावन हैं, वहां दूसरी ओर विश्वभर को (आगमिक) ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करने वाले माहेश्वर-शास्त्रों (शैवागमों) के रहस्यपूर्ण अर्थों से गर्भित और परतत्त्व के साथ परिपूर्ण अभेदभाव के विमर्श की अभिव्यंजना करने वाली ब्रह्मचर्चा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

हमने इस पञ्चाशिका का वर्णन (रचना) इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए किया है कि (सच्ची निष्ठा के साथ) श्रवण किये जाने पर यह आप सबों के विघ्नों को दूर करे और आपमें पनपते हुए कुत्सित 'अध्यवसायों' अर्थात् विश्वासों का नाश करे। साथ ही यह भक्तजनों को 'शुभसिद्धि' अर्थात् मनचाही भोगलक्ष्मी और मोक्षलक्ष्मी दोनों का वितरण करे।

सर्वतोमुखी कल्याण हो

व्याख्याकार श्रीक्षेमराज का उपसंहार

कश्चिच्छैवः परशिवसमावेशगाढानुरागो-
द्रेकस्फूर्जन्नभिनवदशावेशवैवश्यशाली ।
सत्स्तोत्रेऽस्मिन् विवृतिरचनांक्षेमराजो न्ययुङ्क्ते
त्येतन्नैवं झटिति घटितं दर्शनीयं हि सद्भिः ॥

सर्वोत्कृष्ट परम-शिवभाव का समावेश पाने की दिशा में गहरा अनुराग उत्पन्न हो जाने से अपने अन्दर किसी अनिर्वचनीय एवं अतिनूतन अवस्था (अपने पूजनीय गुरु अभिनवगुप्त की ही आध्यात्मिक अवस्था) के समावेश से विशिष्ट भाग्यशाली किसी शैवमतानुयायी क्षेमराज ने प्रस्तुत उच्चकोटि के स्तोत्र पर विवृति की रचना कर डाली ।

सत्-पुरुषों से यह अनुरोध किया जाता है कि वे इसको शीघ्रता में किसी घटना के वश से लिखी गई अवर-रचना न समझकर इसका सूक्ष्म अवलोकन करें ।

इति महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविराजानक
श्रीक्षेमराजप्रणीतविवृत्ति समेता श्रीसाम्बपञ्चाशिका समाप्ता ॥
समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

महान् माहेश्वर एवं वरिष्ठ आचार्य श्रीमान् अभिनवगुप्त (गुरु)के
चरणारबिन्दों पर आश्रित राजानक श्रीक्षेमराज के द्वारा रचित विवृत्ति के
समेत श्रीसाम्बपञ्चाशिका ग्रन्थ समाप्त हुआ ।

परिशिष्ट १

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, उत्पलदेव, के. एस. एस. संस्करण

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, अभिनव, के० एस० एस० संस्करण

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाभास्करी, भास्करकंठ, सम्पादित डॉ० के० सी० पाण्डेय १९३८ संस्करण।

तन्त्रालोक, अभिनव, के० एस० एस० संस्करण।

परात्रिंशिका, अभिनव, भाषानुवाद एवं सम्पादन-नीलकंठ गुरुटू, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, क्षेमराज, भाषानुवाद एवं सम्पादन स्व० डा० जयदेवसिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर।

वराहपुराण (दो भाग), संस्कृति संस्थान (वेदनगर), बरेली, उ०प्र०

शिवस्तोत्रावली, उत्पलदेव, हिन्दी व्याख्या।(राजानक लक्ष्मण) - वन्द्याभिधान श्री ईश्वरस्वरूप जी महाराज (शिवलोकवासी), चौखम्बा सं०सी० प्रकाशन।

षट्त्रिंशत्-तत्त्व-संदोह, के० एस० एस० संस्करण।

सूर्यशतक, मयूरकवि, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन।

स्तव-चिन्तामणि, भट्टनारायण के० एस० एस० संस्करण।

स्तुतिकुसुमाञ्जली, काश्मीरिक जगद्धरभट्ट, शारदा मातृका।

स्पन्दकारिका, भट्टकल्लट वृत्ति, संपादन एवं भाषानुवाद् नीलकंठ गुरुटू, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

स्वच्छन्दतन्त्र, के० एस० एस० संस्करण।

परिशिष्ट २

श्लोकानुक्रमणिका

प्रो० नीलकंठ गुरुटू

जन्म : कश्मीर

शिक्षा : सत्तरह वर्ष की अल्पायु में तत्कालीन पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर की कठिन शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रभाकर, एम०ए० (संस्कृत, हिन्दी)। प्रो० नीलकंठ गुरुटू को वर्तमान पीढ़ी के कश्मीरी भाषी संस्कृत आचार्यों की प्रथम पंक्ति में गिना जा सकता है।

शोध एवं शिक्षण : प्रथमतः शिक्षण कार्य, बाद में जम्मू-कश्मीर राज्य के शोध एवं प्रकाशन विभाग में प्रमुख-पंडित के पद पर नियुक्त होकर शोधकार्य। आगे अधिकतर समय जम्मू- कश्मीर प्रदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में संस्कृत एवं हिन्दी का शिक्षण।

गुरु-सानिध्य : विख्यात शैवाचार्य शिवलोकवासी स्वामी श्री ईश्वरस्वरूप जी (श्री लक्ष्मण जू) के चरणों में वर्षों तक काश्मीर शैवदर्शन का गहन एवं साङ्गोपाङ्ग अध्ययन। वेदान्त, सांख्य आदि भारतीय दर्शनों का भी गहन अध्ययन। सद्गुरु महाराज के ही आदेशानुसार ईश्वर-आश्रम श्रीनगर, निशात में वर्तमान शैवमठिका में नियमित रूप से चलने वाले रविवारीय सत्संगों में शैव-दर्शन के ग्रन्थों का पढ़ाना।

प्रकाशित ग्रंथ : (१) **स्पंदकारिका**, (२) **श्रीपरात्रीशिका** (संशोधन, संपादन, व्याख्यात्मक विश्लेषण एवं हिन्दी रूपांतरण), (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली), (३) **अमरेश्वर दर्शन**, तथा (४) **श्री हर्षेश्वर माहात्म्य** (संपादन एवं हिन्दी अंग्रेजी रूपांतरण)। (५) गुरुवर्य डॉ० बी०एन० पंडित द्वारा संपादित '**काश्मीर शैवदर्शन वृहत् कोश**' के उप-संपादक।

ISBN : 81-85504-27-X

PENMAN PUBLISHERS
DELHI-110007